श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम् विरचित सुबोधिनी टीका के हिंदी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वांशः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'प्रथमोद्भावः'

श्री सुबोधिनी अनुसार द्वादश अध्याय
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार पत्तदश अध्याय

कारिका – यशोदानन्दयोरेवं निरोधं समनिरोहितं।
गोपालानां निरोधोत्रं सक्रीयकाणं निरुपयते ॥ १ ॥

कारिकार्थ – इस प्रकार (तामस-प्रमाण उपकरण में) यशोदा और नन्दजी का
निरोध अच्छे प्रकार से निरूपण कर, इस (प्रमेय-प्रकरण) में स्त्रियों सहित गोपों के
निरोध का निरूपण करते हैं।

व्याख्यार्थ – तामस प्रमाण अवांतर प्रकरण में यशोदा तथा नन्दजी के निरोध का मुख्य रूप है
पूर्णतया वर्णन किया हुआ है। गोप रूप से प्रसंग आने पर गोप एवं गोपियों का भी निरोध निरूपण...
है। अब इस तामस प्रमेय प्रकरण के १२ से १८ तक के सातों अध्यायों में मुख्य रूप से गोप और उनकी स्त्रियों का निरोध वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

कारिका – मध्यमोद्यं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्ये ।
पञ्चध्रेवानुभावोऽस्मी दुष्णिग्रहस्ववान् ॥ २ ॥

कारिकार्थ – यहाँ (प्रमेय प्रकरण में) सबके जिस निरोध का वर्णन किया जाता है वह (निरोध) मध्यम निरोध है। दुष्णें का निग्रह रूप प्रभाव पौंच प्रकार का ही यहाँ निरूपण करते है।

व्याख्या – गोप शब्द से यहाँ भगवान् के मित्र समझने चाहिये और गोप की स्त्रियों शब्द से गोपियाँ समझने चाहिये। इनके जिस निरोध का यहाँ वर्णन किया गया है वह मध्यम निरोध है, क्योंकि प्रमाण उप-प्रकरण में किए हुए निरोध से यह विशेष है और इससे भी विशेष निरोध साधन उप-प्रकरण में किया जायगा। अतः इस मध्यम निरोध कहते है। इस उप-प्रकरण के (१२ से १६) ५ अध्यायों में भगवान् का दुष्ण निग्रह करने से, पौंच प्रकार का प्रभाव कहने में आया है।

पौंच अध्यायों में जिन पौंच दुष्णें का भगवान् ने निग्रह किया है, उनके यह नाम है – १-धेनुकासुर, २-काळीयनाग, ३-पहली दावानिन, ४-प्रलम्बासुर और ५-दूसरी दावानिन। ये पौंचों अविभा के पौंच पवित्र रूप हैं। जैसा जिन १-धेनुकासुर दावाध्याय का रूप है जिससे मनुष्य को यह भ्राति होती है कि देह ही मैं हूं। २-कालीय सर्प, इन्द्रियाध्याय का रूप है जिससे मनुष्य समझता है कि मैं इन्द्रिय रूप हूं। ३-प्रथम दावानिन प्राणाध्याय रूप है जिससे प्राण को ही अपना रूप माना जाता है। ४-प्रलम्बासुर – अन्तःकरणाध्याय रूप है जिससे अन्तःकरण ही मैं हूं, ऐसा निरन्ध जो होता है। ५-दूसरी दावानिन स्वरूप विस्मृति रूप है, जिससे मनुष्य अपने आत्मरूप को भूल जाता है। इस प्रकार इन पौंच दुष्णें के जात में फैंसे हुओं को छुड़ाने के लिए इन पौंचों को भगवान् ने निग्रह कर गोप गोपियों का निरोध किया है जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् का प्रभाव निरूपण हुआ है। कृष्णोपनिषद् में ‘लोभादिकों’ को दैत्य कहा गया है। तदनुसार यहाँ भी अविभा के पौंच पवित्र जिन १-धेनुकासुरादि रूप थारण किए हैं उनका नाश कर भगवान् ने अविभा को नष्ट किया है। यही भगवान् का प्रभाव है ॥ २ ॥

कारिका – आध्यात्मिकीमिविद्यां वै दूरीकर्तु तथाकृति:।
तदर्थ क्रमोऽध्ययायाः उपवेष्टां तथा द्रव्यम् ॥ ३ ॥
स्नेहाधिक्यंसिद्धां न्येनातो मध्यमः स्मृत:।
प्रथम द्वादशोऽध्याये देहाध्यायो हि धेनुक: ॥ ४ ॥
कारिकार्थ - आध्यात्मिकी अविद्या को दूर करने के लिए ही भगवान् की ऐसी कृति है इसलिए क्रम पूर्वक पाँच अध्याय कहे गए हैं। शेष दो अध्याय दोनों (गोप और उनकी लिंयों) के अधिक स्नेह की सिद्धि के लिए कहे हैं, मध्यम निरेश का फल स्नेह है। प्रथम (हादशा) अध्याय में धेनुक को देहाथ्यास कहा गया है। 3-4।

व्याख्यार्थ - अविद्या, आध्यात्मिक, आध्यात्मिक और आध्यात्मिक होने से तीन प्रकार की है। स्थूल शरीर में जिससे अथ्याय होता है वह अविद्या आध्यात्मिक है। उस आध्यात्मिक अविद्या का रूप पूर्वता थी। जिसका नाश प्रमाण उप-प्रकरण में भगवान् ने किया है जिससे स्थूल देहाथ्यास रूप अविद्या ब्रजवासियों की नष्ट हुई। अब इस प्रमेय उप-प्रकरण में भगवान् सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीराथ्यास रूप आध्यात्मिक अविद्या का नाश करेंगे। यह अविद्या तब नष्ट होगी, जब इसके देहाथ्यासादि पाँच पर्वरुप धेनुकसुरुखति पाँच दुःख (दैत्य) का नाश होगा। भगवान् ने इस प्रकरण के, एक एक अध्याय में, एक एक दैत्य का नाश किया है, इस प्रकार १२ से १६ तक के पाँच अध्यायों में पाँच का नाश कर, भगवान् ने ब्रजवासियों की आध्यात्मिक अविद्या नाश की है। १७ वें और १८ वें इन दो अध्यायों में भगवान् के मित्र गोप और उनकी लिंयों के निरेष का वर्णन है। इन दोनों का निरेश, अन्य ब्रजवासियों से पृथक निरुपण करने का कारण यह है कि इन दोनों में उन (ब्रजवासियों) से भगवान् में स्नेह निरेष था। जिस निरेष का फल स्नेह (आसक्ति) है, वह निरेष मध्यम कहा जाता है।

इस उप-प्रकरण में 'स्नेह' शब्द का तात्पर्य 'आसक्ति' से है। कारण कि तामस प्रमाण उप-प्रकरण में की हुई लीलाओं से, ब्रजवासियों का भगवान् में स्नेह हो जाने से उनके प्रमेय (भगवान्) को प्राप्ति हो गई, जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् ने साधनों की अपेक्षा न रख कर, अपने प्रमेय बल से, इनका मध्यम निरेश सिद्ध किया है।

आचार्य श्री ने 'तत्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण, के दशम स्त्रण की कारिका ५९वीं, ६०वीं में निरेश ४ प्रकार के कहें हैं।

द्वादश अध्याय में बताया है कि धेनुक दैत्य, देहाथ्यास है। ५ वें से ८ वें शताब्दों तक लीला के सम्बन्धी सर्व वस्तुओं का ज्ञान भगवान् ने ब्रजवासियों को कराया। तदनंतर १६ वें से १८ वें शताब्दों तक दस ससैन्त लीलाओं के अनुभव कराए। इस प्रकार के अनुभव में, इन लोगों का भगवान् में भाव जागृत हुआ, जिससे उनके देह आदि का विस्मरण भी हो गया। यह भाव स्वतंत्र समय के लिए नहीं जागा था, किंतु सदैव के लिए उत्पन्न हो गया था। वह कभी भी कम न हो, इसलिए भगवान् ने दश विध ससैन्त लीला रूप, धेनुक-दे थाथ्यास को पहले नष्ट किया।

* निरेश चार प्रकार का है, १-स्नेह, २-आसक्ति, ३-व्यसन और, ४-फल।

प्रमाण उप-प्रकरण में, सीधांतक निरेश का वर्णन है। अ. ५ से ११ तक प्रमेय उप-प्रकरण में, आसक्तिरूप निरेश का वर्णन है। अ. १२ से १८ तक साधन उप-प्रकरण में, व्यसन रूप निरेश का वर्णन है। अ. १९ से २५ तक और फल उप-प्रकरण में फल रूप निरेश का वर्णन है। अ. २६ से ३२ तक
जिन लोगों का आग्रह है, कि अविद्या, देहाह्त नहो, उनको श्री विद्वान श्रवण प्रभुचरण ‘दुर्जन-पितली पन्थय’ से कहते हैं कि आप धनकु की हो, अविद्याश्रय समझो। आपके मतानुसार अविद्या, देह में अहाढ़ा करके लीलक में प्रवृति और भगवत भजन में विचार डालती है, वही कार्य धनकु करता है, जैसे गोप वन में जाकर भगवद्भजन करता चाहते थे, उस समय धनकु उसमें विचार करता था अतः धनकु देहाह्त रूप है यह निरिक्षित सिद्धान्त है ॥ ३-४ ॥

कारिका - तदादेह ज्ञानपूर्वक हि फलावधिन निरुष्टये ।
कालीय इन्द्रियाण्यांहुविविषयस्तद्विः मतम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ - ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति होने तक उस (धनकु) के वध का निरूपण किया गया है। मनुष्य की इन्द्रियाः कालिय सर्प के विष के समान है ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ - जब तक ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति हुई, तब तक धनकु के वध का निरूपण होने से सिद्ध है, कि धनकु देहाह्त था। जैसे तत्त्वज्ञान से, देहाह्त का नाश होता है। यह तत्त्वज्ञान तब होता है, जब आत्मा में पूर्ण प्रेरणा उत्पन्न हो। वैसे ही गोपों की भगवान की लीलास का अनुभव होने से, उस समय वे विशेष पन समझू करते हुए इच्छा हुई, जिससे उन्होंने धनकु के वन में, भगवान् को भक्ति करने के लिए वहाँ जाने की, भगवान् को प्रार्थना की। वहाँ जाकर विशेष सस का अनुभव किया, जिससे तत्त्वज्ञान की तरह, उसी भी गोपों का देहाह्त नष्ट हो गया अर्थात् धनकु का नाश हुआ।

ये सर्व वृहादि पदार्थ लोला सम्बन्धी है और लोला दश रसों वाली है, इसका अनुभव और इस प्रकार का ज्ञान, गोपों को हुआ तदनं धनकु का (देहाह्त का) नाश हुआ।

धनकु (देहाह्त) के नाश से, जो उत्तम फल प्राप्त होता है, वह गोपों को भी प्राप्त हुआ। जैसे कि धनकु के मरने पर, वे निर्भय हुए और निर्भर होकर, वन के फल खाने लगे। देहाह्त नष्ट होते ही, विष तुलक यमुना जल पान करने से, प्राण त्याग किया तब भगवान् ने अपनी अमृतमयी दृष्टि की वर्षा से उनको जीवन दान देकर अलीकिर देह की प्राप्ति कर दी ॥ ५ ॥

कारिका - तत्त: सविविनाशः स्वादिष्टयन्ते मरणाभिधा।
तत्त्वेज्ज्ञेज्जितत: सर्वं पुण्डर्यावनरस्थिति। ॥ ६ ॥

कारिकार्थ - उससे (विष से) सर्व का नाश होता है इसलिए अन्त में मरण कहा है। मरणनति, जीने पर दूसरे देह की प्राप्ति समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ - जैसे सर्प के विष से, मरण होता है वैसे ही विषय विष से, जीर्ण शीर्ष इन्द्रियों से मृत्यु होती है। अतः इन्द्रियाः कालीय सर्प के समान है और विषय विष जैसे है।
आध्यात्मिक अविद्या को नाश करने के लिए, धेरुवाले की भगवान के प्रथम निम्न किया है। लिंग शरीर में, जो आध्यात्मिक होता है, वह आध्यात्मिक अविद्या से होता है। अन्य तरीके अविद्या नहीं होगी तब तक प्राकृत लिंग शरीर का भी नाश न होगा। भगवान को इसके प्राकृत लिंग शरीर का नाश करता है, अतः ये नाश के विषय में युक्त यमुनाजी का जल पीत है, जिससे मृतु को प्राप्त होता है। उनका प्राकृत लिंग शरीर नहीं हो जाता है। भगवान अपनी अमृतमयी दृष्टि वृद्धि से उनके अलौकिक देह का दान करते हैं। वह अलौकिक देह, लोकोपयोगी होती है। यह देह प्रारम्भ किम से उत्पत नहीं हुई है, कारण कि, लिंग शरीर के नाश से उनके प्रारम्भ किम भी नहीं हो गए थे।

लीला के उपयोगी भक्तिओं का जीवन, अलौकिक ही होता है। जैसे लीला में स्थित वृक्षादिदों का अलौकिक स्वरूप, भगवान ने बलदेवजी को दिखाया वैसे ही गोपों का स्वरूप भी, अपनी कृति से दिखाने के लिए, प्रथम उनमें लौकिक भाव की स्थापना की थी। उनका देहात्मास नाश कर, उनके अलौकिक देह का दान किया। वास्तव में तो, लीला के जीवों में, प्राकृतता कभी भी नहीं होती है। उनमें सदैव भगवदभाव ही बना रहता है।

कार्यावधाय व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

कार्याओं द्वारा प्रभुत्वाध्याय का अर्थ समझाकर अब लोकार्थ प्राप्त बनते हैं।

आध्यात्म तत्र प्रारम्भ ज्ञान निरुपयान् भगवान् देशशुद्धि वनप्रवेशण वनक्रीडायां मनस्कृतवात्याय त्रिभु: ततश्रेष्ठ, वन एव ज्ञान सातिकल्वातं तत्रोख्यो न भवतीति तत्र क्रीडायां मनौ निरुपणीयं प्रवेशरच्यामामृतक्रमात्मो, तत्र प्रारम्भ भगवदो मध्यमलीलायां वृद्धांवनस्य दैत्यभूतित्वाचुद्धिनाम तत इति,

आध्यात्मसारार्थ:- ज्ञान का निरूपण करते हुए, प्रथम भगवान ने (१) देश की शुद्धि (२) वन में प्रवेश और (३) वन में क्रीडा करने का मन किया। इसका वर्णन क्रम पूर्वक तीन श्लोकों से करते हैं, ज्ञान सातिक होने से, सातिक स्थान पर ही उत्पत्ति होता है। वन सातिक है अत: वहाँ की ज्ञान होगा वहाँ उद्घि भी न होगा, इसलिए वहाँ भूत्र प्रकार से प्रवेश और क्रीडा करने का मन किया।

इस सूत्र अर्थकुटिल में, मध्यम लीला के प्रारम्भ में, देशशुद्धि की अवश्यकता है कारण कि, वृद्धावन में देशों का बाहुल्य है, अत: प्रथम श्लोक में देश की शुद्धि का वर्णन है।

* ११ वें अध्याय में भी वन लीला कही है। वह गाँव के सम्बन्ध वाली होने से, वैसे नहीं थी जैसी यह है। अतः वहाँ पृथक् प्रकार से प्रवेश किया। 'लेख'।

† धेरुके का विष ज्ञान पूर्वक करता है, इसलिए ज्ञान का निरूपण आवश्यक नहीं है। किन्तु वहाँ ज्ञान प्रवेश आदि का वर्णन प्रथम इसलिए किया है कि ज्ञान सातिक स्थान में उद्घि होता है। वन सातिक स्थान है वहाँ ज्ञान का वर्णन उद्घि बिना होगा। 'प्रकाश'
श्लोक: — तत्स्थ पौगण्डवः। श्रीत्रो ब्रजे बहुवत्तुस्तौ पशुपालसम्मतौ।

गाश्चार्यती सखिभि: समं पदेव्र्यन्तरं पुण्यमतिवेचः चक्रतुः। ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि — फिर पौगण्ड आयू को प्राप्त हुए, वे दोनों भ्राता, ब्रज में पशुपालों के मान्य हुए। सखाओं के साथ गौओं को चराते हुए अपने सर्वाधिक विशेष पवित्र करते थे।

सुभोधिनी — पौगण्ड वधः। पशुवर्णमात्रेष्यं नववर्णपर्यंत। पुरुषपर्व्यस्तो साधककालाभिमानिन्यो देवता भगवतं सेवितमुग्नत:। पौगण्डस्वायत्नेच्छते, दोपाभावः। प्रथम निरुपणीय इति पत्रात्मकः। कालः पूर्वे निरुपितः।

तत्त्वदनत्तरं पौगण्डमेव चवस्तराहणमिव श्रीत्रो ब्रजे पशुपालानां सम्मतौ बहुवतुः। पशुनां पालने वा योगी, तौ समकृृणां साधारणं चतुरमुख्योपदेशान्तो गाश्चार्यती सखिभि: संकर्षणं नरममार्गवैलक्षण्यथा धर्मः। सैं द्वारा कायितेन्यथा संकर्षणं गता यदि विशिष्टता भवेयुस्तता।

बैकुण्ठे नवनल्कणमात्रसम्मर्यं नौपेवेन, सखिभि: समं, समं वा वृद्धावनसतीव सुरव्यं चक्रतुः। समतवाद यमभूमिरथ, इदं तौ पूर्णमुर्ज्ञ जाता, पदे: पादवातः।

पदोः: पूर्णदिनां स्त्रीतीं पूर्वं गविबोचयं, पूर्वं हृद्यिकपालालक्षिनसत्यं कामातुरुपलंडु च। इदमपि निःस्वाध्यानते स्वयंबुवध भगवानप्रतिज्ञतं स्वप्नं लीलाविष्टं सतं स्वतं। फलरूपं, अवभेदविष्णुस्य ज्ञेयं। कामाभावं पर्यं भगवतप्रदेक्षः। ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — छहो वर्ष पर्यन्त की आयु, ‘पौगण्ड’ कही जाती है। ‘पौगण्ड’ शब्द का भावार्थ यह है कि उस आयु में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुरअवध धर्मों को सिद्ध करने वाली, कालाभिमानी देवता इस काल में भगवान की सेवा करने के लिये आये हैं। प्रथम भगवान में दोषों का अभाव है, इसका निरूपण करना चाहिए। इसलिए प्रमाण उप-प्रकरण में पौंच वर्ष भगवान की...

* श्री विद्वतस्वर प्राप्तवर्ण, ‘पिथोण’ में इसका स्पष्ट विवेचन करते हुए कहते हैं कि, प्रभु में दोष लेकिन भी नहीं है, क्योंकि जैसे प्राणियों के देख में, देख, इंद्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव ये पृथक पृथक होते हैं, वैसे ही भगवान में भी प्रतीत होते हैं जिससे प्रृथक्कारण तथा भगवान् भी दोष वाले हैं। इन पाँचों के अभाव सिद्ध हो जाय तो दोषशील हो, अन्यथा दोष सिद्ध है ही। इस रूपों के उत्तर में कहते हैं कि - भगवान में देख आदि, पाँचों का अभाव ‘प्रमाण’ उप-प्रकरण में सिद्ध हो गया है। भगवान में जैसे इन दोषों का अभाव सिद्ध है, वैसे ही भगवान् के भक्तों में ये दोष नहीं है। यदि भक्तों में दोष होते, तो भगवान् उनको अपना संका न बनाते। वह संक्षापन लीला द्वारा, वहाँ कहा गया है, और जैसा श्रीकृष्ण का प्राक्रति उत्तम मनाया गया हो, वैसा ही” जीव का नहीं मनाया जाता है। इसके सिवाय पूर्वां
आयु के काल का चर्चन पहले ही किया गया है। इसके अन्तर्गत दोनों भ्राताओं ने चर्चा के संदर्भ पौंडलेश्वर धारण की और पुष्पालों के मान्य हुए अभिव्यक्तियों (गोपों) के पालन करने के बारे में हो गए। यह (गौरि चर्चा) चरित्र साधारण चरित्र होने के कारण दोनों का चरित्र साध में वर्णन किया है। सत्य पर्यावरण आए हुए गोपालक सहखी वे साथ गौरि को जोच करने लगे। इन गोपालकों से उनका गौरि धर्म करने लगे, यदि वे उस धर्म का पालन न करें तो उनके चितों में विक्षेप पैदा हो जाए, जिससे वैकृत्य में ले जानें के तकनीक प्राप्ति उनका सिद्ध नहीं हो सकता। इससे ये दोनों, सहखी ने गौरि को चतुर आए अपने पदवींदों से व्याख्यान को पुनः रूप करने लगे। पहले यह व्याख्यान भूमि सम होने से, केवल यह भूमि थी। अब पुनः स्थान रूप चर्चा-दर्शनों के स्पर्श से, पुनः रूप भी हो गई। इस लोक और परलोक के धर्म के साधन और कामना के अनुरूप का नाश और मुक्ति दान का कार्य जीव नहीं कर सकता है। अतः श्रीकृष्ण भगवान् है, जीव नहीं है। अपनी बुद्धि करते वाले के लिए ब्रह्माण्ड को दुःख गुर्णाथ के हेतु वाला कुष्ठायुक्त अन्तर्क्रय, भगवान् के सिद्धान्त दृश्य के नहीं हो सकता है। जो है भी कुष्ठा आदि श्रेष्ठा देखने में सही है, जो है स्वास्थ्य का उल्लम्बन नहीं होता है। यहॉं तो स्वास्थ्य का उल्लम्बन करते हुए भी कुष्ठा की गई है। पृथ्वी के विशे युक्त सत्य समय होने पर प्राणों की रक्षा हो नहीं सकती थी किंतु यहाँ उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। अतः भगवान् में न अन्तर्क्रय दोष है और न प्राण दोष है। इसलिए ही भगवान् को दुर्घट वैर बहुत जाता है अर्थात् जिसकी बीमारी शक्ति कभी कम न हो। प्राण स्वास्थ्य माता के स्तन की इच्छा वाले छोटे बालकपनी की दशा में पृथ्वी के स्तन भाजती थी। पृथ्वी के मुख में प्रवेश किया आदि कार्य, अवस्था विनाश करने पर भी, कुछ (पृथ्वी आदि) न हुआ जिससे आप में प्राणों का अभाव सिद्ध है। अपने मुखार्थिन्द्र में विशेष के दर्शन से और उत्तर से बचने से रक्त का छोटा होना दिखाया है कि आप में देह इन्द्रियादि नहीं हैं। वह तथा पृथ्वीं तीन। इसीसे श्रवण प्रक्षण धर्म वाले भगवान् में देह इन्द्रियादि हो नहीं सकते हैं। यह भी विचार करना चाहिए कि एक ही देह में तपस्या एवं गुरुस्वयम एक ही काल में नहीं होता है जिससे रज्जु में अन्य रज्जु मिलने पर भी कम ही कम होती गई। । इससे भगवान् में देहार्दिकों के अभाव से, उनका अध्याय भी नहीं था। और उपरोक्त कहे हुए गुरु में से आप (भगवान्) का निदर्श पूर्ण विश्लेषण रूप से सिद्ध हो गई है।

---

1- ज्योति । 2-आयु । 3-गोपों । 4-भव्य।
फल देनेवाले साधन को, ‘पुण्य’ कहा जाता है। यह वृद्धावन भी, पुण्य रूप होने से, निःसाधनों का स्वयं ही भगवान् की प्राप्ति का साधन हो गया है। इतना ही नहीं, किन्तु लीला विशिष्ट होने से, स्वतः फलरूप है। यही वृद्धावन में विशेषता समझनी चाहिए और जिसको इच्छा न हो, तो भी उसको भगवान् प्राप्ति कराता है अतः यह वृद्धावन पुण्यों से भी विशेष उत्तम है।

आभास – ततो भगवान् विशेषाकारण वृद्धावनप्रवेशं कृतवानित्याह तन्माधवद इति।

आभासार्थ – तदन्तर भगवान् के वृद्धावन में विशेष प्रकार से प्रवेश का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: – तनमाधवो विषुमदिरीवनु वृतो गोपपुर्णाद्विः स्वयशे बलानित्रत:।
पश्चात् पुरस्त्रूत्य पश्चात्ववमाभिषाद विहरतुकामः कुसुमाकरं वनम्।॥ २॥

श्लोकार्थ – आपके यश का गान करते हुए ग्वालबालों से वेषित, बंसी बजाते हुए भगवान् गौओं को आगे कर, विहार करने की इच्छा से, पशुओं के हितकारी पुष्पों से समृद्ध वन में बलरामजी के साथ पधारे।॥ २॥

तो विष पान के व्याय २ से, मृतु करकर स्वाभाविक धर्मों का नाश तथा अलौकिक देह की प्राप्ति की लीला भगवान् ने न की होती। इस प्रकार से सक्षम का फल प्राप्त हो, तब तक भगवान् उनसे गोष्ट्या का कार्य करते हैं। सक्षम फल प्राप्त होने पर, प्रभु कर्तव्य करना ही उनका स्वधर्म है। यदि वे उनको न करें और स्वाभाविक धर्मों से चित्र इत्यादि उधर भतकने लग जाएं तो गोप भगवान् के महानवम ग्रहण में असमर्थ हो जाएं और मन में भगवान् के तीर्थ के देखने की उक्तियों भी पैदा न हों। तो उसके दर्शन भी न हो। कारण कि समर्पण करने पर भी, यदि भगवान् उसको स्वीकार न करें तो समर्पण सिद्ध नहीं होता। जब भगवान् अपनाते हुए अशुद्धी करते हैं तब सिद्ध होती है। यहाँ भगवान् उनके लिए अपने गृह को प्रकट करते हैं, उनमें अपनापन मानते हैं ऐसा जाना जाता है। उनके लिए बैकुण्ठ प्रकट जाता ही आत्म-समर्पण रूप है। यह साधन रूप होने से, साधन उप-प्रकरण में इसका निरूपण है। फल रूप का तो फल उप-प्रकरण में निरूपण होगा। साधन रूप नी प्रकार की भक्ति के अनन्तर फल रूप नवविवर्ध भक्ति का भी निरूपण होगा।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवात्र प्रकरण - अध्याय १

पुस्कृतं तामसी श्रीसुबोधिनी कृज्याश्चतया शुद्धान् करु वनमालिकतः, स्थानम्पि पश्चाय पशुंत हिंता, भविताः पुरूप तथाकृतत्वम्, विहरुकाम इति, तत्र विहरेच्छया प्रविष्टः, विहरे हि क्रिया पूर्ण भवति, रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उदेकमहुः कुमुपाषवामिति, कुमुपान्त रजोविकाशायमार्गः स्थानाभूतं, वनमिति, वनलीलाः सालिकीयोः सत्त्वप्राधान्ये रजोलीलाः।

व्याख्यार्थ - भगवान् के वन में प्रवेश का वर्णन, पहले श्लोक में सामान्य रीति से किया था, अब इस श्लोक में विशेष प्रकार से है। लक्ष्मी पति भगवान् ने लक्ष्मीं के साथ क्रोधा करने के लिए वेणु बजाते हुए वन में प्रवेश किया। वेणु के बजाने का कारण यह है, कि इस क्रोधा में शब्दः ब्रह्म (वेद) की भी सम्पति है। वेणु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्वरूप (मोक्ष) के आनन्द और विषयोऽः (स्वर्ग) के आनन्द वेणु के नाद के आनन्द के आगे तुच्च है। वेणु शब्द में व + ई + अणु तौ शब्द मिले हैं व' का अर्थ 'स्वरूपान्त (मोक्ष)' है, 'ि' का अर्थ 'विषयान्त (स्वर्ग का आनन्द)' है ये दोनों 'अणु' तुच्छ हैं। आत्: वेणु से ये तुच्छ होने के कारण बंशी को ध्यान से दोनों सुखों को विस्मृति हो जाती है, जिससे बंशी ध्यान सुनते ही मुक्त और स्वर्गस्थ (विषयान्त) जीव इस आनन्द के स्वाद लेने के लिए दौड़ते हुए आते हैं। आध्यात्मिक भक्त और आध्यात्मिक भक्त वेणुनाद के श्रवण से उद्भुद्ध हो जाते हैं। इससे वेणु बजाते ही भगवान् आध्यात्मिक गोपों शेष हो जाते हैं। ये गोप आध्यात्मिक होने से, निस्तर भगवान् के यश का गान करते रहते थे। सामथियाः (विषयोऽः को दूर करने) के लिए बलदेवजी को साथ लिया था। कारण कि बलदेवजी बलात्मक है। क्रिया** में पशुओं के उपयोग का आवश्यकता होने से पशुओं को अगाड़ी कर प्रथम उन (पशुओं) को क्रिया शक्ति से (वन में प्रवेश करने से वा करने से) शुद्ध करने के लिए वन में प्रवेश किया। यह

** क्रिया से-गोमचरण लीला समझनी।

---

1-बंशी, 2-विकसित वा जागृत, 3-बलवान
स्थान (बन) पशुओं का हिलकारी** है। इसे भगवान् ने पहले ही ऐसा बना दिया था। विहार की इच्छा से प्रवेश किया। विहार करते से क्रिया पूर्ण होती है और रजोगुण से ही विहार होता है। इस स्थान में रजोगुण की विशेषता है, क्योंकि यह वन रजोगुण का विकास करने वाले पुष्पों का स्थान है। वन की लीला सत्संगुण प्रधान रजोगुण वाली है॥ २॥

आभास — पश्चाद भगवास्त्र स्थिताभि: सर्वभिरेव देवताभिरलोकिकोभि: सह रत्नु मन: कृतवानित्याह तद्दिति,

आभासार्थ — प्रवेश के पश्चात भगवान् ने भवहृद और गोर्धन के चिदन्दस वाली अलौकिक देवताओं (ब्रज की सुंदर उतम खियों) से रमण करने का मन (इच्छा) किया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — तन्मुखोषालिमुगन्धिजाकुलं महमनःप्रक्ष्यपयःसस्वता।
वातेन जुष्ठ शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रत्नु भगवानु मनो दधे॥ ३॥

श्लोकार्थ — सुंदर मधुर शब्द करते हुए, भ्रमर, मृग तथा पक्षियों से व्याप्त और पहलु पुष्पों के समान स्वच्छ जल से भरे सरोवरों में से आती हुई कमलों की सुगमति से युक्त पवन को देखकर भगवान् ने क्रीड़ा करने के लिए मन किया॥ ३॥

*** वृद्धिक न के तृणादिदोष रहित है यह आगे कहा जायगा। अतः उनके सम्बन्ध से गौ भी शुद्ध होगी, इसलिए वन को पशुओं का हिलकारी कहा है।

२ श्री विद्याधर प्रभुस्वर टिप्पणी में कहते हैं कि—जैसे लोकिक में रस बढ़ने वाली रीति रस शाख में वर्णन की गई है, वैसे ही आलोकिक में भी वही प्रकार रस बढ़ने का है। इसलिए यह रजोगुण शब्द से केवल बढ़ने वाली सामग्री कही है।

‘प्रकाशकार’ इसका विशेष स्पष्ट कर रजोगुण कहने से उत्पत्त शब्द का निर्वाचन करते हैं। यह रजोगुण भगवद्गीता रूप है अतः इससे उत्पन्न ११ वृत्तियाँ भी लोकिक नहीं किन्तु अलौकिक हैं। जैसे भगवान् अलौकिक रस रूप है, वैसे उनके धर्म भी अलौकिक रस रूप होने से यहाँ रजोगुण से उत्पत्त सर्व सामग्री भगवद्गीता रूप है।

**-शुद्ध
व्याख्यार्थः — भ्रमर, पुष्प तथा पशुक्षयों के मधुर ध्वनि से भरपूर वन को देखकर भवानाथ ने रमण करने के लिए मन किया जिसे भूमि पर तीन प्रकार के मधुर शब्द होते हों, वह भूमि दोष रहित अर्थात् शुद्ध है। वन में तुः, पुष्प और मधु ये तीन वस्तुर्भ स्थित होती है। तुः पशुक्षयों के सम्बन्धी दोष रहित है तो वे तुः पशुक्षयों जीवन होता है। शुद्ध तुः पशुक्षयों के भक्षण करने से उनका शब्द मधुर ही रहा है। भरसीयों की ध्वनि स्वतः सिद्ध मधुर होती है, पुण्य: उसकी मधुरता कहने का कोई अर्थ नहीं था। इस शंका निवारण के लिए कहते हैं कि उनकी मधुर ध्वनि कहने का तर्क यह है कि यह मधुरता लोक प्रसिद्ध मधुरता से विशेष भिन्न प्रकार की है। कारण कि यह ध्वनि इसकी तब निकली जब इसको भगवान के बंशी (भक्तिप्रेम रूप) के नाद के अनुभव से आनन्द उत्पन्न हुआ। उस आनन्द से उत्पन्न यह मधुर ध्वनि अलोचक हस्यमयी थी, इसलिए इसका वहां आवश्यक तथा सार्थक ही है, और मधुर ध्वनि भ्रमर तथा पशुक्षयों की होती है किन्तु भूमियों की नहीं होती है। यहाँ भूमियों की मधुर ध्वनि कहीं हैं इससे यह स्पष्ट एवं निश्चित सिद्ध होता है कि वह मधुर ध्वनि सामान्य लोकिक नहीं थी किन्तु बंशी के नाद श्रवण से उत्तरण आनन्द के कारण हुई है, नहीं तो ‘पुष्प’ शब्द नहीं होते। पशुक्षयों की ध्वनि से रस जागृत नहीं होता है, तो उनकी मधुर ध्वनि (रस जागृत करने वाली) कहना अयोग्य हो जाता। जहाँ हम रहते हैं वहाँ

† पुष्प भक्ति भूम, पुष्प रस पान करने वाले भ्रमर, फल भक्ति पशुक्षयों।
ही हमारे प्यारे भी रहते हैं इसको बताने के लिए भी उनकी मधुर ध्वनि थी, ऐसा भी समझना चाहिए।

वन केवल निर्दंप नहीं था, किन्तु गुणों से भी पूर्ण था। इसको सिद्ध करने के लिए रोक में दृष्टांत देखकर समझाया है कि जैसे महान पुरुषों का मन उदार निर्दंप एवं गुणवान है वैसे ही जल निर्दंप गुणवान (उदार, परोपकारी) होता है। उस जलवाले सरोवर से होकर आने वाले वायु से युक्त वन है।

अत: गुणों से भी पूर्ण है। अरण्य में जो पशु रहते हैं उनका देवता अन्तरित हैं। उनमें वायु गृह और अरण्य दोनों की अधिपति देखता है। जहाँ (वायु) जब सर्वथा दोष रहता और गुणवान हो तब ही लीला सिद्ध हो सकती है, क्योंकि लीला करते समय जो श्रम होता है, उसको वायु मिलती है। इसलिए वायु की अपेक्षा होती है यह लोक सिद्ध है। निर्दंप वृद्धावन में जो प्रवेश करता है उसके भी सामान्य रीति से सर्व दोष निर्वृत्त हो जाते हैं। अत: वायु के भी आगमनक दोष आदि रहे नहीं, किन्तु शीतलता, धीमापन और सुगन्ध गुण ही रह गए। इस कारण से वायु आभादैविक है। महापुरुषों का मन निर्दंप और पूर्ण गुणों वाला होता है। अत: वह मन दूसरों की निर्दंपता तथा पूर्णगुणता दिखाने में उदाहरण दिया जाता है। इसलिए महापुरुषों के मन की सर्वत्र ख्याति होती है। किन्तु वृद्धावन में जो सर है वह महापुरुषों के मन के समान होते हुए भी उससे विशेष ख्याति वाला है क्योंकि भगवानलीला के उपयोग में आता है।

इस प्रकार के जलवाले सरोवर लयों और विशेषतः से रहते होने के कारण शान्त तथा भरपूर था। इससे शीतलता एवं धीमापन बताया। सतपुरुष न कहकर, महत्पुरुष कहा इसका भावार्थ यह है कि सरोवर में भी महानता है, जिससे इस लीला मधुपत्ति भक्तों से अतिरिक्त को, इसकी जानकारी नहीं है। वायु में दोनों प्रकार के (दिन में विकसित और रात्रि में विकसित) कमलों तथा अन्य पुष्पों की सुगन्ध थी। ऐसे वायु से सेवित वह वन था। सम्प्रभु अपनी समानता चालाने में होता है। वृद्धावन में भ्रमणकर्मों के तीन गुण हां और वायु के तीन गुण थे, जिससे वृद्धावन ठहरी गुणवाला हुआ तब भगवान के ठहरने वाले सम्प्रभु के साथ वहाँ सम्प्रभु के लिए प्रवृत्त हुआ। ३।

आभासं— कदाचित् प्राकृततर्थं भगवान् करोतीति कस्यचित् च्छद्वा स्याऽतृत पत्यारार्थं
वृद्धावनं भ्रमणां मृगपक्षणां भूमिशं स्वरूपं वक्तव्यं, वमन हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि
यदि दुष्क भवेयु: स्वरूपपोषणं वदापि वचन त्वाज्ञातिः को गुणाश्रो वक्तव्यः, तानं
भगवानेऽव जानािति बुध्यते च बलभद्र एव, अतों ये प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं
चलभद्रं बोधयति स तत्र तत्रेति,

१-ददात, परोपकारी। २-वम, जंगल। ३-आकाश। ४-प्रशंसायत।
५-सूखना। ६-तरंगदिदिः से होने वाली हलचल।
आभासार्थ — कदाचित् किसी के मन में ऐसी शांका का प्रादुर्भाव हो जावे कि भगवान् अप्राकृत
होकर भी प्राकृत पदार्थों से विदर्श करते हैं ? इस शांका के मिटाने के लिए निम्न श्लोक में वृक्ष, भ्रमर,
मृग, पक्षी और भूमि के स्वरूप बताते हैं। जिस भूमि पर वृक्षादि होते हैं उसको बन कहते हैं, और
उस बन में रहने वाले यदि स्वरूप से दोषवाले हों तो उस बन का त्याग करता उचित है, इसलिए उनके
दोषों का अभाव और गुणों का वर्णन करता चाहिए। उनके निर्देशित और गुणों को भगवान् ही जानते
है और केवल बलरामजी को जताते हैं। क्योंकि भगवान् ही अपने स्वरूप को जानते हैं, वृद्धावन
भागवतस्वरूप होने से उसके और वहाँ रहने वालों के स्वरूप को आप जानकर ही उनसे प्रेम करते हैं,
न कि प्राकृत पदार्थों से प्रेम करते हैं। यह भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष लीला करते उसमें कोई विचार आते
तो बलभद्रजी उसका निवारण कर दें। इसलिए बलभद्रजी को भी उसका स्वरूप बता देते हैं।

श्लोक — स तत्र तत्रारणपदपरिवर्तिणा फलप्रस्तूनोस्मरे यो एतो ।
स्पृशतिचिन्हानो वीक्ष्य वनस्पतिनौ मुदा स्मृतिनिदेवाहाग्रजजातिदृष्टु। || ४ ||

श्लोकार्थ — वहाँ वहाँ अरुणः पतल्परं की शोभा वाले, फल-फूल के विशेष भार से जिन वृक्षों
की शाखाएँ अपने अग्रः भाग से चरण स्पर्श कर रही हैं, उनको देख कर आनंद से मानो मुखस्वरूप
हुए भगवान् ने अपने बड़े भाई बलरामजी के कहा || ४ ||

सुभोधिनी — यदि वनस्पथा न नवभाव प्रकट्यंत्युक्तृः
वा नितिवसुपद्धा भगवानीया स्वरूप हो वदेद् किंतु तेजः तथा नाधा इत्यादिः, स तत्र तत्र सर्वत्र वनस्पथं
पदपरिवर्तिणा विनिष्ठायोपस्थितानु मनोकामिनीयो फलप्रस्तूत्यो रुपमाणे स्वप्नायः।
स्पृशतिचिन्हानो वनस्पतियो वीक्ष्ये च, पतलवा अहः-
लिङ्गायाः, तेन हस्तस्य नमकार: सूचये, फलानी
युपाण्य च निवेदयाति सादाकाच नमस्कार: पादायः।
शिक्षास्त्रीयो यथासम्भवं सूचितः, तातुहतातु हृदन्ता भगवती।

व्याख्यार्थ — यदि वन में स्थित वृक्ष आदि अपने भाव (आधीनविक स्वरूप) को प्रकट न करें
और अग्नि भार कर रहे होते हो भगवान् उनका स्वरूप बलरामजी को प्रकट कर न बताते, किन्तु
वह अपनी नम्नता प्रकट करने लगे। कैसे नम्नता प्रकट कर दिखाई उसका वर्णन करते हैं कि पतल्वरूप
अंगुलियों द्वारा हस्तों से भगवान् को नमस्कार करते हैं। फल- फूलों भार से नम्न शाखाओं के

1-प्रेम, क्रीड़ा । 2-लाल । 3-आगे के।
अग्रे भगवान के चरणों को छूते हुए नमस्कार करते हैं, तथा फल और फूल भगवान को अर्पण कर अपना भाव प्रकट करते लगे कि हम प्राकृत नहीं हैं किंतु अप्राकृत हैं। इस प्रकार की नमस्कार से उद्देश्य (निरोध को प्राप्त हुए) वृक्षों को देखकर भगवान को आनन्द हुआ तब भगवान के मुख पर मुख्यराशि छा गई जिससे निरचय हुआ कि भगवान प्रसन हुए हैं। बलदेवजी को वृक्षादिकों के इस स्वरूप का ज्ञान नहीं था अतः उनको वृक्षों की यह क्रिया देखकर आश्चर्य हुआ। बलदेवजी देव के स्वरूप हैं, उनको भी इनके स्वरूप का ज्ञान न हुआ तो दूसरों को न हो तो क्या आश्चर्य है? इसलिए उन बलभद्रजी को जो आवेशी है, आश्चर्य युक्त देखकर, भगवानु ने सोचा कि इन (बलभद्रजी) को ज्ञान कराना चाहिये, यदि नहीं कर्भु गया। तो बलदेवजी देवताओं का चिन्तन नहीं करेंगे तो वृक्षों में देवताओं का आवेश न होगा। (जैसे बलरामजी में भगवानु का आवेश है वैसे ही वृक्षों में देवताओं का आवेश है)।

(भगवानु को वृक्षों की इस क्रिया से आश्चर्य नहीं हुआ इसलिए मानो मन्द मन्द हैं। से हुए बलरामजी को इनका स्वरूप कहने लगे।)

5वें से 8वें श्लोकों तक वृक्षादि बलरामजी का ही आदर करते हैं, भगवानु का नहीं। इसका कारण यह है कि बलरामजी बड़े भाई हैं अतः बड़े भाई का आदर करना योग्य ही है।

जब बलरामजी बड़े हैं तो छोटे भाई ने बड़े भाई को वृक्षादिकों के स्वरूप का ज्ञान कराया यह योग्य नहीं था। इस शब्द के निर्देश के लिए श्लोक में श्रीकृष्ण को ‘आदि पुरुष’ अर्थात् पुरुषोत्तम विशेषण देकर बताया कि श्रीकृष्ण सब के आदित्व है, अतः ‘आदि पुरुष’ होने से सब का उपदेश कर सकते हैं। ॥ ४ ॥

आभास – प्रथम वनसपतीनां वैण्णवत्वात् स्वरूपमाहातो इति,
आभासार्थ – वनसपति (वृक्ष) वैण्णव हैं अतः प्रथम उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक: —अहो अम्म देववरामराचितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्घणम्।
नमन्त्युपादाय शिखराभिरत्रात्मनस्तमोहत्य तरजन्म यत्रृत्तम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – श्री भगवानु ने कहा कि – अहो! हे उत्तमदेव! जिस (तम) से इनको वृक्ष जन्म मिला है उसके नाश होने के लिए, अपनी शिखाओं से फल, फल रूप पूजन के पदार्थ लेकर, देवपूज्य आपके चरणारविन्द में प्रणाम करते हैं। ॥ ५ ॥

१–आर्य के।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय १

सुभोधिनी - यहो इति आश्रये तेषाम्वातरंदनां स्मृताध्यात्मकां हेवेवर ! अमी वृष कभी अपराधित ते पादाम्बुजं शिखाराधिने नीतिसम्बन्धे, प्रवर्तने तेनां चेतनां सूचिताधिकारकं च, यथायोगे देयसाधारण भवानु देववरे, तत्सम्बाधे देवानं देवबन्धुं नुवामिल्त-श्रीः साधारणाशिक्षा अप्पति, अमर ये मुख्याध्यात्मिकांते, स हि सन्धर्षणे देवकार्यसाधकोंतो भौगोलिकार्थ आर्थिकोंतो यथा तेषा खेदा दूरिकरोजङ्गे वनस्पतीनामार्थ तमो दूरिकरोजङ्गे, दूरिकरोजङ्गे प्रकरणे, अतो नमस्ते, तमोपह्या इति, येन तमसा तत्क्रियाम वृक्षं, सजात्येश्वरे सजात्येश्वरा भावानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि भवानन्धिप्रकरणाणि

व्याख्याः - “अहो” शब्द से भगवान् आश्रय से जाते रहे हैं कि ये वृक्ष भगवान्, बलराम और गोपनी के स्वरूपों में जो अवातर भेद है उसको जानते हैं। अतः हे देवी मे श्रेष्ठ! ये वृक्ष देव पूज्य आपके चरणकल को अपनी शाखाओं को अभ भाग से प्राप्त करते हैं। ‘ये वृक्ष’ कहने का तात्त्विक है कि उस समय भगवान् बलराम को वृक्षों को दिखाते हुए कहते हैं कि देखे ये वृक्ष जड़ (प्राकृत) नहीं है किंतु अप्रत्यक्त (आध्यात्मिक) हैं, इस कारण से ये देव हैं किंतु आप उत्तर देव हो। आप की इसीलिए केवल नहीं पूजते हैं कि आप देव तर हो किंतु ये जानते हैं कि आपके चरणकल उत्तरदेव भी पूजते हैं क्योंकि आप सन्दर्भण हो, देवों के आर्य सिद्ध करते हो इसलिए देवताओं ने पृथ्वी के भार उठाने के लिए आपको प्रार्थना की थी। इससे जैसे देवताओं के खेत को मिटाते हैं वैसे वृक्षों के तम को भी मिटाना चाहिए। आपकी प्रत्यक्ष दु:खों को दूर करने की ही है। वृक्ष, जो आपको नमन करते हैं उसका कारण यह है कि उनका जन्म ‘तम’ (तमोमुख) से हुआ है उस तम को आप ही मिटाने वाले हों। क्योंकि सजातीय से ही सजातीय का संग्राम करता है (जैसे विष ही विष को नाश करता है) वृक्षों में तमोमुख है आप आध्यात्मिक तम के नियामक हो। भगवान् ने वृक्ष मुखे (मेरे लिये) प्रणाम करते हैं ऐसा कहा उसका कारण यह है कि आध्यात्मिक तमोमुख के नियामक सन्धर्षण (बलराम) है। मूलभूत (देव के प्राप्त का कारण) तमोमुख, तम, सेवा वा ज्ञान से नहीं मिटता है किंतु तम के देवता से मिटता है। उसके (तम के) देव आप हो, इस भयानी को
रक्षा के लिये ही ये वृक्ष, वृक्ष रूप से नमस्कार करते हैं कि आप दया करो। शेष अन्य कार्य भगवान् ही करेंगे। उसके लिये (सस का अनुभव करने के लिये) तो भगवान् ने यह लोला की है। भगवान् बलराम को अन्य प्रकार से प्रणाम के कारण बताते हैं। (१) भगवान् कहते हैं कि हे बलभद्र! आपने इनको वृक्षों में इसलिये जन्म दिया है कि ये वृक्ष दूसरी का अन्तर भित्रवे। दूसरी का अन्तर कैसे भित्रवे हैं? वह बताते हैं कि यदि किसी को यह पता न हो कि वन में भगवान् किस स्थान पर विज्ञान है तो ये वृक्ष उस अन्तर को बता देते हैं कि भगवान् कदनं, प्रियाल अर्थवा पनस के नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं। जिससे उसका अन्तर मिट जाता है और वह वहाँ जाकर भगवान् के दर्शन कर सकता है। उसका अन्तर वृक्षों से ही मिटा। ऐसी अन्तर निघुंट करने की शक्ति वृक्षों को आपनें दी है।

इसलिए, वृक्ष आपको प्रणाम करते हैं (२) हमारे तम को आपने नष्ट किया है जिससे हमको यह ज्ञान हो जाता है कि भगवान् हमारे नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं, अन्य देश के वृक्षों की तरह हम मौद्र्यय नहीं हैं। इस उपकार सरस्य से आपको प्रणाम करते हैं। (३) हमको आप अपना समझते हो अर्थात् ये वृक्ष चौर हैं चौर हैं हमारे ही इनको वृक्ष का जन्म दिया है। इस कारण से आपको प्रणाम करते हैं। जब वृद्धिवान में केवल उपकार से भगवान् अपना समझते हैं तो वह वृक्ष जो वृद्धि रूप ही है, उनको भगवान् अपना माने तो इसमें लेख मात्र भी शाखा नहीं होती है। कारण कि भगवान् आपने कहों कि ‘अपना कोई नाग वा देश नहीं है।’ सदैव वन में स्थान वाला है। इससे गोला मेरी हो सरस्य वाला है।’ इत्यादि शब्दों से भगवान् ने वृद्धि धर्म एवं उसमें उत्पत्ति (वदर्ध धर्म रूप) को अपना माना है।

यहाँ ‘तमः’ पद सत्त, रज और तम तीनों गुणों का उपलक्षक मैं है। बलबद्र किस प्रकार पदमस्थ दूर करते हैं वह कहा नहीं है। अत: आप केवल अपने सम्बन्ध से ही जैसे सबों के गुणों को दूर करते हो वैसे हमारा तर भी दूर करे, इस प्रकार वृक्षों ने आपको प्रार्थना की है। मेरे में निर्बंध तो गुणालीत है। || ॥ ५ ॥

आभास – एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्तार्थं भ्रमणां विज्ञापनमाहैतेलिन इति,
आभासार्थ – इस प्रकार वृक्षों की प्रार्थना कह कर अब इस निम्न श्लोक में भ्रमणों की प्रार्थना का वर्णन करते हैं।

श्लोक: – एतेलिनस्तव यशोविलकलोकतीथ गायन्त आदिप्रस्थानुपथव भजने।
प्रायो अमी मुनिनगा भवदीयमुख्या गृहं वनेशपि न जहत्यन्धात्मदेवम् || ६ ॥

श्लोकार्थ – हे आदि पुरुष! सर्व लोगों के तीर्थ रूप आपकी कीर्ति का गान करते

|| लेखकार अन्य कार्य का भाव कहते हैं कि ‘सस का अनुभव कराना’

१-वेसमह, अज्ञान। २-वतने वाला। ३-स्थित। ४-निर्गुण।
ये भ्रमर अनुपद आपकी सेवा करते हैं। इसलिए ये आपके मुख्य सेवक भ्रमर मुनिगण हैं। हे अनन्त! आप गुप्त रूप से वन में विराजते हो तो भी ये अपने आत्म रूप और देव रूप आपको छोड़ते नहीं हैं।

दृष्टिकोणों ने प्राप्तवत ह्यत गृह वनेश्वर न कर्मकृत्य चतुर्वेदेन विश्वामिति, भवानु गुडस्येश्वर गृह, यथा भवानु मनुष्यभाव ग्रान्त एवं विश्वामिति, भ्रमरमाय भवानु मनुष्यभाव ग्रान्त, मुनिगणलय गृह न कर्मकृत्य चतुर्वेदेन विश्वामिति, अन्यायार्थाभित्र तथा विश्वामिति तथा महादेवाद्वार च, निदिन्धे हि तवकस्यं न शक्यं, तत्राभाष्यमेव, तत्रापि देवं, तद्देवं, तत्रापि न च, तत्राहानियां महादेवाद्वार च, निदिन्धे हि तवकस्यं न शक्यं, तत्राभाष्यमेव, तत्रापि देवं न च, तत्रापि देवं, तदार्थाभाष्यमेव, तत्रापि देवं न च, तत्रापि देवं, तदार्थाभाष्यमेव, तत्रापि देवं न च, तत्रापि देवं

व्याख्यार्थ — लोकिक दृष्टि से ये भ्रमर गुरु वह होते हैं जो भी वास्तविक रूप से विचारा जाते तो आपका यश गा रहे हैं। दृष्टि भ्रमर तामस हैं जिनके मूळों तो कुछ श्रेष्ठ हैं। वे (वृक्ष) फल और पुष्प युक्त थे जिससे फल-पुष्प जो पूजा के पदर्श हैं, उनको लाकर विनियोगे करते हुए आपको काया से प्रणाम करते हैं। ये (भ्रमर) तो रजसः भी होने से फल-पुष्पों के अभाव के कारण वाणी से ही सेवा करते हैं।

ये आपके यश के गानराथ अथात् वीरता द्वारा सेवा करने के लिए आपके साथ चलते हैं न कि आपके मुख्यविष्ट को गन्ध लेने के लिए चलते हैं। उन (भ्रमरों) को आप से प्रारंभा करने की अपेक्षा नहीं है क्योंकि ये आप से कुछ भी लेने की इच्छा वाले नहीं हैं; कारण कि सकल लोगों को पवित्र करने वाला आपका यश गा रहे हैं। यह (यशोगण) से ही वे आनन्द मनं वा आनन्दमय हो रहे हैं। आपका यश सब जगह सर्व लोगों को पवित्र करता है। तब यशोगण करने वालों को पवित्र करता है।

प्रकाशकेन्दर ने यहां खुलासा दिया है कि फहले तामस कहा और अब रजस कह रहे हैं। यहाँ विश्वास नहीं समझा। चाहिए क्योंकि फहले भी तामस को तामसराजस मान कर कहा था।
इसमें किसी प्रकार की शक्ति अथवा वाद नहीं है किन्तु निष्पत्ति ही है। यशोगण करने वाले भी प्रभु के सेवक हैं। प्रभु कब कुप्या करने इसकी परवह न कर प्रभु के साथ चलते चलते समग्र मार्ग में यशोगण करते रहते हैं।

ये प्रभु हीन योगिन में होने से यश को कैसे जानते होगे? इस शक्ति के निवारणार्थ कहते हैं कि ये, प्रभु के रूप में आपके मुख्य सेवक मुनि हैं।

यदि ये (प्रभु) ब्रह्मवेता और ब्रह्म हैं तो नीच योगिन को क्यों प्राप्त हुए? इस शक्ति के उत्तर में कहते हैं कि वन में भी गूढ़े अपने देव को नहीं छोड़ते हैं। आप अपने संज्ञाण देवरूप को दिखाकर मनुष्य रूप से दर्शन देते हों, अतः आपके मुख्य ब्रह्मण मुनिगण से भी अपने मुनि रूप को दिखाकर प्रभु रूप धारण किया है। आपके सेवकों में मुख्य सेवक होने से आप जिस मार्ग से चल रहे हो वे भी उस मार्ग से साथ साथ चलते हुए यशोगण से आपकी सेवा कर आनन्द माने होते हैं।

जब में मनुष्य रूप में हूँ तो भी मेरा भजन करते हैं? व्ययों नहीं, प्रकट रूप वाले महादेवादि देवों का भजन करते हैं। इस शक्ति का निवारण करते हुए कहते हैं कि आप सर्वस्व निर्दोष आत्मा और देव हो। निर्दोष को छोड़ना अस्वाभाविक है। उसमें भी फिर वह निर्दोष, अपनी केवल आत्मा नहीं कितने पुनः देव भी है। ऐसी अवस्था में आपको छोड़ना उन (मुनि रूप प्रभु) के लिए असंभव है।

प्रभु तामस हैं अतः उनके सेवय तामस महादेवादि हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि तामस गुण के कारण महादेवादि तामस देव प्रभु के सम्बन्ध हैं तो भी वे भूतगणों से आवृत्त होने से उनकी सेवा हो नहीं सकती है। ब्रह्माण्डक हम प्रभु के सम्बन्ध हैं नहीं है महादेवादि के निवाय अन्य देव तामस नहीं है अतः और कोई गति न देख आप गूढ हो तो हम आपका भजन करते हैं।

गूढ शब्द का अन्य प्रकार से भाव बताते कहते हैं कि, आपका वन में गूढ़े रीति से इसलिये भजन करते हैं कि हम आपका भजन कर रहे हैं इसका किसी को पता न रहे। हम प्रकट भजन करने तो अन्त कोई जान जाय और इससे भगवान्त् अप्रस्तुत हो जाय इसलिए प्रभु इस प्रकार गूढ रीति से आपका भजन कर रहे हैं। अतः आपको उन पर अनुग्रह करना चाहिए। ॥ ६ ॥

आधाराः — मूर्गपक्षिणां विज्ञापनामाह नृत्यतीति,
आधारार्थ — मृग और पक्षियों की विज्ञापन का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः —नृचन्द्रनारायण शिरिकृष्ण ईंद्र युद्ध हरिणयः कुर्विन्ति गोप्य इव ते प्रियमोक्षपेन।
सूक्तंशुचि कोकिलगणः गृहमागताय धन्य वनीकस इवानू हि सतां निसर्गः। ॥ ७ ॥
श्लोकार्थः — हे स्तुति ! आपके समाप ये मयूर नृत्य करते हैं, हरियाणा आनन्दस्वयं दृष्टि से गोपियों के समान आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं, कोयले मधुर शब्दों से आपकी सेवा करती है अतः ये वनवासी धन्य है क्योंकि इनके पास जो कुछ है वह घर में पधारे हुए आपको अर्पण करते हैं। सत्पुरुषों का यही स्वभाव होता है।

व्याख्यार्थः — हे स्तुति करने योग्य ! ये मयूर आपको पधारे हुए देखकर नृत्य करते हैं। दूसरे जब आपकी स्तुति कर रहे हैं तब ये आपका गुणगान सुनकर आनन्द युक्त हो नाचते हैं। स्वामी के आगमन पर प्रुक्तिलित होकर जो नाचता है वह बड़ा भक्त है। उसकी स्वामी का आगमन ही प्रिय है जिसमें हरियाणा भी दृष्टि से आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं। जिस प्रकार भी आपको आनन्दित किया जाय ऐसी क्रिया करती है, वे (हरियाणा) भी आपको प्रेम से देखते हैं और आपको अपनी चितवन से गोपियों का सम्मान करकर गोपियों के समान आप में आनन्द उत्पन्न करती हैं। जैसे गोपियाँ अपने स्वरूप से सुंदर उपस्थित करती हैं वैसे ही उन गोपियों की याद दिलाने वाली भी सुंदर जनित्व है। नाट्य और काव्य शालों में ऐसा निरूपण है कि कोयले तो स्तुति रूप गानों से आनन्दित करती हैं, उनके मधुर शब्दों से महान हर्ष होता है। ये वनवासी गृहस्थों के समान धन्य स्वभाव हैं क्योंकि यही सत्पुरुषों का स्वभाव है।

कारिकार्थः — आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम्।
वाक्यः—स्तुतिश्च परम हल्यतेतावदेव हि।
तृणानि भूमिस्वर्ण सामान्ये गृहमागते।

कारिकार्थः — जब अपने घर में महान गृहस्त पद्धतें तब प्रथम परम प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए, तदन्तर जो पदार्थ उनको प्रिय हो, वे लाकर उनको अर्पण करने और वचनों से उनके गुणगान करने चाहिए। यदि कोई साधारण० व्यक्ति घर में

× श्रवण आदि भी — अनुवादक

1-प्रशंसा।
आचे तो उसका भी आसन, पृथ्वी और जल से आदर रखना गृहस्थ का धर्म है।

आधारस - वृद्धावनभूमियादीनू स्तूतित धन्येति,

आधारसार्थ - इस आठवें श्लोक में वृद्धावन भूमि के तथा अन्य पदार्थों की स्तुति करते हैं।

श्लोक: - धन्येयमय धरणी तृणवीज्ञस्तत्वात्स्तवयूप्यो दुमलता: करजाभिमृष्टः।

नद्योऽदय: खगमुग्गा: सदयावलोकेत्योप्योन्तरो भूजयोधि यत्पृहा श्री:। ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ - आज यह पृथ्वी, घास, और लताएँ तथा वृक्ष वे आपके चरण स्मृर्ति होने से धन्य हुए हैं। नदी और पर्वत आपके नख स्मृर्तिसे धन्य हुए, पक्षी और पशु आपकी कृपा भी दृष्टि से धन्य हुए तथा गोपियाँ लक्ष्मी जिसकी इच्छा कर रही है उस वस्त्रस्थल से आलिङ्गन कर धन्य हुई हैं। ॥ ८ ॥

सुबोधिनी - इस धरणी भूमियादिनू तव पादस्पर्शात्

तृणवीज्ञस्तत्वात्स्तवयूप्यो दुमलता अपि

धन्या:, करजाभिमृष्टा नद्योऽदय: खगा मुग्गा भूमि:

दयालोकेत्योऽपि धन्यास्तव भूजयोऽस्तरोऽपि कृपा

तत्रातिलिङ्गान प्राप्या, नु नुकसानमूलभल्लमु?

तत्रात्यतपृहा श्रीमतिः, भूमियादिनू विजायणे न किंतु कर्तव्यः

तत्वस्माच्छित्त सर्वा सर्वत्रकरोम्प्रीणितः।

आवेशिष्यः: सर्वभावनिनिष्ठ सर्वाश्चकारप्रभु: सम्प्रा

भावायित तत: शृङ्गेवाकाशाः ता देखत भवति,

अन्योभयेषायांस्तवालिङ्गेण स्तवतः, वृद्धावनस्तानं सर्वप्रायां

स्वीकारः भमनं अवलंबन अपने अलिङ्गन कर चलने वाले भगवानः स्वीकारः वाले भगवानः

स्वीकारः वाले भगवानः स्वीकारः वाले भगवानः स्वीकारः

तत्रात्यतपृहा श्रीमतिः, भूमियादिनू विजायणे न किंतु कर्तव्यः

तत्वस्माच्छित्त सर्वा सर्वत्रकरोम्प्रीणितः।

व्याख्यार्थ - (वृद्धावन की) यह भूमि, घास, पृथ्वी पर पड़ी हुई लताएँ और पेड़ों पर चढ़ी हुई लताएँ भी आपके चरण स्मृर्ति होने से धन्य हुई, नदी से हुई हुई पर्वत एवं नदियाँ भी धन्य हुई, और खग मुग्गा भी दयालिङ्गाने देखत लभ से धन्य हुए। दयालिङ्गाने अवलंबने से तथा दुरस्थ आपके अलिङ्गन से गोपियाँ भी धन्य हुई। यह आलिङ्गन क्यों दुरस्थ है? यह आलिङ्गन इसलिए दुरस्थ है कि लक्ष्मी भी इस आलिङ्गन की कितने दिनों से इच्छा कर रही हैं किन्तु उसे भी प्राप्त नहीं हुआ है। भूमि आदि आपको कुछ भी प्रार्थना नहीं करती है कारण कि आपने उनको किसी न किसी प्रकार से प्रसन्न किया ही है।

जिस देवता का आवेश अपने में होने चाहता है उसकी भावना करने से वह देव शीघ्र उसमें प्रविष्ट होता है। यदि इस प्रकार की भावना न की जाए और वह देवता उसमें प्रविष्ट न हो तो, दोनों (वृद्धावनस्त शु-पक्षी और बलभद्र) का भी अनिष्ट हो जाए ऐसी सम्भावना है। यदि वृद्धावन की
श्री सुबोधिनी की हिन्दी टॉका - तामस प्रकरण 'प्रेम' अवान्त प्रकरण - अध्याय १

रूपस्तु-पशुंशी आदि केकल सङ्करण (भगवान् के आवेश रहित) का भजन करे तो अन्य देवता के भजन करे के कारण उनका नाश हो और भगवान् की भोग सामग्री को स्वीकारे के कारण संकरण का। और यदि वे वनस्पति पशु-पशुंशी भजन न करे तो सभी देवों में श्रेष्ठ बलभद्र के अभधन करने से अतिक्रम होगा और श्रृंगरण के अपमान से बलभद्र को क्रोध भी हो सकता है, अतः भगवान् ने निल्य अपने आवेश की सिद्धि बलभद्र में हो इसलिए बलभद्र का यह सर्व बोध कराया है।

आभास — एवं वृंदवन सकृमरूप निरूप्यान्त्रायाः च स्वरूपमहार्द्धो बलभद्रभोधनं च कृत्य तादृशो वृंदवने भगवान् क्रीडां कृत्वान्तिविहैवमिति सविह।

आभासार्थ — इस प्रकार वृंदवन के स्वरूप का निरूपण कर यहाँ स्थित करते वालों (वृक्ष पशु-पशुंशी आदि) का स्वरूप एवं बलभद्र को आवेशी स्वरूप का ज्ञान कराया अर्थात् आप में मेरा आवेश है तदनन्तर ऐसे वृंदवन में भगवान् क्रीडा करते लगे इसका वर्णन नीचे के दश श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उद्धार ॥

श्लोकः — एवं वृंदवनं श्रीमतं कृष्णं प्रीतमना: पशून ।
रेमे सञ्चायनान्ध्र: सरिद्रोधस्सु सानुः।

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—इस प्रकार की शोभावली वृंदवन में प्रस्थतित श्री कृष्णचन्द्र्ध्वज़ ग्वाल बालों को साथ लेकर, पर्वत के समीप वाली नदियों के तटों पर गौओं को चराते हुए क्रीडा करते लगे।

श्रीशुक — पौण्डङ्गबयम्: पुरुषार्थचतुष्ठयादिककालरुपचारदाता पुरुषार्थचतुष्ठयादित्यापितादात्र क्रमेण ततो
दशास्योहितनाथों क्रीडां परमन्दस्य दशाया सो लोकेनुज्ञात
इति प्रजानान्त्रेषु भाजनान्त्रुत्तमत्रिपितापिधान, तथा
प्रथमं धर्मभाविकाः। रिणं कृत्वान्तिविहैवमिति।

लक्ष्मीरेख, नायकनीकर्ममहृ कृष्णं इति, सदानन्दो हि
पुरुषोत्तम मन्न्य करणं, तस्याय देविनिवृत्तिपूर्वको गुणा
बक्त्वा, तदाह प्रीतमना इति, प्रीति निन्त्यं सन्नुष्ट मनो
प्यस्य, पशूम सन्ततिविनितिध्वम्, समयाक चारणं देशविशेषः।
ग्रामान्त्रेषु चतुष्ठयाविचारं चतुष्ठयाविचारं चतुष्ठयाविचारं
सरिद्रोधस्सु निर्देशितं। निर्देशितं।

श्रीशुक — सरिद्रोधस्सु कृलेषु, तत् हि इतिद्युत्तमनि
भवत् प्रहुस्तनि च, पवित्र स्थिराञ्चतात् विश्वासः
विशेषां चतुष्ठयां निर्देशितां। कृत्वान्तिविहैवमिति।

लक्ष्मीरेख, नायकनीकर्ममहृ कृष्णं इति, सदानन्दो हि
पुरुषोत्तम मन्न्य करणं, तस्याय देविनिवृत्तिपूर्वको गुणा
बक्त्वा, तदाह प्रीतमना इति, प्रीति निन्त्यं सन्नुष्ट मनो
प्यस्य, पशूम सन्ततिविनितिध्वम्, समयाक चारणं देशविशेषः।
ग्रामान्त्रेषु चतुष्ठयाविचारं चतुष्ठयाविचारं चतुष्ठयाविचारं
सरिद्रोधस्सु निर्देशितं। निर्देशितं।
व्याख्यार्थ - छठे वर्ष नव वर्ष पर्यंत, चार वर्ष की आयु को पौग्रंंड अवस्था कहते है। इस काल को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला माना गया है अतः क्रम से प्रथम चार पुरुषार्थ प्रतिपादन किये गये हैं।

ब्रह्माण्ड से भजनानंद की उक्तियां दिखाने के लिए, और (भगवान के) दश रसों का अनुभव दश प्रकार से होता है इसलिए आप दश रसों को प्रकट करने हेतु क्रिया करते हैं। इस (६वें) श्लोक में प्रथम पुरुषार्थ धर्मचरण (वैश्य धर्मचरण) करते हुए क्रिया करने लगे, इसका वर्णन करते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से वर्णित श्री वृद्धवान में श्रीकृष्ण पुष्पों को चारते हुए रमण करने लगे। इस रमण का सम्बन्ध इस श्लोक से ६९ श्लोक तक है। इन दश श्लोकों में चार पुरुषार्थ और दश रसों का वर्णन कर अंतम ६९वें श्लोक में इनका उपसंहार किया गया है।

भगवान ने जब वृद्धवान के पृथक पृथक अभिमानी देवताओं से रमण प्रारंभ किया तब लक्ष्मीजी स्वतः स्वयं पधारी। लक्ष्मीजी के साथ स्पष्ट रमण नहीं कहा गया है तो भी उनके साथ रमण सिद्ध ही है। इससे ही अनुभव* उद्दीपन विश्वास व्यभिचारभाव वर्णन किये हुए हैं यह जानना चाहिए। आलम्बन विभाव तो स्वयं लक्ष्मी ही है।

नायक (श्रीकृष्ण) की उत्तमता का वर्णन करने को ‘कृष्ण’ पद का प्रयोग किया। ‘कृष्ण’ में ‘कृष्ण’ का अर्थ सत्ता है और ‘ण’ का आनन्द है अर्थात् नायक-कृष्ण तो सदृश-आनन्द है, पुरुषोत्तम है। रमण में करणसाधन है मन। मन में भी कोई दोष नहीं है प्रत्युत्त गुण है यह दिखाने के लिए नायक को ‘प्रीतमना’ कहा जा सकता है। (नायक कृष्ण का) वह मन दोष रहित और सम्पूर्ण वाला था। पशु चारण अवस्था तथा रमण दोनों को पूर्णतया करने के लिए, भगवान ने पशुओं को पर्वतों से सम्बन्ध वाली नदियों के किनारों पर चरणा योग्य समझा। एक तो वहीं पशुओं के चरने के लिए हरी धारा मिलेगी और रमण के लिए सुन्दर स्थान होने से रमण में मन स्थिर रहेगा और वहाँ से गौ भी अन्यत्र जा नहीं सकेगी अतः गौओं को चारते हुए रमण भी होगा। इसके सिवाय अपने साथ अनुचरों भी हैं वे भी गौओं को चारते हुए उनकी रखवाली करते रहेंगे तो में मन केवल गौचारण रूप धर्म में निरुक्त नहीं होगा जिससे रमण में किसी प्रकार की रक्षा न होगी दोनों कार्य सुचारू रूप से सिद्ध होंगे। ॥ ९ ॥

* ये समान अनुभावकर्ता ते अनुभावः। जो रसों को अनुभव के योग्य बनाते उनको अनुभव कहते है।
† ये समान उद्दीपनकर्ता ये बाध्यः ते उद्दीपन विभावः। जो भाव हदय में उत्पन्न हुए हो उनको उद्दीपन विभाव कहते है।
‡ ‘ये इत्यतः सहभूति रसस्फुत अनेक स्य व्याख्या भवति तेन व्यभिचारभावः।’ जो एक स्फुत न रह कर अनेक रसों में फिसल रहे ऐसे भाव व्यभिचारी भाव है।

१-पूर्णता। २-सेवक।
आभास - एवं धर्मोऽवनेन क्रीडामुक्त्वार्थोऽवनेनापि क्रीडामाह कवचिदिति,

आभासार्थ - उपरकेत (१६) श्लोको में गाँधरा रूप धर्म प्रकट कर जो लीला की, उसका वर्णन किया, अब इस (१०) श्लोक में अर्थ रूप धर्म को प्रकट करने के लिए जो क्रीडा करेंगे उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: -- कवचिदू गायति गायत्सु मदान्यालिप्यनुव्रेतः।

उपगीयमानचरित: सखिएस्वर्यानान्वितः।। १० ।।

श्लोकार्थ - जिनके चरित्रों का भक्ति गान कर रहे हैं और जिनके साथ सखा और सज्ज्ञणजी भी हैं, ऐसे भगवान्, मदान्य भ्रमरों के गाने पर भी आप भी गान करते थे।

१० ।।

सहभाव आवशयकः, समीपे गाने स्तोत्रं कार्यंभागेयं, मुनिनां भ्रमत्वविल्पणातु समीपे धार्षित्ववदानं गाने न भविष्यतिसमाधायता निरूपिताः, मदोऽद्र भगवत्सत्त्वमानंदस्य भक्तरसोपाधो च वृद्धावनं पुष्पेषु मकरस्वर्यसमंवितं भक्तिरूपं अवति, अनु भ्रम येतामिति तेषामिति स्वसाम्यक्यां सर्वं संहायं: सज्ज्ञणच समग्रप्रयोगस्वत्त्वमानं भोगं: सम्मकः समाधात्त इति, एवं वृद्धावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमन: इति ज्ञापनाम सत्त्वालावर्तनेऽ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ - मद से अन्य भ्रमरों के गाने पर कभी भगवान् भी गाते हैं। आपके भक्ति भी आपके चरित्र गा रहे हैं। मित्र और सज्ज्ञणजी भी आपके साथ थे।

“यदा खलु ते पुरुषः श्रीयमनुत्ते वीणामेव वाचत्” यह श्रुति कहती है कि पुरुषजब ‘श्री’ का भोग करता है तब उसके पास वीणा बजती है। इस श्रुति के अनुसार जब भगवान् अब ‘श्री’ (अर्थ) का भोग कर रहे हैं तब भ्रमर वीणा के रूप में गा रहे हैं और आप भी गान करते हैं। यदि आप गान न करें तो रस में विशेषता उत्पन्न न होवे। चाहें तरफ आपकी ही स्तुति, भ्रमर और भक्तगण कर रहे हैं आप के साथ आपका परिक्र भी हैं।

प्रकटाकार ‘श्री’ का भव स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि ‘माताजी के भेजे हुए पदार्थों का भोग करते थे अथवा वन में उत्पत्ति फलादिकों का भोग करते थे।’
भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध वाला और कुल से सम्बन्ध रखने वाला दोनों प्रकार का परिकर था। दोनों प्रकार का परिकर साथ में इसलिए रखा था कि शास्त्रों में कहा है कि ‘बन्धुभिष्य न भज्जं’ जो भी (पदार्थ) बान्धवों के साथ भोग नहीं जाता है वह “श्री” नहीं है, तदर्थ बान्धवों को साथ में रखना आवश्यक है।

समीप में गान करना अथवा भगवान् की सुति करना यह भी अर्थ भोग ही है। प्रमरों को मुनि कहा गया है तो उन्होंने भगवान् के सामने गाने की धृष्टि की? ऐसी शक्ति के निर्वाचन के लिए ही प्रमरों की मदद कहा गया है। प्रमरों का मद अहंकार रूप नहीं था, किंतु भगवान् की सातिष्ठता के आनन्द का मद था अथवा उन्होंने जो वृद्धावने के भाववचन सम्पित गुणों का जो भक्ति सस्त्र मनदर था उसका पान किया था जिससे उनको उम्माद था। इस उम्माद के कारण वे भगवान् के सामने गान कर रहे थे इसलिए उनमें धृष्टि दोष नहीं है।

जो भगवान् के भक्त अनुप्रति हैं, सब साखा तथा संकरणजी इस प्रकार के हैं। अतः इनको भी अपने समान ही अर्थ भोग करना योग्य समझ भगवान् ने उनका भी पूर्ण रीति से भोग सम्पादन किया। (१९वें) श्लोक के ‘अतः वृन्दावने श्रीमान् कृष्ण: प्रीतमना:’ ये पाँच पद इस श्लोक और आने वाले श्लोकों से भी सम्बन्धित हैं।

आभास — एवमर्थलीलामुक्तम कामलीलामाह कवचिथ्येति,
आभासार्थ — इस प्रकार ‘अर्थ’ लीला कह कर (१९वें) श्लोक में कामलीला का चरण करते हैं।

श्लोक: — कवचिच्च कलहसानाभान्तनुकृजति कृजितम्।
अभिनृत्यत् नृत्यतं बहिणां हस्ययः कवचिथ्। ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — (इस प्रकार के वृद्धावन में प्रसन्न चित्त वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) कभी कल हंसों के समान कूजन करते हैं, कभी नृत्य करते हुए मद्यूर को अपने चारों तरफ सुन्दर नृत्यों से हस्य पात्र बनाते हैं। ॥ ११ ॥

सुवोधिनी — कलहसानां कृजितमनुकृजति, कामे।
हि द्रवं कर्तव्यं कृजितं सर्वोदगिनान्, बन्धस्य स्वस्य, तत्र मद्यस्य मद्यूर्यं सह समद्विद्व तथा ग्राहिक्ष्येपे सर्वतोऽस्माते ग्राहितं निगंतो मद्यूर्यं मुखे प्रविष्टयः।

रत्नो निर्मित्यं ज्ञानहार च, अन्यं सर्वं कामे प्राकृता एव स्वासः। अत एव विचित्रं तत् कार्यमुच्यते, शयो दै मन: पूर्वक इति सारसङ्केतिकमं संस्त्रामासेक्षरणं तावदृशम् भवति। कृजितं, अत एवं सर्वविक्षणलं हंसे वक्तुं कलहस

— २४ भगवान् के सदृश प्रत बाले।
व्याख्यार्थ – कल हंस जिस प्रकार कृष्ण करते हैं उसी प्रकार आप (श्रीकृष्ण) भी कृष्ण करते हैं। काम लीला में दो कर्तव्य हैं। रस को प्रकट करने के लिए कृष्ण करना और रस* लेने के लिए बन्ध।

जब मयूरी मयूर के निकट आती है तब उसको देखकर मयूर काम मत होता है जिससे मयूर अपने गायों को विस्तारत। है। गायों के फुलाने से उसके सर्व गायों में रहा हुआ रस इकट्ठा होकर नेत्रों द्वारा बाहिर निकलता है उसको मयूरी मुख द्वारा पान करती है। इस प्रकार का रेत* ऊपर के भाग से ज्ञान के साधन नेत्रों द्वारा बाहिर निकलने से वह अप्राकृत रत है। इससे भिन्न सब रेत जो काम क्रीड़ा० से उत्पन्न होते हैं वे प्राकृत रस हैं।

मयूर का रेत अप्राकृत होने से वहाँ का गर्भधारणादि कार्य विचित्र प्रकार से ही होता है।

शब्द की उत्पति मन से होती है, प्रथम मन में विचार होता है तदनतर यह विचार शब्द रूप से मुख द्वारा बाहिर आता है। रस (दृष्ट) अरस (जल) को पृथक करने बाला हंस जिसका आश्रय केवल मानस है उसका कृष्ण भी वैसा (अप्राकृत) होता है। कारण कि हंस अन्य सर्व से विश्वसंग्रह है। यह सृजित करने के लिए हंस की ‘कल हंस’ कहा है अर्थात् हंस कलाओं का हंस है। इसलिए ही वह पानी में मिले दृष्ट को पृथक कर सकता है। अनेक बातों का एक रूप में प्रतिपादन निष्णात व्यक्त हो कर सकता है। भागवान् कृष्ण में प्रवीण है क्योंकि आप एक ही कृष्ण में सर्व प्रकार के हंसों का कृष्ण करते हैं। एक ही कृष्ण में रस के जितने भी अवास्त्र भेद है उनको प्रकट करने के लिए आप हंस के अप्राकृत कृष्ण जैसा कृष्ण भी करते हैं। भगवान् मयूर के सब प्रकार के नृत्यों के समय नृत्य करते हैं। जब मयूर मयूरी के साथ रस से नृत्य करता है अथवा मेघ आदि को देखकर नृत्य करता है, वा स्वाभाव के कारण नृत्य करता है तब भगवान् साधारण और भवाभास के निरूपण के लिए नृत्य करते हैं। यदि भगवान् नृत्य न करे तो साधारण और भवाभास के कारण मयूर के नृत्य से रस पुष्ट नहीं होता। फिर कभी तो मयूरों की हंसी करने के लिए ऐसा नृत्य करते

* लेखकार – कृष्ण करने से जो रस प्रकट होता है।
† प्रकाशकार – मयूर का गायों को फुलाने ही ‘बन्ध’ है।
‡ लेखकार – उसमें जो आलिङ्ग होता है उसको बन्ध कहा जाता है।

1-फुलाना। 2-बीच रस। 3-विपय सम्बन्धी क्रीड़ा। 4-मानसरोवर।
है कि जिसको देखकर बालक इसका नृत्य अच्छा नहीं इसने बराबर नाच नहीं किया आदि शब्द कहते हुए मोहें पर हंसते थे। भगवानु सदा ऐसे नृत्य नहीं करते इसलिए ‘पुनः कवचित्’ फिर कभी शब्द कहे हैं।

आध्याय — मोक्षलीलामाह मेघगम्भीरयेति,
आध्यायार्थ — इस (१२वें) र्लोक में मोक्ष लीला कहते हैं।

र्लोक: — मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूर्गानू पशुनू।
कवचिदाह्यत्र प्रीत्या गोगोपालमनोज्या। १२।

र्लोकार्थ — (इस प्रकार के स्री वृंदावन में प्रस्त्र मन वाले लक्ष्मी युक्त स्रीकृष्ण) मेघ के समान गम्भीर और गो तथा गोपालों के मन को हरण करने लाली वाणी से दूर गए हुए पशुओं को कभी प्रेम से प्रत्येक का नाम लेकर बुलाते थे।

व्याख्यार्थ — भगवानु दूर गए हुए पशुओं को वाणी से प्रत्येक का नाम लेकर कभी बुलाते हैं। भगवानु के साथ सायुज्य और मुक्तिः भगवानु के देने से ही प्राप्त होती है। सकल शास्त्रों में कहे

* प्रकाशकार सायुज्य और मुक्ति के अर्थ का स्पष्टकरण करते हुए कहते हैं कि, पुष्पमाण के अनुसार सायुज्य का अर्थ सख्त भाव है अर्थात् भगवानु के साथ प्रथम मिलाप और मुक्ति का अर्थ दुख का अभाव है। अन्य मतों के अनुसार सायुज्य का अर्थ 'भगवानु' से मिल जाता है और मुक्ति का अर्थ अपने स्वरूप में स्थित है। भगवानु (अधिकारसार) दोनों मार्गों द्वारा मोक्ष देते हैं मोक्षदाता जनार्दन भगवानु है वह जब देते हैं तब मोक्ष मिलता है।
हुए, श्रवणदी साधारण भगवान् से सम्बन्ध करते है। इस प्रकार जब जीव का भगवान् के साथ सम्बन्ध होता है तब भगवान् भी वैसे धर्म का पालन करते हैं जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त है।

प्रेमचतानां ने भगवान् का सम्बन्ध करते हुए कहा है कि 'यदनुझ्नमते काले स्व बुद्धा भद्वद्वन धेनोपशुहिनि भूतान' है अर्थ यह है कि समय पर चित्र में अपने प्राणियों को समरण करें, जिससे उनका शान्ति प्राप्त हो, (प्रेमचतानां के इन वचनों में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है) अर्थात भक्ति भगवान् का नाम समरण और कीर्तन इसलिए करते हैं कि भगवान् भी हमारा नाम ग्रहण करे अर्थात् हमको याद कर अपने पास बुलाए।

वे पशु जब दूर चले जाते हैं तब भगवान् कुप्पा कर अवसर देख जैसे उन सबका ताप मिट जावे वैसी वाणी से उन पशुओं के नाम लेते हैं। दूर गए हुए पशुओं के नाम लेने का कारण यह है कि जैसे शासकार किए हुए जिस भगवान् का नाम वे नहीं लेते हैं वैसे ही भगवान् भी उनका नाम न लेकर दूसरों को ही नाम लेकर अपने पास बुलाते हैं। पशुओं को तो अपनी बुद्धि नहीं है। भगवान् के बुलाने के सिवाय उनके लिए मुक्त होने का कोई भी उपाय नहीं है।

भगवान् वैसे प्रेम से उनका नाम लेकर उनको बुलाते हैं जैसे नामों के सुनते ही उनके विषयों का नाश हो जाता है। यो तो विषय प्रयक्त होने से सबल है और शब्द (नाम) परेशानता के कारण निर्भर हैं किंतु उस शब्द के साथ प्रेम पीयूष होने से प्रत्यक्ष विषयों से परेशान नाम सबल हो गए जिससे पशु तत्काल विषयों का त्याग कर सके।

भगवान् केवल प्रेम-से नाम लेते, किंतु वह वाणी अलौकिक न होते तो अलौकिक फल (मोक्ष) की प्राप्ति न होते इसलिए भगवान् ने प्रेमपुक्त अलौकिक वाणी से नाम लिए। वह वाणी अलौकिक

"ते यथा मा प्रयत्नं तांतर्येष भजाम्यहम्" गीता में भगवान् ने कहा है कि जो जैसे मुझको भजते हैं वै भी उनको उसी तरह भजता हूँ। गीता के इस वचन के अनुसार जीव जैसे साधन कर भगवान् को सन्तुष्ट करता है भगवान् भी वै साधन ग्रहण कर जीव की मन-कामना पूर्ण करते हैं-अनुवादक

रूपाणि - जब भगवान् मोक्ष देंगे तो प्राप्त होता है, नहीं तो नहीं होता है। यदि ऐसा है तो शाश्वों की क्या आवश्यकता है? इस शाश्व का निवारण प्राकाशकर श्री पुरुषोत्तमजी इस प्रकार करते हैं कि-शाश्वों में कहीं हुए साधनों से जब जीव का मन भगवान्वित हो तो भगवान् हो जाता है उसका सर्वत्र सम्बन्ध छोड़कर केवल भगवान् से ही सम्बन्ध हो जाता है। साधनों द्वारा जब जीव इस कोटि पर पहुँचता है तब भगवान् जीव के किए हुए साधनों से प्रसार होकर उसका फल दें के विचार करते हैं। उसके उसके अधिकार और साधनानुसार फल देते हैं। जैसे भीम ने जब शर श्रीधरा पर भगवान् से एक तान मन कर भगवान् में ध्यान लगाया तब भगवान् वही भीम को दर्शन देकर मुक्त करने के लिए भीम के पास स्वयं पहुँचे। इससे सिद्ध हुआ कि शाश्वों में कहीं हुए साधन भगवान् में मन एकाग्र करने के लिए है अर्थात् शाश्व निर्धारित नहीं है।
है, इसकी सिद्धि इससे होती है कि उसका सुनकर गी और गोपों के मन आनन्द मगन हो गए। गी और गोपालों के मनों को साक्षात् वाणी (अलौकिक वाणी) ही मधुर तथा आनन्ददायी होती है, कारण कि ‘गीप’ गुण जैसे है और गी अधिकारी जीव जैसे हैं।

गीप और गीओं को प्रथम भगवान् की वाणी मन की प्रसन्नता करने वाली और आनन्द देने वाली हुई। मन आनन्द युक्त प्रसन्न हो तब ही वह फल का पूर्ण अनुभव कर सकता है। किसी को भी मुक्ति देनी हो तो भगवान् प्रथम इस प्रकार की लोला करते हैं। अर्थात् जिसको मुक्ति देनी हो प्रथम उसके मन को प्रसन्न (विषय के दुःखों से छुड़ाते हैं) और आनन्द युक्त करते हैं।

यदि भगवान् प्रतिष्ठा का नाम न लेकर केवल वाणी से बुलाते हो योगी ही हो सकता है कि वे पशु समझने पर बुलाने का उद्देश्य नहीं है इसलिए कदाचित् वे नहीं भी आवें। तथा भगवान् ने भी सोचा कि साधनों के भेद से सबका अधिकार समान नहीं है। अतः अधिकारनुसार प्रत्येक का नाम लेकर सब को पृथ्वी ही बुलाना योग्य है इसलिए मूल में ‘नाम’ शब्द बहुवचन में दिया है।

एक तो ये पशु जीव होने से, बुद्धि ही हो और दूसरा भगवान् से दूर चले गए है। अतः जो दयालु सर्वज्ञ प्रत्यज्ञ प्रभु स्वयं उनको मुक्ति न करते हो वे अमुक्त ही रह जाते॥ १२॥

आभासः — एवं पुष्पार्धचतुष्याक्षोचितलीलामुपप दशास्प्रकाररूप भगवतो लोलां वदनू प्रथमं शब्दाक्षीलामाघ चकोकरति,

आभासार्थः — इस प्रकार चारों पुष्पार्धों की लोला का वर्णन कर अब दश रसों के प्रकार की लोला कहते हुए। इस स्लोक में छ: प्रकार के रसों की लोला को कहते हैं (पश्चात् शेष ४ रसों की लोला आगे के स्लोकों में वर्णन करेंगे।

श्लोकः — चकोक्क्रोक्राह्वनचक्राह्वनान्ध्राजांस्य वर्णिनः।
अनुरूपित स्म सर्वानां भीतवद्व व्याप्रवसिनहयोः॥ १३॥

श्लोकार्थः — (ऐसे वृद्धावन में प्रसन्न मनवते, लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) चकोर क्रोक्र, चक्राह्व, भारद्वाज और मयूरों के समान ध्वनि करते थे, तथा बाढ़ और सींग से डरे हुए प्राणियों जैसी ध्वनि करते थे॥ १३॥

सुबोधिनी — चकोर हि चन्द्रकरणभोक्तारो—लौकिकभोजः, न हृदयेऽन चन्द्रकरणा भूमी स्थिता भोक्तृंडुः
शक्यने त एव परं भोक्तार: पूर्वकिरणा इव, अन्यथा ततः
शैत्यादिकं न स्मातुं, तथेऽव सर्वं पूरण: शैविपुष्मते
तद्भावं चातुपवनं, तथेऽव लोकप्रतिति: तददं भगवान् न
रसानुभवं करोपेन त्र्यपितुं भूम्भारसं चकोस्वादु भगवतो
वास्तविक निरूपने, क्रृष्णो भीरे, चक्राकार: कठस्यां, स
हि वियुक्तास्रष्पद आचरणम् मारणमभिघिमति तेनाहम आदन।
व्याख्यार्थ - यह प्रसिद्ध है कि चक्रों यथा अंगार खाता है जिससे उसके शरीर में ताप होता है, उस ताप की निवृत्ति के लिए वह पुष्टि पर पढ़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का वोध कैसे करता है, जैसे पूर्ण अपनी किरणों से चन्द्रमा की किरणों का भोग करता है, यह उसका (चक्रों का) भोग अत्यंत भोग है कारण कि चक्रों के सिवाय अन्य कोई भी प्राणी पृथ्वी पर पढ़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का भोग नहीं कर सकता है। यदि चक्रों इस प्रकार चन्द्रमा की किरणों का भोग न करे तो चक्रों में शीतलतादी गुण न होंगे। चन्द्रमा की किरण पुरुष रूप है इस पुरुष रूप किरण का भोग चक्रों कैसे करता है? इस शाखा की निजपति आचार्य श्री दृष्टि का देखकर कहते हैं कि जब तक में शिराँ ही पुरुषों का भोग करती है न कि पुरुष शिराँ का भोग करते हैं क्योंकि भोग का तत्त्व है जो वस्तु, भोग में आवे उस वस्तु में जो सार (शक्ति तत्त्व) हो उसकी भोगकर्ता अपने में हो लेने को विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि पुरुषों में जो शक्ति तत्त्व सार रूप तत्त्व है उसको सिराँ अपने में खो लेती है अतः पुरुष ही भोग है शिरा भोगता है। इतना ही नहीं, किन्तु पुरुष का भोग कर उसको अपने आधीन बना लेता है। इसलिए चक्रों पुरुष रूप किरणों को कैसे भोगता है? पुरुष भोग नहीं है, क्षी भोग है यह शाखा निर्मूल है। पुरुष शिराँ का भोग करते हैं, यह केवल लोक तत्त्व मात्र है।

भगवान् लोकवत् रस का अनुभव वा शिरां को दास्ता नहीं करते हैं। ऐसा बताने के लिए शृंगार रस के पक्ष में भगवान् का चक्रों पक्ष के समान चारों के व्यापार का वर्णन है। इससे यह बताते हैं कि जैसे चक्रों पक्ष का भोग अलौकिक है, वैसे ही भगवान् के भोगदी अलौकिक प्रकार के हैं लोकवत् नहीं हैं।

भगवान् वीर रस वाले क्रृष्ण पक्ष के समान ध्वनि कर बताते हैं कि मेरा वीर रस अलौकिक है।

भगवान् करणा रस वाले चक्रों पक्ष के समान ध्वनि कर अपने में करणा रस का अस्तित्व प्रकट करते हैं। इस पक्ष के चक्रावर्ग नाम से जात होता है कि इसने भंवर में पढ़ी हुई प्राणी के समान बहुत विशाल दु:ख भोग ते, इसलिए इसमें करणास का आविष्कार निष्कास से है।
रसों में चीथा रस ‘अद्वृत’ रस है अतः यहाँ भाद्राज पक्षी का नाम चुरुच्छ श्रेणी में दिया है। भाद्राज प्राण है। इस पक्षी का नाम भाद्राज इसलिए पड़ा कि भाद्राज का जन्म अद्वृत रस से हुआ था, इस पक्षी में भी अद्वृत रस है अतः इस समानता के कारण ही इस पक्षी को भाद्राज पक्षी कहते हैं। भगवान् भी अपने में अद्वृत रस की विद्यमानता दिखाने के लिए ही भाद्राज पक्षी जैसी ध्वनि करते हैं।

पाँचवां ‘रस’ हास्य है वह मयूर पक्षी में है इसका प्रतिपादन पहले ही (इस अध्याय के एकादश श्लोक की सुवीधिनी जी में) किया गया है। इस हास्य रस का असित्व अपने में बताने के लिए भगवान् ने मयूर जैसी केका ध्वनि कर दिखाई है।

ये पाँच रस साथ में इसलिए बताए हैं कि परस्पर अल्पक विरूद्ध नहीं हैं।

भयानक रस सर्व रसों का उपमदकर है अतः उसका पृथक वर्णन किया है।

मूल श्लोक में दिए हुए ‘सघ’ शब्द का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भयानक (रस) के आदर्श करने में यह प्रमाण प्रसिद्ध है कि व्याप्त और सिंह से डे हुए प्रणी ऐसी आवाज करते हैं जिससे सुनने वालों में भय (भयानक रस) उत्पन्न होता है। यहाँ भगवान् भी प्रणियों के बीच में व्याप्त और सिंह से डे हुए के समान ध्वनि का उच्चारण करते हैं।

मुख्य भय दो प्रकार के हैं, १-एक भय से स्वरूप का नाश होता है, २-दूसरे भय से अभिमानादि धर्म नाश होते हैं।

व्याप्त के भय से स्वरूप का नाश होता है, सिंह के भय से अभिमानादि धर्मों का नाश हो जाता है।

भय केवल दो प्रकार के ही नहीं हैं किन्तु बहुत प्रकार के हैं। जैसा कि जो प्रणी असमर्थ हैं, वे तो कट्पना मात्र से भयभीत होकर शान्त रहते हैं यह भय की पराक्षार्थ है जैसे खरगोश आदि असमर्थ प्रणी शान्त ही रहते हैं। इनकी यह अवस्था सत्ता सम्बन्ध वाली है। जो प्रणी समर्थ हैं उनकी तो जब भय उपस्थित होता है तभी भय होता है। (वे अपनी सामर्थ्य से भय का निवारण करते हैं)

रस का अभिनयः केवल क्रिया से वाणी द्वारा सुन्दर होता है। इसलिए वही निरूपण किया गया है। ॥ १३ ॥

के भाद्राज तर्क के पुत्र भाद्राज का जन्म इस अद्वृत प्रकार से हुआ है कि, भाद्राज तर्क का वीर्य ‘भृताचि’ अपस्य को देख खिलात हो गया। उसको भाद्राज ने एक द्वेष (वर्तन) में रखा उससे भाद्राज उत्पन्न हुआ। इसलिए इसको द्वेषाचार्य कहते हैं।

१-दबाने वाला। २-सीमा। ३-नाटक।
आभास - बीभत्सस्तलीलामाह कवचित्।

आभासार्थ - इस चादनवें श्लोक में बीभत्सस्तलीलामाह कवचित्।

श्लोक: - कवचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोतस्नोपबहरणम्।

स्वयं विश्रमयत्यायाय पादसंवाहनादिभिः।।१४।।

श्लोकार्थ - (ऐसे वृन्दावन में प्रसनन नन चाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) क्रीडा से हुई थकावट के कारण गोप के उत्सव को तकिया बनाकर आर्य (बलरामजी) पोड़े थे तब अज्ञातदर्श आदि से उनकी थकावट दूर करते थे।।१४।।

व्याख्यार्थ - श्रीकृष्ण स्वयं अपने जेऊड़ प्याता बलरामजी के परिष्रमः को दूर करने के लिए पादादि सकल अज्ञातदर्श से उठाते थे और आदि शव्द से अन्य कार्य, जैसे शव्या का बिचारना, उस पर विस्तार लगा देना भी करते थे। यह कार्य हीन से भी हीन था और उसको करने वाले उतम से भी उतम श्रीकृष्ण थे। उतम पुरुष यदि हीन कार्य करें तो उसको देखकर देखने वाले प्रेमियों के हुदाय में बीभत्सस्तलीलामाह कवचित्।

व्याख्यार्थ - श्रीकृष्ण स्वयं अपने जेऊड़ प्याता बलरामजी के परिष्रमः को दूर करने के लिए पादादि सकल अज्ञातदर्श से उठाते थे और आदि शव्द से अन्य कार्य, जैसे शव्या का बिचारना, उस पर विस्तार लगा देना भी करते थे। यह कार्य हीन से भी हीन था और उसको करने वाले उतम से भी उतम श्रीकृष्ण थे। उतम पुरुष यदि हीन कार्य करें तो उसको देखकर देखने वाले प्रेमियों के हुदाय में बीभत्सस्तलीलामाह कवचित्।
ये सर्व स्स भगवान् के भजन में उस अधिकार के निरूपण करने वाले हैं। सर्व स्स में (ससों में से किसी भी रस में) जिसका प्रेम पूर्ण होता है तो उसको भगवत् सायुज्य की प्राप्ति होती है अतः यहाँ से सर्व रस भगवान् में वर्णन किये गए हैं।

भगवान् बलभद्र के पादादि अर्धों के ममलने का कार्य इसीलिए करते थे कि बलभद्रजि भगवान् के साथ मह आदि क्रोड़ा करके थक काट गए थे। बलिध के साथ को हुई मह क्रोड़ा विशेष थकावट करती है। वह क्रोड़ा प्रथम अर्धों में पीड़ा करती है यह पीड़ा आदि भगवान् के विशेष बल के कारण हुई है इसका प्रतीकारः (यह पीड़ा किस प्रकार मिटती) भगवान् के सिवाय कोई अन्य नहीं जाता है। विशेष थकावट के कारण ही व्याकुलता उत्पन हुई थी उसको मिटाने के लिए किसी गोप के गोद को तकिया बनाकर आराम कर रहे थे। बलिधज्ञी इस विकल्ता के कारण ही अपने स्वामी के किए हुए उपचार को भी सहन कर रहे थे (यदि विशेष विकल्ता होती तो भी स्वामी के उपचार को कभी सहन नहीं करते अर्थात् उनको करने ही नहीं देते)। भगवान् स्वामी थे तो स्वामी होकर उन्होंने सेवक को ही देखा कर को ? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् ने बड़े भाई के नाते ऐसा किया था वह योग्य ही था || १४ ||

आभास - रैद्वसमाह नृत्यत इति,
आभासार्थ - इस श्लोक में रैद्व रस का वर्णन करते हैं।

श्लोकः - नृत्यतो गायत: क्रापि युध्यतो वल्गतो मिथः।
गृहीतहस्तो गोपालानू हसन्नी प्रशाश्वासतु: || १५ ||

श्लोकार्थः - (ऐसे वृद्धावन में प्रसाद मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण और बलराम) कहीं नृत्य करते, कहीं गाते, कहीं आपस में युद्ध करते और कहीं तो बड़पन दिखाते, गोपालों को हाथों से पकड़ कर हीसंदे थे और उनकी प्रशासा करते थे।

सुबोधिनी - महानामिव हि बीरस्सो रैद्व: स | सस्युक्त्वसमा || १५ ||
चार्चित्तचार्चित्तंप्रिभ भागवतोपनितिन्धित्यात्म इति भगवतो।

व्याख्यार्थः - जैसे महों का वीर रस क्रोध उत्पन्न करता है जैसे रैद्व रस भी क्रोध उत्पन्न करता है किन्तु भगवान् में रैद्व रस से इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न नहीं होता है। रैद्व रस से दूसरों (गोपों)

१-उपाय।
कारिका — कायवादःमानोन्मौखिकमुयुक्तम पीड़कं च तत्त्।
चतुर्थिधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा॥ १॥

कारिकार्थ — कायाः वाणिः और मन से जो योग्य है और वह जो पीड़ा कारक होने से अयोग्य है। इन चार प्रकार के मल्ल युद्धों की भगवान् प्रशंसा करते हैं।

सुबोधिनी — साधारणतःद्रोहोपर्यङ्गं, उभयुभो मल्लयुद्धं अन्यत्र वहः; तत्र कारिकं नृत्यं गानं वाचिकं वल्गनं मानसं स्वप्रवृत्तिः निष्ठुत् निति पीढारुपोक्रिया कारिकोवः कारिकासतं कार्यं निष्ठुत्संस्थः॥

व्याख्यार्थ — यह मल्ल लीला साधारण होने के कारण इस मल्ल युद्ध में दोनों भाई हैं, दूसरी लीला में बहुत हैं। इस मल्ल युद्ध में दोनों भाई हैं का होना इसलिए आवश्यक था कि वह मल्ल युद्ध अकेले से नहीं होता है, इसमें युग्मः की आवश्यकता है। अतः दोनों भाईयों ने मिल कर परस्पर मल्ल युद्ध किया था। चार प्रकार की मल्ल लीला में से नृत्य लीला काया से होने के कारण काया की लीला है, गान वाणी से किया जाता है अतः गान वाणी की लीला है, अपनी-अपनी प्रशंसा की फूलढ़ी उठाने का कार्य मन से किया जाने के कारण यह मानसी लीला है और परस्पर युद्ध करने का कार्य पीड़ा रूप होने से शारीरिक जैसा है। इस प्रकार परस्पर क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण और बलराम जिन्होंने गोपों की हैंसी करते थे और किसी गोपों की प्रशंसा करते थे, और गोपों के हाथों को पंखड़ कर उनको जताते थे कि, कोई भी क्रीड़ा में किसी का पक्षपात न करें। हैंसी करना और प्रशंसा करना भी एक प्रकार की लोक प्रसिद्ध क्रीड़ा है और जो इस प्रकार की क्रीड़ा करना जानता है, वह मुख्य क्रीड़ा समझा जाता है। श्रीकृष्ण और बलराम हैंसने से अपना सन्तोष प्रकट कर अनन्त प्रशंसा करते थे॥ १५॥

आभास — शान्तसलीलामाह कवचित्त पञ्चवत्तलपेषिति

आभासार्थ — इस श्लोक में शान्त रस लीला का वर्णन करते हैं।

—कोड़े।
श्लोक — कवचित्त पद्मवतलवृष्णु नियुक्ताश्रमकर्षितः।

वृक्षमूलास्त्राय: श्रेयं गोपोतस्थलोपबहर्षणः। ॥ १६ ॥

श्लोकार्थः — (ऐसे वृद्धावन में प्रसन मन वाले लक्ष्मीयुक्त श्रीकृष्ण) बाहुवंद्र के श्रम को जीतने वाले (वे श्रीकृष्ण) कभी वृक्षों के मूलों में नवीन कोमल पत्तों की श्रावाओं पर गोपों के उत्सवों को तकिये बनाकर शयन करते हैं। ॥ १६ ॥

सुमोहिनी — शयनो हि शान्त इव भवित नियुक्तं

बाहुवंद्र तत्र य: श्रम: स कार्तिषो येन, जितेत्रम इति॥

श्रावसः: प्रत्येकपर्यवसतीयति निरुपयन्तु भगवाननेक्रपूषणः

सर्वं वृक्षमूलस्मृतवेद गोपालाद्यमित्रायतारस्तु वह एव तत्त्वादयाः सर्वकार्ययुगपतस्तृतिसद्धिमथ्यतरूपं तत्थेवध तत्त्वेऽवत्स्य कथमान् राजाः।

तदाह बहुदर्पं, नन्द तथापि भगवान् किमित्ततः श्रावनं कृतानां वृक्षमूलास्त्राय इति, वृक्षमूलमूलेवास्त्रवेद येष्याऽर्थाः ते वृक्षमूला।

प्रमहससातानाश्रयते अत्सातन्-तत्त्वातीतिद्रिश्यते स्वभावति

प्रस्थ्यां कृतार्थकर्षं तथा कर्यतेऽत्यथ:।

लोकानामेव प्रतितितस्य शैतर्कि, वस्तुस्तातिः कोणामकैः करणायतस्त्यतः

श्रेयं गोपोतस्थलोपबहर्षणः वस्त्रेर्ते तेषु भवतः

प्राधान्यस्तःपणमुक्तिः प्राधान्यस्तःपणमुक्तिः ज्ञाप्यति, ते हि

वैष्याः अतः स्वाभावाः याकृतस्तृत:। उपबहर्षणं शिरसं

उपदानम्। ॥ १६ ॥

व्याख्या — भगवान् बाहु युद्ध से उत्पन्न श्रम को जीत कर शयन कर रहे हैं अतः शान्त जैसे हैं, शान्त होते से यह भगवान् की लोका शान्त रस प्रकट करने वाली है। इस शान्त रस का परिणामः प्रत्येक गोप में पृथक पृथक प्रकार से हुआ अतः प्रत्येक गोप ने स्वप्नों से भगवानू के लिए वृक्षों के नीचे शायाओं पृथक पृथक बिखाईं। भगवान् भी भी गोपों को साथ ही आनन्द देने के लिए अनेक रूप धारण कर सब शायाओं पर शयन करने लगे। भगवान् ने वहाँ शयन क्यों किया? इसका भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने इसलिए वहाँ शयन किया कि गृहाकृष्ण, परमहंस रूप हैं और परमहंस वृक्षों के मूल में ही रहते हैं, अतः इत्यादि से आदर्श, उन परम त्रित्यों

को कृतार्थ करने के लिए, भगवान् भी वृक्षमूल का आश्रय कर रहे हैं। लोकों को ऐसी प्रतीत होती है कि भगवान् यहाँ शायाओं पर शयन कर रहे हैं बातम में वे शायाएँ योगियों के अन्तःकरण रूप थी अर्थात् भगवान् शायाओं पर शयन नहीं कर रहे हैं किंतु योगियों के अन्तःकरण में स्थितिः कर रहे हैं। भगवान् ने गोपों के उत्सवों को तकिये बनाकर, अपना मुख्य अन्तः नहीं मस्तक, उस पर रखा

---

शेष वाक्य — गोप यों समझते थे कि भगवान् श्रम से छीं कर गए हैं अतः शायाओं पर पोढ़ रहे हैं किंतु भगवान् तो योगियों के अन्तःकरण में बिलास कर उनके मनोरंजन को (चरण सेवा रूप) पूर्ण कर रहे थे।

1-फल । 2-ढह या जलन । 3-स्थिति की । 4-गोद ।
श्री सुभोधिनी की हिन्दी टिका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवायन प्रकरण - अध्याय १

यथा शेष अप्रदान भोग ऋषियों के अन्तःकरण में स्थापन किया था। गोप, वैश्य है उनकी उपस्थिति भगवान के उरहों से हुई है अतः गोपों ने अपने धर्म के ख्यातार्थ भगवान के प्रभाव अंग मस्तक को वहाँ आश्रय दिया है। १६॥

आभास - भक्ति तस्माह पादस्वायमं चक्रु रिति, कौचित्यिदिति दुर्लभाः।

आभासार्थ - इस (१७वें) श्लोक में भक्ति रस का वर्णन करते हैं।

श्लोक: - पादस्वायमं चक्रुः कौचिदस्य महात्मनः।
अपरे हतपापमानो व्यजने: समवीजयनु॥ १७॥

श्लोकार्थ - कितनेक ग्वाल इन महात्मा (श्रीकृष्ण) के पैर दाब रहे हैं, कितनेक
निष्पाप, पत्थे आदि से बनाए हुए पंखों से हवा कर रहे हैं॥ १७॥

सुबोधिनी - अस्यति, शांतरसाधित्वकर्त्वूः। सब्बसाधित्वकर्त्वूः वा, महात्मन इति, ततोऽस्यादित्वस्य
सत्साधित्वकर्त्वूः सम्पर्काः, पादस्वायमप्रस्थान दास्य, अन्य
पुन: कर्ममार्गानुस्मारणापि भक्ति कुर्वाणा हतपापमानो
निष्पापाः, कामिणा पापसम्भवना वर्तते इति तत्ततृि-
कर्माधिकृतं हतपापमानाः इति, ते द्रास्य्योपासकाः; पूर्व तेनेव
तथाकृताः। अतो वायोऽस्मात् तदात्मायत्विति दुर्लभ्याय।
समवीजयम्, एवंविध्वंशविवास अपि भगवतसाधित्वम्
व्यवहारसंरक्षणानांभवन्त इति भक्तिसरसहिताभगवत्
एव लीला॥ १७॥

व्याख्यार्थ - कोई इन (भगवान) के चरण दाबते थे। 'कोई' कहने का भाव यह है कि पाद
दाबने की सेवा करने वाले (भक्त) दुर्लभ होते हैं। 'इन' शब्द कहने का भाव प्रकट करते हुए कहते
हैं कि, जो शांत रस का अभिनय करने वाले और सर्व प्रकार के स्तोत्र जो आस्वादन करने वाले
हैं। उससे भी (नवरसों से भी) अधिक अन्य (दशवे) रस को भी उत्कृष्ट करने में समर्थ हैं अतः वे
महात्मा हैं। उन महात्मा (भगवान) के पादों को दाबना 'दास्य' (भक्ति) है। कर्म मार्गों में यद्यपि
कुछ पाप सम्भवना रहती है किन्तु यहाँ कर्ममार्गानुसारी भी जिन्होंने भक्ति की है वे निष्पाप
हो गए हैं।

(प्राण) को ये सब आसन्य उपासना करने वाले हैं। आसन्य (प्राण) ने पहले ही इनको भगवान का भक्ति बना दिया था। अतः इन्होंने प्राण वायु के साथ वाली क्रिया से अर्थात् पंखों से वायु करते हुए भगवान की सेवा की। दोनों प्रकार के गोपों ने भगवान के सानिध्य से भक्ति रस की प्राप्ति की। यह भगवान की लीला भक्ति रस वाली है॥ १७॥
आभास — एवं स्पष्टप्रक्षानुसारोण लीलामुक्त्वा नामप्रक्षानुसारोणापि तां लीलामाहान्य इति,

आभासार्थ — इस प्रकार (१७वें) श्लोक में रूप प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस लीला कहकर अब (१८वें) श्लोक में नाम प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — अन्ये तदनुस्प्रयाणि मनोज्ञानि महात्मन:।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहकल्पन्धिधिः शाने:॥ १८ ॥

श्लोकार्थ — हे महाराज! स्नेह से आर्द्र बुद्धि वाले अन्य, (गोप) उन महात्मा के मनोहर और उनके अनुरूप चरित्र धीरे धीरे गा रहे हैं॥ १८ ॥

सुबोधिनी — भगवतोः सुनुस्प्रयाणि योग्यानि न त्वनुस्प्रयाणि, निरोधार्थतः केवलं कुलानि मनोज्ञानि मनोहाराणि भगवतो भक्तानां च, यदृ भगवता गोप्यं तत्प्राकटवं भगवतोः—मनोहरं भक्ति भक्तानां तु भक्तिमयार्गविरुढ्ध, महात्मन इति, भगवति सर्व सम्भवति, अतो भगवतमहात्मय ज्ञात्वा भगवानु कौरंतनै इतिज्ञानार्थ महात्मन इत्युक्तं, गानं रागानुसारेण भगवदगुणोपनिवन्ध्युक्तानां कौरंतं, स्मेति

प्रसिद्ध: प्रमाणं, महाराजेतसङ्क्षोध्यं राजलीललत्यार्थनाय, तेजामपि प्रेमोरघ्यं भगवतसाक्ष्यात्वे भिष्मुपार्जिन्य जात इति सर्वलीलाने तेषं प्रेमोरघ्यं स्नेहकल्पनधिः शानेिति, स्नेहं किल्ला धीरेिति, आद्वाससः स्पृंख्य सर्वमार्दिमिव भक्तिति झआ चिन्तितु सेषा गानमपि तथा जातमित्याह शानेिति एतदनेव भगवंद्वेऽला॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने निरोध के लिए जो मनोहर चरित्र किए और भक्तों के जो सुदर चरित्र हैं जो चरित्र भगवान् को प्रिय तथा उचित लगें वैसे चरित्र वे गाने लगें। जो चरित्र भगवान् गुप्त रहा चाहते हैं और जो भक्तों को भक्ति मार्ग के विरुद्ध देखने में आवे, उन चरित्रों का गान नहीं किया। यदि उन चरित्रों को गायें तो भगवान् को वह गान अप्रिय लगे।

‘महात्मा’ पद के देने का भाव बताते हैं कि भगवान् का महात्म्य जान कर ही भगवान् के गुण का गान करना चाहिये। और भगवान् में सर्व करने की शक्ति होने से सर्व सम्भव है इसलिए भी ‘महात्मा’ कहा है।

जिन पदों में भगवान् के गुणों का वर्णन है वे रागानुसार गाए जाते उनको कौरंत कहते हैं। श्लोक में ‘स्म’ शब्द से प्रमाणित किया गया है कि यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अतः वे गोप वैसे ही गाते थे।

हे महाराज! इस सम्बोधन से श्री शुकदेवजी बताते हैं कि यह राजलीला है। भगवान् के
आधास — अतः परं जीवः सायुज्यमेव प्राप्यन्तीति केः यह लीला कर्त्वया स्थाद्य उपसंहर्त्येव?

आधासार्थ — इसके (उपरोक्त लीलाओं द्वारा भगवान् में पुनः प्रेम उत्पन्न होने के) अन्यतर जीवों को सायुज्य की प्राप्ति होगी किन्तु साथ लीला की जातेः? जिनके साथ लीला की जाते वे तो रहेंगे नहीं अतः इस लीला में लीला का उपस्थापन करते हैं।

श्लोकः — एवं निगूहात्मगति: स्वामैया गोपात्मजत्वं चरित्वीद्यावन्।
रेमेः स्मालालितपाधपञ्चो ग्राम्यः समं ग्राम्यद्वीरीच्छिद्विटः। || १९ ||

श्लोकार्थः — लक्ष्मी जिनके पाद पल्लवों का लालन कर रही है और जो इस प्रकार के चरित्रों से गोपालकपन का विद्मबन्ध करते हैं तथा जो, ईश के समान चेष्टा वाले हैं, ऐसे भगवान् ने अपनी माया से अपनी गति (ईश्वरीय ज्ञान) को छिपाकर ग्राम्यों के साथ ग्राम्यों के समान रूपों की। || १९ ||

शुभोधनी — एता एव दशविधलीला यत्र कविचिद्र भगवत उप्योगिते, अग्रे भगवार्थो जातिसारी सार्थकाः च लीलां वस्त्राय नामसाङ्गे गोकुले ग्राम्यः साह क्रूर्ताय, ननु ज्ञानरूपे भगवतिक कर्मसङ्गे लीलां समयम्वति ज्ञानं तमोविरोधिताः?
तत्तात् निगूहात्मगतितिं निल्लन गूढ़ आत्मनं गतिर्विकल्पलीलां मया, स्वामयेन्द्रियम् समवे ज्ञाते, स्वाधीनमण्य गोपालमधुसुब्र जत्व्यमधु चरित्ते: कृतला विद्मबन्यत्वनशुयुतां हस्तिः, न हि गोपा एतादाय भर्तिता, अतः महान्त्यस्य नाम स्वामिन् स्थापयेन्द्रनमुक्तपाले, चरित्वीधकार्यकिनिः, विद्मबन्य चार्यायुक्तज्ञान भर्तिती माया तेथू सहकारणी किर्याते, वहूनमेव चरित्राणां बुधः प्रदर्शितानां विद्मबन्य सिध्धिः

अतः स्वरूपम् गोपपन्न गोपानुकरणं चोपहस्ते रेमेः, लोलादाय लक्ष्मिनारायण उपसंहरे बिनयोगमहाम समालालितपाधपञ्च इति, कृत्तीने पादसंवहनं पतिक्ताया धर्मः। अन्यथा समस्ततात्मा गति भविन्तता पुनरागच्छेत, अतः प्रत्यापन्त्यां-मनोविश्वसंहत्वं पादसंवहनं वक्तं एतादुशोपिनि ग्राम्यः समं ग्राम्यसानुवर्णनं ग्राम्यदेवे रेमेः, अन्यथा बिजाक्ति रस्ने नोंत्यके, ईश्वरे चरित्ते इति भविन्तायप्रयुप्ते प्रत्यापति: ईश्वरे चरित्ते इति लोकवं तु लीलोत्वम् इति भगवायुपेते प्रत्यापति: ईश्वरे चरित्ते इति तथष्ठिति भगवता कृत्तिः। || १९ ||

== पाभ होना ==
= इच्छित ==
= गीती, भोगे हुए ==
= सूक्त ==
5-अनुकरण, नकल
भगवान् की ये ही दस प्रकार की लीलाएँ जहाँ तहाँ कहीं जाती है। अगे के राजस तथा सातवः प्रकार में शुक्लदेवजी राजसी और सातवः लीला कहेंगे और तामसी लीला गोकुल में ग्रामीणों के साथ की है उसका अब वर्णन करते हैं।

जब तमोगुण ज्ञान का विरोधी है जहाँ ज्ञान है वहाँ तम रह नहीं सकता है तब ज्ञान रूप भगवान्, तामसी लीला करते हैं यह सम्भवित नहीं लगता है। इस रुहण के निवारण के लिए श्लोक में भगवान् को ‘निगृहात्मकता’ विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपनी ज्ञान लीला तिरेहित कर ली है जिससे भगवान् तामसी लीला कर सकते हैं। भगवान् ने अपनी माया से दो कार्य किए हैं, एक अपनी ज्ञान लीला तिरेहित किए हैं और दूसरे अपने चरित्रों से गोपवालकपने का विद्वन्न किया है और उसका उपहास किया है। उपहास कैसे किया? वहाँ कहते हैं कि गोपजन भगवान् नहीं बनते हैं अतः महान् (भगवान्) छोटे का (गोप का) नाम धारण कर उनकी हंसी करते हैं। ये चरित्र अलौकिक हैं, किन्तु अलौकिक चरित्रों में विद्वन्न नहीं हो सकता है, इसलिए इन चरित्रों में भगवान् ने माया को सहकारिणी बनाया है, जिससे विद्वन्न हो सका है और माया के कारण सब भगवान् को भी सामान्य गोप समझने लगे। विद्वन्न तब सिद्ध होता है जब चरित्र बहुत हो तथा पृथक पृथक प्रकार से किए जानें। अतः भगवान् अपने (ज्ञान) स्वरूप को छिपाकर और गोपानुकरण कर गोपों पर हंसते हुए समण करते लगे।

लीला के आरम्भ में (श्लोक ९ में) लक्ष्मी का आगमन और कार्य कहा है अब उपसंहार में भी उनकी सेवा का वर्णन करते हैं। लक्ष्मीजी अपने पतित्रता धर्म को पालन करती हुई क्रोड़े के अन्त में अपने पति भगवान् के चरणों को दबाती है। यदि लक्ष्मीजी इस प्रकार पति की सेवा नहीं कर तो क्रोड़े के समय समानात्मा के कारण तिरेहित हुई भक्ति का पुनः आविर्भाव हो या अतः तिरेहित भक्ति के आविर्भाव के लिए लक्ष्मीजी ने पाद संवाहन की सेवा की है। जिनकी सेवा लक्ष्मीजी कर रही है ऐसे भी भगवान् ग्रामीणों के साथ ग्राम्य रस के अनुभव के लिए ग्रामीणों के समान ही समण करने लगे। यदि आप ग्रामीण जैसे बनकर समण न करते और ईश्वर होकर ही समण करते तो समण में सस्त्र उपजा नहीं होता कारण अग्नित्व से समण में सस्त्र प्रकट नहीं होता है। यद्यपि उस समय भी भगवान् की चेष्टा वैसी ही ईश्वर की थी, केवल ग्रामीणों को स्थानांतर वैसा स्वाग कर ‘लोकवतु लोकालिवलय’ सूच में कहे हुए न्याय को प्रदर्शित किया है। जैसे राजा लोग शिकार के समय शिकारी जैसे वैसे कर शिकार खेलते हैं। वैसे ही भगवान् ने भी यह लीला की है। इस प्रकार लीला करते हुए भगवान् के भगवत तत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है। जैसे राजा के राजापने में शिकार करते हुए कोई कमी नहीं आती है॥ १६॥

आधास — एवं गोपानं संस्कारार्थ लीलां प्रदर्श्य तेषा दोषनिष्कर्णार्थ धेरुनक्वधलीलां प्रस्ताव्यति श्रीदामानामेति विनाश्या,
अभासार्थः — इस प्रकार गोपों के संस्कार करने के लिए (अलौकिक भाव की सिद्धि के लिए) उपयुक्त लीला की, अब उनके दोषों के निःकरण के लिए, धेनुक के वध की लीला की भूमिका प्रारम्भ करते हैं। यह लीला २० (२० से ३९) श्लोकों से चर्चा करते हैं।

श्लोक: — श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयो: सखा।
सुबलस्तोककृष्णाव्या गोपा: प्रेमोदम्‌बुवन्‌। || 20 ||

श्लोकार्थः — राम और केशव के सखा श्रीदामा नाम वाले गोपाल ने, और सुबल स्तोक कृष्ण तथा स्तोक कृष्ण आदि गोपों ने प्रेम पूर्वक यह कहा। || 20 ||

व्याख्यार्थः — श्रीदामा गोपाल, लक्ष्मी का रात्रि जैसा सम्बन्ध है। इसलिए ही इसका नाम (‘श्री लक्ष्मी ‘दामा’ रस्सी सम्बन्ध वाली जिसकी है) श्रीदामा पड़ा है। वह गोपाल नदंजो के वंश में उत्पत्त हुआ है और राम तथा केशव का सखा है। जिसका तात्पर्य है कि इस श्रीदामा गोपाल ने भगवान का सख्य प्राप्त कर सख्य भक्ति सिद्ध कर ली है। इस गोपाल का तीन प्रकार से सम्बन्ध हुआ है—
1-लक्ष्मीजी के सम्बन्ध से सम्बन्धी, 2-नदंजो में उत्पत्ति गोपाल होने से लीला सम्बन्धी और 3-सख्य भक्ति के कारण से सम्बन्धी हुआ है। इस गोपाल के सिवाय वैसे अन्य सुबल आदि गोपों की गिनती करते हैं। 1-स्तोक, 2-कृष्ण, 3-स्तोक कृष्ण। सुबल गोप बलभद्र का अनुयायी था और स्तोक कृष्ण श्रीकृष्ण का अनुयायी था। सुबल और स्तोक कृष्ण ये दोनों गोपों में मुख्य थे। ये सब गोप मिलकर, प्रेम से अपने अभिलिपित पदार्थ की प्रार्थना करते हैं। || 20 ||

आभास — तदाहुः।
आभासार्थः — अब प्रार्थना करतें हैं।

श्लोक: — राम राम महावाहो कृष्ण दुरुभिनिहै।
इतोडविदुरे सुमहुद वर्तं तालालितस्वकुलम्। || 21 ||

इतिहासिक विद्वानों द्वारा मान्य था कि इस गीता में श्री दामोदरानन्द शर्मा ने अपने नाम का उपयोग किया है। इस गीता में श्रीदामा गोपाल का नाम दामोदरानन्द शर्मा का नाम है।
श्लोकार्थ — हे महाबलिष्ठ ! हे राम ! हे राम ! हे दुष्टों के नाश कर्त्ता कृष्ण ! यहाँ से निकट ही ताड़ वृक्षों की पंक्तियों से युक्त बड़ा सुन्दर वन है ॥ २१ ॥

सुभोभिनी — सुबल: प्रथम निरूपित इति सर्पमार्गितः सम्बोधनां प्रथमं, कार्यिकाश्च दोपस्तेनैव दूषकर्मण्यं, महास्वितेन तस्य तस्याति: प्रकृतिपोषयोगिनी, महाशुद्धिनां च महाबलतः ज्ञातं, भगवतस्तु तद्वृत्तं महाशुद्धिनां च भवत्तीति।

व्याख्यार्थ — उपर्युक्त श्लोक में सखाओं की गणना करते हुए प्रथम सुबल का नाम दिया है, सुबल बलरामजी का समन्वय है अतः यहाँ बलरामजी को हे राम ! हे राम ! संबोधन से पहले पुकार है तथा तालवन में रहने वाला धनुकापुर देहाथ्यास का रूप है अतः काया का दोष है, काया के दोष को बलरामजी को ही दूर करना है। इस कारण से भी राम को प्रथम प्रार्थना की है। काया के दोष रूप धनुका का नाश बलरामजी करने का कारण धनुका बलरामजी महाबलवान् है। महा बलिष्ठ कह कर राम को स्तुति करना प्रकृति विषय में उपयोगी है। राम के महा बलिष्ठत्व का परिचय उसके महत्व व्यक्त करने से हो गया है। यदि राम के समान यहाँ श्रीकृष्ण को महाबलिका का विशेषण देकर उनकी स्तुति की जाती है तो उससे श्रीकृष्ण का महत्व नहीं बढ़ता। इसलिए कृष्ण का विशेषण ‘दुष्ट निबर्हण’ दुष्टों का नाशक देकर उनकी स्तुति की गई है। इस कृष्ण स्थान से धोड़ी दूर ही अर्थस्वरूप निकट ही इस वृद्धावन से भी सुन्दर तथा बड़ा तालवृक्षों की पंक्तियों से पूर्ण वन है।

आभास — ततः किमत आह फलानीति,

आभासार्थ — वृद्धावन से भी सुन्दर तालवन निकट ही है इसके कहने का आशय आप लोगों का क्या है ? इस शब्द का उत्तर देते हैं—

श्लोक: — फलानि तत्र भूरीणि पतनि पतितानि च।
सन्ति किन्त्ववर्धनि धेनुकेन दुरात्मना ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ — उस वन में बहुत बड़े बड़े फल गिरे हुए हैं, गिर रहे हैं (तथा अन्य पेड़ों में लटक रहे हैं)। किन्तु दुष्ट धेनुका ने उनको रोक रखा है (जिससे कोई ले नहीं सकता है) ॥ २२ ॥

सुभोभिनी — पातनप्रायासोऽभि नाति पतितानि सन्ति, च तानि पतितानि केनचिन्ने नीतिः किन्तु सन्तवेन, ततः हेतु धेनुकेन वर्धनिः, तात्त्विक प्रार्थनायं दानादत्तत्वस्य तपस्यानिः स न हि हेतु प्रार्थनायं तत्र प्रयज्ञित ॥ २२ ॥
सूजाभिनी की हिन्दी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवान्त प्रकरण - अध्याय १

व्याख्यार्थ - फलों को लेने के लिए फल गिराने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा कारण कि फल गिरे पड़े हैं। गिरे हुए फल शुष्क होने से उनमें ससर नहीं होगा। यदि उनमें ससर न हो तो भी कोई बात नहीं क्योंकि अब भी जो फल गिरे रहे हैं, वे फल कोई ले नहीं गया है यो ही पड़े हैं। तथा पेड़ों में भी अब तक बहुत फल है वे लेकर खाएँगे किन्तु ले नहीं सकते, धेनुक ने उनको रोक रखा है अर्थात् अपने अधिकार में ले लिया है, किसी को लेने नहीं देता है। यदि वह लेने नहीं देता है तो उससे मांग कर लो, इस पर कहते हैं कि वह धेनुक दुर्गता है, अतः प्रार्थना करने पर भी नहीं देता है। ॥ २२ ॥

आभास - किंतु न तं कोष्पि प्रार्थ्यत इत्याह सोष्टिवीर्य इति,

आभासार्थ - अतः पराक्रम के कारण उसको कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - सोष्टिवीर्याःसुरो राम हें कृष्ण कस्तप्रकृत् ।
आत्मतुल्यबलोपस्यायत्तिमिथिभिव्रृत्त: ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ - वह असुर बहुत वीर्यवाला है। हे राम! हे कृष्ण! और उसने गधे राम का रूप धारण किया है और अपने समान बल वाले ज्ञातिजन तथा अन्य भी बहुत उसके साथ में है। ॥ २३ ॥

सूजाभिनी - अतिवीर्यतानुः न कमथ्या गणयति, हीनभाववशेषे तु भक्तयेव योतोऽयमसुः। तहत्समाधयमशक्ये, इतिश्रुतं वाचयत् पुनः समृतं राम हें कृष्णोऽति, स कथा परिज्ञात्य इत्यादिश्रुतं:। खरुप्षगृहिता, न चैत्य: स: बहवक्ष ॥ ॥

भवन्त: अत: सम्भूप्यायणिक्या इतिश्रुतं वाचयित्य आत्मतुल्य-बलैदित्य बहुनां वादेशस्तब्धवच्ये कुलमेव हेतुरिति इत्याहित्यात्याविभिन्नतिः। अवेगीयापि बहुभिव्रृत्त:। तेष्यन्ये सहृशो वहव एव सजातीया: ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ - धेनुक अति पराक्रम होने से किसी को भी ध्यान में नहीं लाता है, जिससे, कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है, यदि कोई नाम होकर दीनता पूर्वक प्रार्थना करता है तो उसको अपना प्रस्तुत बना लेता है क्योंकि यह असुर है। यदि ऐसा है तो हम से भी अशक्य है? (जीता नहीं जायगा?) इस श्रुति को मिटाने के लिए पुनः राम! कृष्ण! नाम लेकर ये वाले हैं कि हे राम! आप महा बली हैं और हे कृष्ण! आप दुष्ट नाशक हो अतः आप इनको जीत सकते हो। अच्छा; हम जीत सकें ऐसा है तो उसकी रहचान कैसे? उसकी पहचान करने के लिए कहा है कि उसने गधे का रूप धारण कर लिया है। आप गोप बहुत हो वह एक है अतः आप सब मिलकर उस अकेले का
नाश कर दो। यदि राम और कृष्ण ऐसा कह दें, तो उसके लिए कहते हैं कि वह एक नहीं है किन्तु उसके साथ उसके समान बल वाले उसके बहुत जाति भाई और अन्य असुर भी बहुत हैं इसलिए हमसे उसका नाश न हो सकेगा॥ २३॥

श्लोकः — तस्मात् कृतनागराराद भीतैनृभिषिरपिश्र्वहनु।

न सेव्यते पशुगणे: पक्षिस्वैविवर्जितम्॥ २४॥

श्लोकार्थः — हे शत्रु के नाशक! मनुष्यों को खाने वाले इस दैत्य के भय से भीत, (डर कर) कोई भी मनुष्य वहाँ नहीं जाता है तथा पशु और पक्षियों ने भी वहाँ जाना छोड़ दिया है॥ २४॥

सुबोधनी — एवं तत्व चैव चरित्य प्रक्षेपत यदर्थ तदहर तस्मादिति, कुतो नर एवाहो येन, स हि मनुष्यान्वेषेयते। भक्तघ्रत्व एव तस्मादि भीतैनृभिषिरपिविश्र्वहनु, तत् वनं, तदहर्ष्विज्ञापि न गत्वानियत्तारादिक्याहुर्अनित्रित्तिति, हे कृष्णा भवानित्वभूता सोउष्णित्य इति तदहर्ष्विज्ञापि तत् शक्यं कर्तव्यं च, अर्थं धर्मं भगवानि योज्यं जागरूक एतेऽर्थं हृदि स्वरूपतिस्वप्रदौतेऽपि स्थानं समर्पितं प्रार्थययति, अन्यतैवमन्दिरणाय प्रेमविरहदलेनेऽग्निर्रेध्वैस्मृतम् "प्रेमोदममुख" विरुध्व स्वतै। प्रियस्यामिति च न स्थापितुमुचित्तितमि च, किञ्च तद्र वनं सर्वजनेश्वरेऽनेये भूचर ये चान्तिस्किरितः, अतः पशुगणे: पक्षिस्वैविवर्जिताः वार्जितं, अति ये पशुवालका ये वा देवपरिवारका: सोहवश्यं वध्यं।॥ २४॥

व्याख्यार्थः — इस प्रकार जिस कारण से उसके वीरं की प्रशंसा की उसका कारण वर्णन करते हैं। वह (प्रेमका) मनुष्यों को ही विशेष कर खाता है इसलिए उस, नर भक्तका भय से डरे हुए मनुष्य, उस वन में नहीं जाते हैं। यह सुनकर कदाचित् राम कृष्ण कह दें कि तब तो हमके भी वहाँ नहीं जाना चाहिये; इसके उत्तर में कहते हैं कि आप शत्रुओं को नाश करने वाले हों। यह भी शत्रु है, अतः उसका मारना आपका कर्तव्य है और आप उसको मार सकते हो। यह शत्रु को नाश करने वाला धर्म सदैव भगवान में जगा हुआ रहता है। यह भगवान् का धर्म गोपों के मन में नित्य स्पन्दित रहता है अतः ऐसे देश (भय) वाले स्थान में गाने के लिए भगवान् को प्रार्थित करते हैं। यदि भगवान् के शत्रु नाश करने की स्पर्शं गोपों के हद में न होती तो वे कदापि प्रार्थित नहीं करते, क्योंकि पहले कहा गया है कि "प्रेम से यह कहने लगे" वे इनके वचन ऐसे भय वाले स्थान पर जाने की प्रार्थना करने से विरुद्ध हो जाते परन्तु भगवानदेश की अन्तःकरण में स्पर्शं होने से विरुद्ध नहीं है। और उस वन में पृथ्वी पर विचरण करने वाले और अन्तरित्रेः में विचरने वाले सब जा नहीं सकते।

लेखकार — यह विशेषण श्रीकृष्ण के लिए है क्योंकि पहले श्रीकृष्ण को "दुःस्मरि" दूष नाशक कहा है।

१-पराक्रम, शक्ति। २-आकाश।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टिका – तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवात्त्र प्रकरण - अध्याय १

है अर्थात् उनके जाने के योग्य वह वन नहीं रहा है, इस कारण से पशुपालन ने तथा पक्षियों ने भी उसमें जाना छोड़ दिया है। इसलिए जो पशुओं के पालक हैं और देवताओं की पेयन करने वाले हैं उन्हीं से यह मारने योग्य है अर्थात् आप पशुओं के पालक तथा देवताओं के रक्षक हैं अतः आप इनको नाश करें जिससे पशु पक्षी और देवताओं का यह शक्ति मिट जावे और हम भी फलों का उपभोग कर सकें। || २४ ||

श्लोक: – विद्यन्ते भुक्तपूर्वाणि फलानि सुगभीणि च।
एष वे सुभिर्गीणो विषूवीनोजवगूढ़ते। || २५ ||

श्लोकार्थ – उपवन में कभी नहीं खाए, ऐसे सुगन्धित फल है। उन (फलों) की चारों तरफ फैली हुई सुगन्धिय आ रही है। || २५ ||

सुबोधिनी – किंतु तत्तथा भुक्तपूर्वाणि फलानि दियानि सदरे, क्रिच्छ्द पृथकपूर्वाणियाः हिर्म्यथा कथ तेसं कामनेति, र्षायां नर्द्रीपि भोमो बाध्यते तथापि चौर्येन भक्तां।
सम्भवति, तानि च फलान्यात्सुगभीणि, सांसर्यं तु तेसं प्रत्यक्षादसीद्रायप, तदाहं वे सुभिर्गीणा इति, विषूचीन: परित: प्रसद्धृः, अत एवर्सं गृहते। || २५ ||

व्याख्यार्थ – उस वन के फल जो आगे खाए नहीं हैं वे दिव्य (अलौकिक अथवा स्वर्गीय फलों के समान) हैं। किंतु इसके वहाँ ‘भुक्तपूर्वाणि’ पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि वे फल पहले खाए हुए हैं, यदि उन्होंने खाए न होते तो ये मीठे होंगे। यों कह कर उनकी कमान कैसे प्रकट करते, अतः नर्द्रीपि बेचुनक उसकी रक्षा करता है इसलिए वे खाए नहीं जा सकते हैं किन्तु चोरी से खाए जा सकते हैं। वे फल अत्यन्त सुगन्धि वाले हैं। उनकी सुगन्धि तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कारण कि वे चारों तरफ फैली होने से सब तरफ से आराही है। || २५ ||

श्लोक: – प्रयच्छ तानि न: कृष्ण गत्यलोभितचेतसाम्。
वाज्ञाःसीनू महति राम गय्यतां यदि रेचते। || २६ ||

श्लोकार्थ – ये कृष्ण। ये राम! सुगन्धिसे हमारे चित के में फलों को खाने का लोभ उत्पन्न हो गया है अतः वे फल हमको दो क्योंकी उनके खाने की बहुत इच्छा है। यदि आपका जी बढ़े तो आप वहाँ पठारे। || २६ ||

सुबोधिनी – एवं दुर्लभतां फलोत्स्मलं चोक्ता तानि प्रत्येक्यं प्रयञ्चते, दशों भगवानेऽव समस्य सदृश कृष्णलोकान, तन्मौल सबं व्यवाति, अन्ते प्रतिबन्धितस्वत्वार्थं परस्बं न।
ग्रहीत्यं शक्तं, तत्र का मानानं हेतुवायथात्मारिहं सामर्थ्यमेव नेर्मेऽस्य, न नेवलम्यद्येऽस्य चित्तलोप्याशः।
कितु पूर्वाणि वाज्ञाःसीनू महति, उत्सुको राम इति राम
गम्यतामित्युजां अति निर्विभो कदाचित् कोपं कुर्याद। गानुं रोचते॥ २६॥
गते चानिन्यं भवेदंत्यशाखाप्रयक्ति रोचत इति, यदि।

व्याख्यार्थः — फलों के मिलने की दुर्लभता और उनकी उत्तमता का वर्णन कर, उनको देने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं कि हे कृष्ण! हे फल हमको दो। कृष्ण को क्यों कहा कि आप हमको फल दो उसका कारण बताते हैं कि, देने में भगवान् हरी समर्थ है, सबों पर उनका ही स्वामीपन है। वन से धनुक का प्रतिवर्ष हट जाते तो भी पिले वस्तु नहीं ली जा सकती है। अतः भगवान् को देने के लिए प्रार्थना की है। फलों के प्रति की कामना का कारण यह है कि फलों की सुगन्धि ने इनका चिंत अपनी तरफ खींच लिया है। यह लोभ अब नहीं हुआ है किन्तु पहले भी विशेष इच्छा थी। फलों के लिए राम भी उत्सुक हैं इसलिए कहते हैं कि हे राम आप वन में पढ़ाए, यो कहते हुए गोपों के मन में शब्द हुई कि विशेष आक्रोश करने से राम को योग आ जाय तो इसीलिए फिर कहते हैं कि यदि आप पढ़ाए तो पढ़ाए तो पढ़ाए (यदि इच्छा न हो तो मत पढ़ाए)॥ २६॥

आभास — ततो गतावित्याहेरयतमिः

आभासार्थः — गोपों के लिए यह शब्द सुनने के अन्तर दोनों (राम-कृष्ण) गए। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — एवं सुहृदः श्रुत्वा सुहृत्यप्रियचकीर्तहि।
प्रहस्य जगमतुर्गोपावृत्तहि तालवनं श्रुत्वभु॥ २७॥

श्लोकार्थः — ऐसे मित्रों के वचन सुनकर, मित्रों को प्रसन्न करने की इच्छा से दोनों भाई हेंस कर गोपों के साथ ताल वन में पढ़ाए॥ २७॥

सुभोधिनी — सुहदं स्वभावत एवं हितं कर्तव्यं,
तज्जापि तेनं वचनं श्रुतं, अतः: सुहदासेव प्रियचकीर्ति ततः
गति, अन्यथाकलिििक्तं भगवान् निरपारिध्यं कथं मात्रैतेः?
अत: एवं भगवतं न मात्रितेपि, मित्रहिंचि कर्तव्यमातः।

प्रहस्य, तेषामाप्रियं दृश्यं दोषनिरृत्ति वायुवन्निति वा,
सामायन्यप्रियद्वितीयवे जगतु:। गोपावृत्तिः कर्तव्यार्थं
निर्धारिः, अन्यथा ति: सह न गच्छेताः, शाश्वताबार्धमाह प्रभृ
इति॥ २७॥

व्याख्यार्थः — यदापि मित्रों का हित बिना कहे हुए ही करना चाहिए किन्तु यहाँ तो मित्रों ने प्रार्थना भी की है। अतः सर्वातों के हित के लिए दोनों भाई गए। जो मित्रों ने प्रार्थना नहीं की होती और उनके प्रय करने की इच्छा दोनों भारतों को न होती, तो क्लेश बिना कर्म करने वाले भगवान्, निरपारधी
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवानत प्रकरण - अध्याय १

चेनक को क्यों मारे ? इसलिए भगवान् उन चेनक को मारा भी नहीं। मित्रों का हित भी करता है। भगवान् ने गोपों का अभिप्रय समझा था कि ये जाने का आग्रह अपने दोषों (देहायास) के निरूति कराने के लिए कर रहे हैं। इसलिए भगवान् हंसकर के जाने लगे। चेनकादिकों का वध सामान्य कार्य है इससे दोनों गए। गोपों को साथ में इसलिए लिया था कि उन का देहायास नष्ट करना था नहीं। चेनकादिकों का वध सामान्य कार्य है इससे दोनों गए। गोपों को साथ में इसलिए लिया था कि उन का देहायास नष्ट करना था नहीं। तो साथ में लेजाने की आवश्यकता नहीं थी। यदि यह श्रद्धा हो कि चेनक अति बीर्यावान् हैं और उसके साथ भी ऐसे बहुत हैं उनको मारने के लिए गोपों की आवश्यकता समझ कर उनको साथ में लिया तो इस श्रद्धा के मिटाने के लिए श्लोक में दोनों के लिए 'प्रभु' विशेषण दिया गया है कि वे दोनों, उन सबों के नाश करने के लिए 'समथ' थे। ॥ २७ ॥

आभास - तत्र गत्वा यतू कृतवत्तौ तदाह बल इति,

आभासार्थ - वहाँ जाकर उन्होंने जो किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - बल: प्रविष्ण बाहुभ्यं तालानू सम्प्रिक्षयन्।
फलानि पातायामास मत्तञ्ज इवौजसा। ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ - बलरामजी वन में जाकर हाथी के समान तालके वृक्षों को बाहुओं से गिराने को गिराने लगे। ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ - क्लेश विना ( तीला मात्र से) कर्म करने वाले भगवान् बाहिर ही खड़े रहे, बलरामजी के लिए उल्लव था कर्म करने वालों को हिंसा करने के लिए अपने हाथी के बाहुओं का उपयोग करने के लिए प्राण में जाने के लिए फल गिराने लगे, फल को हिलाने के लिए पद लगा लगे। पृथ्वी पर आगे फल गिरे और उनको गिराने की उप्रेक्षा का निर्देश था। क्यों गिराए? फल को गिराने की उप्रेक्षा का निर्देश था। क्यों गिराए? फल को हिलाने के लिए हाथी के बाहुओं का उपयोग करने के लिए फल को गिराने की उप्रेक्षा का निर्देश था।
आभास — ततो यजु जातं तदाह,
आभासार्थ — इसके अन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: — फलानां पततां शब्दं निश्चयसुसरसशः।
अथ्याधावतू क्षितितलं सनंगं परिक्षयनू। ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — गिरते हुए फलों के शब्द सुनकर वह गर्दभरूप असुर पर्वत सहित पृथ्वी को कम्यामयान करता हुआ दौड़कर आया। ॥ २९ ॥

सूभोधिनी — पततां फलानां शब्दं निश्चयसुरि।
तथ्य निर्यामने हेतुमिव सामथ्यमज समं परिक्षयनिति
सस्मोध्यम,— असुरमयक्ष्यसुरिश्वासमतार्था।
गोवर्धनसहितं सर्वमेव भूतलं परिक्षयनू। ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — पशु भी, देवी असुर भेद से दो प्रकार के होते हैं, असुरों से भी असुर पशु अधम होते हैं। असुर पशुओं में भी, असुर गर्दभ, विशेष अधम होता है। इस घेणुक ने उस विशेष असुर गर्दभ का रूप धारण किया था। फलों के गिरते के शब्द सुनकर अपनी विशेष असुरता तथा सामथ्य प्रकट करने के लिए गोवर्धन पर्वत समेत समग्र पृथ्वीतल को कम्यामयान करता हुआ निर्भय होकर दौड़ता वहाँ आया। ॥ २९ ॥

आभास — आगत् बलभद्रं ताडितवानित्याह समेत्येति,
आभासार्थ — घेणुक ने आकर बलभद्रजी को मारा, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — समेत्य तस्सा प्रत्यगं द्वार्यां पद्ध्यां बलं बली।
निहत्योरिसि काशब्दं मुखनू पर्यसरसत् खल। ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — बहुत शीघ्र आकर बलरमजी के वक्ष स्थल में पिछले दोनों पादों से लात मार कर रिकता हुआ यह बलवान देवी चारों और फिरने लगा। ॥ ३० ॥

सूभोधिनी — समेत्य मिलिता निकटे समागत्य
तस्सा प्रत्यवेद्भूतो जाते विपस्यक्षुद्वसतो द्वार्यां पद्ध्यां
बलं बलभद्रमुरूसि निहत्य ताडितविकाशब्दं रससमं
मुखनूर्वसस्य पर्यसरसत् उपलो वेत्तामिव प्रदृश्यन्त् कृत्वान।

व्याख्यार्थ — बलरमजी के पास, निकट आकर मिले, बहुत शीघ्र शरीर को फिरकर, मुख को दूसरी तरफ और पादों को बलरमजी की तरफ किया। उसके अन्तर (पिछले) दोनों पैरों को बलरमजी
के वक्तः स्थल में मासकर रिंग लगा और चाहें ओर बलासमजी को माने लेंटे हुए प्रदक्षिणा करने लगा यो (प्रदक्षिणा) क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह इनका, जाति स्वभाव है। शिशु शाह यह है कि कोई महान पुरुष फलों को लेने अपने घर में आवे तो वह आपकी अपने हाथों से स्वयं फल ले लेते हैं। ऐसी हालत में अपने घर में आए हुए कोई फलों को लेने से रोकता नहीं है, तो इसने (धनुकार्ताक) वैसा अयोग्य कार्य कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसने यह अयोग्य कार्य किया। इसका कारण, यह है कि, यह धनुकार्ताक खाल है। ॥ ३० ॥

आभासः—बलभद्रोषि स्वयमेवागात्सत्स्थान इति सकृदपारधः सोढः, तात्वात्पी स न निवृत्त इत्याह पुनरसाधिति,

आभासार्थः—बलदेवजी ने भी उसके (धनुक के) स्थान (बन) में उसका आज्ञा के विना प्रवेश किया था। उसका एक अपराध कह लिया तो भी वह रक्त नहीं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः—पुनरासाध संरक्ष उपक्रोऽध पराक्ष स्थितः।
चरणावपूर्विर राजनू बलाय प्रक्षिपाद स्वा ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थः—हे राजन! क्रोधाविष्ट शुगळ जैसे इस गद्धभ ने पुनः लौट कर उल्टे मुँह खड़ा हो क्रोध से पिछले पैर बलदेवजी पर फैंके। ॥ ३१ ॥

श्रुतियुक्ती—पुनर्वाक्यकृत गातिक्रोधसंरक्ष उपक्रोऽध शुगळतुल्यो गद्धः पराक्ष स्थितः पुनिन्वियो भूतायपैर चरणाय पुनर्लाय प्रक्षिपादः समागत ग्रंथ्ययत्वं क्रोधे निवृत्त ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थः—क्रोध से भय हुआ शुगळ तुल्य यह गद्ध फिर समस्पृप जाकर उल्टे मुँह खड़ा हो पीछे के पैर बलदेवजी पर फैंकने लगा जब तक पैर मोरः तब तक उसमें क्रोध भय हुआ था इसलिए श्लोक में 'ऋपा' शब्द का प्रयोग किया हुआ है। (श्रीता को) हे राजनू। यह सम्प्रभु सेने से दे कर बताया कि यह जो में कह रहा हूँ वह सत्य है आप को ठगने के लिए नहीं कह रहा हूँ। ॥ ३१ ॥

आभासः—तदा बलायापराध बलभद्रो मारितवानित्याह स स्तम्भिति,

आभासर्थः—जब एक बार अपराध सहन करने पर भी वह रक्त नहीं फिर भी उसी तरह अपराध करने लगा तब बलासमजी ने उसको मारा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः—स तं गुहितवा प्रपदेऽभ्रमित्वैत्तकाणिणा।
चिक्षेप तृणाराजग्नि भ्रामणात्यक्तजीवितम्। ॥ ३२ ॥
शलोकार्थ - बलगमजी एक हाथ से उसके पिछले पादों को पकड़कर फिराने लगे, फिराते-फिराते उसके प्राण निकल गए तब उसे ताड़के वृक्षों पर फेंक दिया ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी - प्रपोधः पादायमृगौऽवृत्तेत्वा वाजनमेव तस्मातः प्रभवतां अस्मा नवोऽवृत्तेत्वा त्वदब्रह्मस्यायेत्वा तालस्वश्वरोपसि प्राहिलयोऽद्य वत्सः। त्यल्लॉ जीवितम् थेर ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ - बलगमजी ने उसके पिछले पादों के अग्रभाग (ऐँठ) को एक ही हाथ से पकड़ कर फिराते फिराते बाल के वृक्ष के ऊपर फेंका जैसे भगवान् ने वत्साकुर को ऊपर ही फिराते प्राण हीन कर दिया था वैसे ही बलभद्रजी ने भी धनुकाकुर को फिराते हुए उसके प्राण ऊपर ही निकाल दिए थे इसलिए श्लोक में ‘श्रीमण त्यक्त जीवितम्’ कहा है (धुमने से जिसके प्राण निकल गए हैं वैसे को) ॥ ३२ ॥

आभास - पूर्व तु फलान्ये व पत्नीदानी तु वृक्षः स्वयमपि पतिता इत्याह तेनाहत इति,

आभासार्थ - पहले तो फल ही गिरते थे अब तो वृक्ष भी स्वयं गिरने लगे इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: - तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिरः।
पार्श्वस्य कम्पयनः भगोः स चार्यों सोऽधो चापस्यः ॥ ३३ ॥

शलोकार्थ - इस दैवत के शरीर के पड़ाने से कम्पायमान पास के ताड़ को भी कमित करता हुआ, बड़े शिर वाला वह ताड़ का वृक्ष गिर पड़ा, उससे दूसरा गिर पड़ा, और उस (दूसरे) से तीसरा गिरा ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी - तेन बलभद्रशन सम्बन्धेः सा आसमन्तादातो महातालोपि वेपमानो जातस्तो बृहच्छिरः।
स्थूलार्थस्य: कम्पने सिरोभविवक्षायातः स्वपार्श्वस्य वृष्णः। कम्पावत्रेव मद्ये भगोः सोऽधो पूर्वब्युः वेपमानोऽपि: पार्श्वस्य
कम्पयनः भगोः सोऽधोऽध्ययनः: एवं सा पंक्ति: स्वपां।
पतितेश्चार्थः: ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ - बलभद्रजी से अथवा रामानं देखे से चारों ओर से घायल बड़ा ताल का वृक्ष भी ऐसी कमित हुआ जो बड़े शिर वाला होते भी सिर तहे में असमर्थ हो गया, पास चले वृक्ष को
कमिति करता हुआ बीच से दूर गया, वह पास वाला भी कांपता हुआ अपने पास ग्याले को कम्पायमान करता हुआ स्वयं दूर पड़ा, वह भी ऐसे ही टूट, इसी तरह दूसरा भी तथा सारे पक्ष इसी प्रकार गिर पड़ी।

आभास — किन्तु न केवलमेका पक्ष: पातिता किन्तु सर्व एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह बलस्येति,

आभासार्थ — केवल एक ही पक्षव गिरा दी हो ऐसा नहीं, किन्तु सब वृक्षों को कमिति कर दिया।

इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: — बलस्य लीलोद्वृक्षकर्ताहताहता: ।
तालालशकयपे सर्वे महावातेतिता इव ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — बलरमजी ने लीला ही से फेंके हुए गर्दन के देख से ताड़ित वृक्षों से जो अन्य वृक्ष ताड़ित हुए थे वे सब ताल वृक्ष ऐसे कापने लगे जैसे मानो महावायु से कम्पायमान किए गए हों। ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ — यह बलरमजी साक्षात् बल रूप है, इससे उनके लीला से भी फेंके हुए गर्दन के देख से जो ताल वृक्ष गिरा उस ताल वृक्ष से चारों तरफ से आहत हुए ताल के सब पेड़, महावायु से जैसे कम्पायमान होने वाले कापने लगे। एक पेड़ पर गर्दन के देख की चोट लगी उस एक के सम्बन्ध से चारों तरफ सब पेड़ कियों कम्पायमान होने लगे? इस शंका के उद्देश्य पर कहते हैं कि, बलरमजी की कृपया शक्ति स्वर्णित होने से एक दूसरे में पैलती हुई शान नहीं हुई। इसकी (बलरमजी की) कृपया शक्ति जहाँ भी पहुँची उसके सम्बन्ध से वहां स्थित कृपया शक्ति भी प्रकट हो जाती थी उसका अन्याय स्पर्श होने से वहां भी स्थित शक्ति प्रकट हो जाती है जैसे कार्य में अभिन एक स्थान से प्रकट हो तो वह स्पर्श से अन्त्य भी प्रकट होती रहती है यहाँ अभिन का दृष्टान्त देकर वायु का दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है कि अभिन स्पर्श करती है तो अपने आधार (काळ) को।
भी नाश कर देती है अतः अग्नि का दुर्घटन न देकर, अग्नि के समान धर्म वाले वायु का दुर्घटन दिया है। कारण कि जैसे बलभद्रजी की क्रिया शक्ति जहाँ जाती है वहाँ गुस्सा क्रिया शक्ति को जगाती है तैसे महावायु भी जहाँ जाता है वहाँ गुस्सा रूप से स्थित वायु को प्रकट करता है वह भी महावायु बनकर दूसरे गुस्सा को जगाता है इस प्रकार गुस्सा शान्त वायु भी महावायु वायु का रूप धारण करती है।

आभास — इदं बलभद्रचरितमार्थयमिव मत्वा समाध्ये नैतिवचिन्तिति,

आभासार्थ — इन बलदेवजी के चतुर्थ की आश्चर्य जैसा माना जाता है अतः उसका इस श्लोक में समाधान करते हैं कि—

श्लोक: — नैतिवचित्रं भगवति हानते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोत पदेद्वै यस्मिष्टतुष्यब्रह्म यथा पद: ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ — अन्न और जगदीश भगवान् के इस कार्य करने में कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि सकल जगत् उनमें (भगवान् में) ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे तनूमों में पद ओतप्रोत है।

सुबोधिनी — नेत्रिक रूप बलभद्रस्य किन्त्वचिन्तित्यि भगवति:, तदह भगवति नैतिवचिन्तिति, किष्किष्कास्, स्वर्णसंह तत्त्वाभिनाममाध्येत्यि भगवात् यं कालं स्मृत्या जगदेव काले? किस्मतं जगदीश्वरे, अर्थ जागता नियता, इश्वरयज्ञेय सर्वं काले? "यद्यदृश्वाति वाति वातोऽव्" मितिविवेकायाना, प्रथमाध्यायेयानं भवतृत्वत्तुमेतिस्मृत्या सहस्रविन्यासे।

भगवानस्य कृतवान्, अन्यथा बाहुम्यं कम्य एव वृक्षप्रदा प्रवेशं किस्मतं यथस्मार्थसंह तत्त्वाभिनामाध्येत्यि भगवात् तत्त्वाभिनामाध्येत्यि भगवात् यं कालं स्मृत्या जगदेव काले? किस्मतं जगदीश्वरे, अर्थ जागता नियता, इश्वरयज्ञेय सर्वं काले? "यद्यदृश्वाति वाति वातोऽव्" मितिविवेकायाना, प्रथमाध्यायेयानं भवतृत्वत्तुमेतिस्मृत्या सहस्रविन्यासे।

व्याख्यार्थ — यह कर्म (लीला) बलभद्रजी का किया हुआ नहीं है किन्तु उनमें आविष्कार भगवत्त्वकृत्य हुआ है। अतः कहते हैं कि भगवान् में इस प्रकार लीला करने से कोई आश्चर्य नहीं है, और यह अन्त है अर्थात् सर्व का संहरार करने वाला संकारण है, उसने ताल वृक्षों को (भय से) कौन्सलस्य किया इसमें क्या आश्चर्य है? कारण कि उसके काल्स्वकृत्य के स्मरण से समग्र जगत् कांपता है, और वह जगदीश्वर होने से सकल जगत् का नियता हैं। सब देवता ईश्वर की आज्ञा से ही डरकर अपने कार्य में संलग्न रहते हैं। जैसा कि कहते हैं कि ‘यद्यदृश्वाति वाति वातोऽव्’ जिसके भय से वायु वातारे हैं।
धेनुक ने बलरामजी को प्रथम प्रहार किया तब तक केवल बलरामजी थे। उस प्रहार की व्यवहार मिटाने के लिए उपाय दूढ़ने पर भगवान् का दिया हुआ उपदेश (इस अध्याय के श्लोक ५ से ८ वाला उपदेश) स्मरण करने पर उन बलभद्र स्वरूप में भगवान् का आवेश आ गया तब इस प्रकार कर सके अर्थात् धेनुक को पकड़ कर फिरते हुए ताल पर फेंक दिया जिससे सब पेड़ कंपित होकर क्रमशः गुटने लगे। यदि यह कार्य भगवान् ने आवश्यक होकर न किया होता, अकेले ही बलदेवजी ने किया होता, तो इससे जब बाहुओं से पेड़ों को हिलाया था तब बुखार टूट जाते थे वैसा अब न होने से यह सिद्ध होता है कि यह कर्म बलरामजी में आविष्ट भगवान् के संकर्षण स्वरूप का है, और आहंकरण के अभिमानी अधिकार संकर्षण स्वरूप में सकल जगत् ऐसे ओत्रोत् हैं जैसे तन्तुओं में पत्र ओत्रोत् हैं। जैसे वस्त्र में तन्तुएं दो प्रकार की होती हैं एक दीर्घी दूसरी तिर्यक्कू होती हैं। दीर्घ तन्तु ओत्रोत् होती है और तिर्यक्कू तन्तु ओत्रोत् होती हैं वैसे ही समग्र जगत् भगवान् में सम्बंधित तथा प्रथित हो कर ओत्रोत् है। अतः भगवान् ने केवल हस्त चलाने से जब स्वयं जगत् का कमित्र होना था योग्य है अर्थात् हो सकता है तब केवल वृक्षों की यह दशा हुई तो इसमें किसी प्रकार के आश्रय की बात नहीं है। ।। ३५ ॥

आधार्य - एवं धेनुकवर्ध भगवतसामाध्य चोक्ता प्रसज्ञातूत तत्तमचन्द्रिमान सर्वेषा वधमाह तत्तिति,

आधार्यार्थ - इस प्रकार धेनुक का वचन और भगवान् के सामाध्य का वर्णन कर इसी प्रसज्ञातूत में उसके सब साधियों का भी हुआ उस वचन का वर्णन अब करते हैं।

श्लोक: - ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोषारोऽभ्यदनृ सर्वं संरक्ष्या हत्वायन्त्वात्। ।। ३६ ॥

श्लोकार्थ - फिर धेनुक के नाती जिनका बन्धु मर गया है वे सब गधे (श्लोक में क्रोष्णः शब्द दिया है जिसका अर्थ गीत्तां होता है, यहाँ गीत्तां की नहीं फिर क्रोष्णः शब्द कहीं दिया है) इस शब्द का निवारण श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने यों किया है कि जो गर्भभोग गीत्तां के समान धन्ति करते हैं उनको भी क्रोष्णः कहते हैं) क्रोष्णः में आकर गांव और कृष्णः पर आक्रमण करने लगे। ।। ३६ ॥

---

२ वै मे। ३ लम्बी। ४ तिथि। ५ ताने वाली।
६ चैते वाली।
व्याख्यार्थ - वे (धेरू के समबंधी) तो बहुत यूर्ब्ध थे, जो समबंधी धेरू के वध से दुःख हुए थे। इसी कारण क्रोध में भर गये थे। उन गीदड़ने (गीदड़ जैसी ध्वनि करते वले गर्व) थे अव: इनको गीदड़ कहा गया है) राम और कृष्ण पर आक्रमण किया, शलोक में 'च' दो बार आया है उसका आशय है कि उन्होंने गोपों पर भी आक्रमण किया। उस वक्त राम और कृष्ण प्रत्येक गोप के पास उपस्थित थे, जिस से राम कृष्ण पर बहुत स्थानों पर बहुत बार आक्रमण हुआ।

आभास - तद्नुभ भक्तरक्षार्थ सर्वनिव मार्तितनकाव्यायास्तासनिति
आभासार्थ - तदनन्तर भक्तो (गोपों) के रक्षार्थ कृष्ण तथा राम ने उन को मारा, जिसका चरण इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — तांत्रानापत्तजात: कृष्णो रामज्ज नृप लीलया।
गृहितपश्चाचरणानूः प्राहिणोतूः तृणराजसुः।

श्लोकार्थ - हे नृप! जो जो गधे, सामने पास आए, उनके पिछले पाँव पकड़ कर राम और कृष्ण ने लीला ही से उनको ताड़ वृक्षों पर फेंक दिए।

व्याख्यार्थ - जो जो आगे आते थे उनको क्रम: मार देते थे, कृष्ण के पास जो आते थे उनको कृष्ण मारते थे और जो राम के पास आते थे उनको राम नाश करते थे। यहाँ भी 'नृप' सम्बोधन पूर्व के समान दिया है (अर्थात्त इस बात को प्रेम पूर्वक समझाया है कि यह कहीं हुई बात सत्य है) इनके (धेरू के सर्व सम्बन्धियों के) वध करने में राम तथा कृष्ण को किसी प्रकार का श्रम नहीं हुआ था, इसको बताने के लिए कहा है कि 'लीलया'लीला से' उनको मारा था। पिछले पैरों को पकड़ने का भाव यह था कि उनके प्राण अन्तर्ग्रहित में ही निकालने थे। और ताड़ के पेड़ों पर फेंक कर ताड़ के वृक्षों को नाश करने का आशय यह था कि ये पेड़ इस दुष्क ने पाल कर बढ़े किये थे अत: ये रहने नहीं चाहिए। राम तथा कृष्ण एक ही स्वरूप है इसको समझने के लिए ‘प्राहिणोत’ यह क्रिया एक वचन में दी है यदि दो होते तो दिवचन देते।

1 - खेल के समान क्रिया से।
आभास — ततो यजू जातं तदाह फलप्रकारः

आभासार्थ — इनके अन्तरं जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं

श्लोक: — फलप्रकारस्तु दैल्यदेहेर्गतासुभि: ।
राज भूः सतालाग्रेघैरैव नभस्तलम् ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ — (उस समय) पृथ्वी फलों के ढेर से, मरे हुए गर्दमों की लोधों से और ताप के पेड़ों की शाखाओं से वैसी शोभित होने लगी जैसे बादलों से आकाश शोभित होता है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी — फलस्मृहः सद्दृष्टां दैल्यदेहेर्गतासुभि: सद्दृष्टां ध्वस्ता भण्डा ये तालाग्रेघारसिस्तिसं तैतृपिसु
एतीथेः सद्दृष्टां तलं भूतानं राज शोभामेव प्रातिवं, न तु भूषाबो
कारचिन्द्रा, तत्र दृश्यान्ते ग्रहेन्ह इवेति, निम्नलं नमं: सुर्यसहितः

चन्द्रनक्षत्रसहितं यथा शोभते तथा घरैर्पिप सम्ब्रह्म शोभां
भण्डां सर्वजनापेशाविष्माणवात् त्रीणयथेतानि नीलाः
वानिरनां सुभाविदुपः, अतिनिलानि फलानि रासभास्तु
धुसरस्तालाग्राप्च रथामा मेवा अपि तथेव ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ — फलों के समूहों से, मरे हुए दैल्यों की लोधों से और ताप के पेड़ों से टूट कर गिरे
हुई शाखाओं से छाया हुआ वह पृथ्वी का तल शोभित होने लगा । इनसे पृथ्वी की कुछ भी शोभा
नष्ट नहीं हुई । इसको दृश्यान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे निर्मल आकाश, सूर्य अथवा चन्द्रमा तथा ताराओं
से जिस प्रकार सुशोभित है उसी प्रकार बादलों के सम्बन्ध होने पर भी वह सुशोभित हो जाता है
उसकी शोभा में बादलों के आने से कोई कम नहीं आती है कारण कि बादलों की तो सारी जनता
को अपेक्षा है । ये तीनों ही नीले रंग की अवार्त जातियां हैं जैसे ताल के फल आसमानी रंग के
होते हैं, रासभर धुसर रंग के होते हैं, और ताल के पेड़ की शाखाएँ श्याम होती है वैसे ही मेघ के
इसी रंग के होते हैं ॥ ३८ ॥

आभास — तत् कर्म तयोः सर्वजनस्त्रसिद्धम जातमिति ज्ञापकमाह तयोऽरिति,

आभासार्थ — इन (राम और श्रीकृष्ण) का यह कर्म समस्त जगत में प्रसिद्ध हुआ इसको ज्ञात
के लिए यह श्लोक कहते हैं ॥ ३९ ॥

श्लोक: — तत्योस्ततू सुमहत् कर्म निशाम्य विबुधादयः ।
मुमुचुः पुष्पवर्षणिः चक्रवर्त्याणि तुषुवः ॥ ३९ ॥

१ — आसमानी । २ — गर्दम, गच्छ ।
श्लोकार्थः — राम तथा कृष्ण का यह बड़ा कर्म देखकर देवादिकों ने पुष्पों की वृष्टि की, बाजे बजाए और स्तुति की।

सुबोधिनी — सुमहत कर्म धेनुकवचलकश्च चक्रस्वाभव्यः, त्रिविधानं त्रयं हर्षिन्धानं, अनेन देवानं विवेधादयो ग्रन्थवादियः पुष्पवर्षणं मुनुलवार्थिकानि।

व्याख्यार्थः — उन दोनों का धेनुक वध रूप महत कर्म देखकर, अथवा जानकर गन्धर्व आदि देवों ने पुष्पों की वृष्टि की बाजे बजाए और स्तुति की। तीन प्रकार के देवों के ये तीनों कार्य हर्ष प्रदर्शक हैं। जिससे देवताओं ने यह बताया कि भगवान् ने धेनुक का वध उनके हित के लिए किया है।

आभास — एवं सपरिकोरे धेनुकलवृष्टि निरूपितः; भगवति तु तालफलानि न ददानि परं स्वेच्छ्यैव सवैःविश्वक्षित्कियः

आभासार्थः — इस प्रकार सपरिक धेनुक के वध का निरूपण किया। भगवान् ने अपने हाथ से किसी को तालफल नहीं दिया किन्तु सबों ने अपनी इच्छा से लेकर फलों को खाया, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — अथ तालफलान्यादनू मनुष्या गतसाध्वसाः।

तृणं च पश्वश्रेष्ठतथे धेनुककाने। ॥ ४० ॥

श्लोकार्थः — अनन्तर जिस वन में धेनुक मारा गया था उस वन में मनुष्य निर्भय होकर फल खाने लगे और पशु भी डर छोड़कर घास चरने लगे।

सुबोधिनी — अथैतिको भिन्नैप्रकृतमेव, तालफलान्यादनू तु तृणं न शुक्के भवतीति, चक्रातुष्ट पक्षिणोपिः सुखिनो सर्वं एव मनुष्यं गतसाध्वसार्थं जाताः।

पश्वश्रेष्ठः, हतो धेनुको यत्र तादृशे काने, तत्र छाया

व्याख्यार्थः — अथ शब्द कहकर यह बताया है कि अब यह प्रस्तुत पृथक् प्रारम्भ होता है। जहाँ धेनुक मारा, वैसे वन में, मनुष्यों को फल लेकर खाने में किसी प्रकार का अब डर नहीं रहा अतः निर्दर होके फलों को लेकर खाने लगे। वहाँ घास हो जाने से घास हस ही पड़ा रहा था जिससे पशु भी हस घास प्रेम से खाने लगे। श्लोक में आए हुए ‘च’ शब्द का भाव आचार्य श्री बताते हैं कि इससे (‘च’ देने से) जाना जाता है कि केवल मनुष्य और पशु निर्दर होकर भोजन करने लगे यों नहीं किन पक्षी भी सुखी हुए। वे भी फल खाने और खाया में विचरने से आनन्दित हुए। ॥ ४० ॥

— भिन्नः ॥
आभास — एवं वनलीलामुक्ति पुनः भगवं कृष्ण: समागमनमाह कृष्ण: कमलप्रशाश्न ।

आभासार्थ — भगवान् ब्रज में पढ़ाई उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — कृष्ण: कमलप्रशाश्न: पुष्पश्रवणकीर्ति: ।
स्तुयमानोजुरुगीर: साग्रजो नामः ब्रजमार्जयत् ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — जिनका प्रवण और कीर्तन पूण्य प्रद है, वैसे कमल दल लोचन कृष्ण, गोपों द्वारा स्तुति करते हुए बलगामजी के साथ ब्रज में पढ़ाई गई ॥ ४९ ॥

शुभोधिनी — कृष्णो ब्रजदासाधनिः सन्तों नामः महानन्देशुर्रुतस्त:।
देवतालकारं विष्णुसां भक्तिः कथा लाव दूरासन्मौलाहृताः।
कृष्णो नमः सत्यसन्नाताः कथा िरादासाधनिः।

व्याख्यार्थ — भगवान् का ब्रज में पढ़ाई व्रजवासियों के लिए महान् आनन्द का कारण है। व्रजवासियों तो इतने समय से भगवान् के विरह के कारण तथा होने से दुःख हैं। उनका बह दुःख भगवान् के लिए मिटायेंगे, जब दुःख को मिटाकर तब भगवान् का आना उनके मुख का कारण बने। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के नेत्र, कमल के पत्त के समान, विशाल हैं। जैसे कमल पत्त ताप को बुझाते हैं चैंस पर आप कमल जैसे नेत्र की दृष्टि मात्र से ताप को मिटाया लाते हैं। जब तक विश्व ताप का कारण भूत आध्यात्मिक कः पाप विद्यामान है तब तक कार्य रूप विश्व ताप कैसे मिटाते हैं। इसलिए उत्तर में कहते हैं कि आपके प्रवण और कीर्तन से वे पाप ऐसे मिट जाते हैं। जैसे जल का प्रवाह गतियों को साफ कर बाहर फेंक देता है। भगवान् के गुणों का अमृत पूर्ण कथा रूप प्रवाह श्रवण द्वारा हदय में जाता है वहाँ जाकर जो

† लेखकार — इस श्लोक में ‘विह’ ताप कहा है जिसे दूर करने का काम है,—आने वाले श्लोक में दूसरे प्रकार का ताप कहें ।

* लेखकार — भगवान् दृष्टि से संयोग दान का संरक्ष करते हैं जिससे विह ताप मिटता है।

‡ लेखकार — मद आदि।
भी कश्मलः होता है उसको खींच कर, कौर्तन करते हुए मुख द्वारा बाहर निकाल देता है। इस प्रकार किनने ही काल पर्यंत आवृत्तिः करने से सर्वथा ही मनुष्य शुद्ध हो जाता है अथवा आध्यात्मिक पाप निवृत्तः हो जाते हैं जिससे कार्य रूप विरह ताप तो स्वर्गः ही नष्ट हो जाता है अतः कहा है कि भगवान् 'पुण्य श्रवण कौर्तनः' है। पुनः राष्ट्राः होती है तो भगवतकीर्ति का ज्ञान कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्तुवमानोऽसुधुः'
भगवानूः के अन्तरंग भक्त और गोप सदैव भगवानूः की अलौकिक (रहस्य लीला) तथा लौकिक प्रकार से स्वतंत्र करते ही रहते हैं अतः भगवतकीर्ति का ज्ञान इस प्रकार स्तुति रूप से प्राप्त हो सकता है जिससे नित्य ग्रेम करने से प्रतिवेद्ध आध्यात्मिक पाप भी नष्ट हो जाते हैं। भक्त और गोपालिक जिसके साथ स्वतंत्र करते आ रहे थे ऐसे भगवानः बलरामजी को आगे कर आप पीछे होके व्रजः में पथरों, यों करने का कारण यह है कि धनुष का वर बलरामजीने किया था अतः पहले भगवानः पीछे बलरामजी इस क्रम से पृथक् पृथक् नहीं आए।

आभासः — आगच्छन्तं भगवन्तं चर्णयति तं गोरजश्चुरितकुर्तलोति—

अभासार्थः — व्रज में पवारे समय जैसा भगवानः ने स्वरूप धारण किया था वैसा वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तं गोरजश्चुरितकुर्तलबन्धवन्यप्रसूनसचिरेशेणचाराहसम्।

वेणुं क्वान्तमभूणार्गुणीकीर्ति गोपो दिद्रृशितदूशोऽध्यक्षमन् समेतः।

श्लोकार्थः — भगवानः के दर्शन की इच्छा बाली दृष्टि से युक्त गोपियाँ, जिनके केशों में गौओं के खुरों की रज लग रही है, मोर पिच्च और वन के पुष्प गुँथे हुवे हैं, हास्य तथा नेत्र सुन्दर है और जो मुसली बजा रहे हैं तथा जिनके पीछे पीछे अनुचरः यथा गा रहे हैं वैसे भगवानः को चारों ओर से घेर रही थी।

नुबौधनीः — तं भगवन्तं गोपोऽध्यक्षमन्त्रिसम्बन्धः,
पूर्वः पुरुषाध्यक्षस्यसहितः दशरसस्यस्यलेली च प्रार्द्धाः,
सा गौपिकार्यमम दृष्टि पौरोषिकाणि भवति तान्त्रिकत्वात्सिद्धः
चतुर्दशमयंकारो भगवानः निरूपये ततः गोरजशुरितकुर्तलोति}

व्यासनी क्वान्तलानि वस्ये ति पुरुषार्थलोला प्रतिमादित, गोरजाध्यक्ष गोपाध्यक्ष गौपिकाणि।

लेखकारः — श्रवण और कौर्तन से पाप रूप कश्मल बाहर निकाल जाता है स्वरूप से पाप नष्ट नहीं होता है।

निबन्ध में आचार्य श्री ने इस प्रकार कहा है।

१ - पाप, मैल।
२ - अभास।
३ - बाहर निकाल जाते हैं।
४ - भक्त।
भगवान की अलकें गोर से व्याह्य थी, इस विशेषण से पुरुषार्थ लीला का प्रतिपादन किया है, जैसे कि ‘गौ’ से धर्म, रज से अर्थ, व्यास से काम और कुन्तल से मोक्ष बताया है। अतः सदिव पृथक रहते हैं और सत्य (भगवान के स्वरूप) के आश्रय करने वाले होने से मोक्ष रूप हैं। जिन (जीवों) के धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं उनको ही मोक्ष को प्राप्त होती है इसलिए लोक में चारों (गौ, रज, धूरित, कुन्तल) का समाव निम्न किया गया है।

चतुर्विधः पुरुषार्थ की लीला दिखाकर, अब द्विविध रस सम्बन्ध वाली लीला दिखाते है। दश रसों में से प्रथम, “शृङ्ग” झार रस की सम्बन्धिनी लीला, ‘अलक’ ‘रज’ और ‘गौ’ उपयोक्ता इन

द व्याह्य भगवान की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवात प्रकरण - अध्याय १
रहते हैं तीन अंशों से दिखाते हैं । 'अलक' 'कामरूप' ¹ 'रज' रजेश्वर रूप है और 'गौ' ³ अनुभावक है । इन से पुष्प शृंखल रस का निरूपण हुआ है ।

मयूर पिंजू का बनन 'बीर' ⁴ तथा 'अदुलुत' ⁵ रसों का भोग करता है । वन में उत्पन्न पुष्पों का समन्ब ² भागान ⁶ और 'सुदार' ⁸ रस उत्पन्न करते हैं । सुदार दृष्टि करणा ⁹ रस उत्पन्न करती है । मनोहर हास 'बीर' ¹ रस उत्पन्न करता है । महानुभव जब इस प्रकार का विशेष वेश धारण करते हैं, जिससे और 'अलक' मुक्त रहते हैं । अलक मुक्त होने से, भक्त जनों के मन कहीं अन्यत्र चले गए हो तो भी वे मन ये अलक की शोभा देखकर वहाँ आकर्षित हो कर आ जायें, इस प्रकार भगवान् अलकों द्वारा इन भक्तों को तपासक करुणापालन का दान देते हैं ।

इस लिंगा में गौ, रजःकृष्ण, व्यास और अलकों के दर्शन से क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्थिन पुष्पाशों का भक्तों को अनुभव हुआ ।

---

¹ - लोक में यह प्रसिद्ध है कि कोई भी, जब रीतिक का उत्तम रस भोग करते देखता है, तब उसको भी तत्त्व भोग करते का चाह होती है । यद्यपि भगवान् के कुलन (अलक) आपके श्री मुखरूप कमल के चारों तरफ प्रभावित सुशोभित हो रहे हैं तथा जो भी इनके दर्शन करते हैं उनके भागों में उदीपन (वृद्धि) होता है इससे ये कुलन काम रूप हैं ।

"कामरूप" अर्थात् काम का तिरुलक अथवा काम को जागृत करने वाला है ।

"लेख"

² - गौ के द्वारा उद्रेक हुए रजःकृष्ण 'काम उत्पन्न' करतें हैं, तथा ये जंतु रजः, शृंखल रस के उदीपन होने से 'रजेश्वर' रूप है ।

"लेख"

³ - गौ भगवान् के साथ सदैव रहती है तथा इनके देखने से भगवान् का सप्रभाव होता है जिससे मन दूर रहती है यह वर्तमा से चृतवर्तक भगवान् के रस का अनुभव करती है इसलिए गौ अनुभावक (रस का अनुभव करते व्यक्ति) हैं ।

"कामरूप" अर्थात् काम का निरूपक अथवा काम को जागृत करने वाला है ।

"लेख"

⁴ - मयूर पिंजू उत्साह उत्पन्न करते हैं तथा ये वीर रस प्रकट करता है ।

"प्रकाश"

⁵ - भगवान् ने मोर पिंजू बाम्हा है यह देख कर सबको विश्वास उत्पन्न होता है इसलिए यह 'अदुलुत' रस है ।

"प्रकाश"

⁶ - दुर्गा स्थान में उत्पन्न होने से वहाँ से लाना धर्मकर है तथा इनके देखने से भगवान् रस उत्पन्न होता है ।

"प्रकाश"

⁷ - ये पुष्प कभी इस प्रकार घरे हुए हों जो देखने में अच्छे न लगने से 'हास्य' रस उत्पन्न करते हैं ।

"प्रकाश"

⁸ - सुदार दृष्टि के दर्शन से मन में पश्चाताप होता है कि हाँ । हमने इसे समय तक इसके दर्शन ही नहीं किया जिससे 'करणा' रस हदय में उत्पन्न होता है ।

"प्रकाश"

⁹ - मनोहर हास से किसी अधिकारी को 'बीर' रस उत्पन्न होता है ।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टिका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय १

नाटक का अवशिष्ट सर 'बीभत्स' ४ रस उत्पत्ति होता है। भगवान् वेणु बजाते हुए ब्रह्मानन्द प्रकट करते हुए ब्रज में पदार्थ है तब उससे 'शान्त रस' प्रकट होता है। अन्तरर्ग भक्त भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं जिससे 'भक्ति' रस प्रकट होता है।

इस प्रकार सर्व सर 'युक्त्भक्ति' प्रेम श्री पुरुषोत्तम पुनः देखने की इच्छा युक्त दृष्टि चाली वे गोपियों वहाँ ही खड़ी रहें। वहाँ ही खड़ी क्यों रहें? उसका कारण प्रकट करते हैं कि जब भगवान् को साधारण रीति से सबों के संग में देखा जाता है तब भगवान् दर्शन तो देते रहते हैं किन्तु अपने सर्व सर्वोपरि रसों को प्रकट कर दर्शन नहीं देते हैं। जब भगवान् अकेले होंगे तब एकान्त में पढ़ोरे हुए भगवान् का सर्व रस सहित दर्शन करेंगी इस आशाएं से वे गई नहीं, खड़ी रहें। इसी कारण से प्रथम, दर्शन, न कहकर समागम कहा। समागम में जो दर्शन होता है वह दूसरों के अवशेष में होता है। इसलिए इसके पृथक निरूपण को अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है।

वह कार्य एक का नहीं था। इसलिए उन सबों ने मिलकर भगवान् को घेर लिया था।

आते समय पहले गी उनके पीछे बलभद्री जिनके नेता है वैसे गोप थे। इसके अन्तर्ग जो पीछे गोप भगवान् के साथ थे। उनको गोपियों ने भगवान् से अलग कर कहा। स्वयं सब ने भगवान् को घेर कर, भगवान् को बीच में लेकर सबों के साथ आने लगी। वे गोप सबसे पीछे आते रहते थे। ॥ ४२ ॥

आभास - तत्त्वत्त्व यतः कृत्यसत्त्वं तद्यथा पश्चात् भगवतो ब्रजे समागमम् निरूपयति पीतेिति,

आभासार्थ - गोपीजनों ने जो कुछ कृत्य किया उसका वर्णन कर अब इस श्लोक में भगवान् के ब्रज में आने का निरूपण करते हैं।

श्लोक: -पीत्वा मुकुन्दमुखसागरमातिभृजैस्तायं ज्ञहुविरहं ब्रजयोथिौधि ।
        तत्त्वकृत्य तस्मिन्निमित्तवरसो सब्रीडासविनयं यदपाद्यमोक्षमू ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ - ब्रज की खियों ने मुकुन्द भगवान् के मुखार्विन्द के मधु का...

1 - भगवान् के इस प्रकार के ब्रज को देखकर जुगुस्ता (ग्लानि) उत्पन्न होने से 'बीभत्स रस' उत्पत्ति होता है।

"प्रकाश"

2 - भक्तों के दर्शन से रूपात्म भगवान् की सेवा रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।

भगवान् के कीर्ति का गान सुनने से नामात्म भगवान् का 'सेवा' रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।

"लेख"

"बाकी"
अपने नेत्र रूप भ्रमरों से पान कर दिन में लज्जा, हास तथा विनय सहित कथाकों से रंग में पधारे ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी - आदी तापापनोदनार्थ गोपीजन-वालभसरसः कस्मावेर्चियुक्तायाः वैणामूर्ति पावत्वं अन्यथा न गच्छति, गते हि तापे सरसादेनं, बहत्सप्ते मित्रनादेभ गतं, स प्रेयमाने सरस यदि तापहस्तको मिश्रक भवति तदेव भुवनेन पावतु शक्यः, तत्च तोऽऽके नासितः, दृष्टादेव युपादिजनकच्चादेन, जतं नीर्महस्तः पावतु न शक्यः तत्र, उभयात्मकमपि यदि परिपृष्टे सुखं न भवति तदानि न समीचीनः, अतो भगवाल्लाभावेत सर्वभुगविशेषांशिष्यां, मुकु-दो मोधइतः जािनरुः: श्रण्ं, अतो नायेन दीपजनकः प्रायुप मोधान्यायुः, मुख हि भक्त्यात्मकं भवति, अतः स्वेतादृ बहुआनं सम्भवति, तत्र सार्थः, सर्वदा मधुमशिकाः, तता सर्वे यस्मि: पुरे भयो ससं समानोयैक्तं मधु क्रियते तदम् कोटाकथा मिश्रति, अन्यायात्मकं तु मधु न द्रवीभूतम् भवति, गर्भाभुतं च पावतु न शक्यः, ब्रह्मादेवोऽच्छ सर्वं हुत्याच सर्वं: सर्वादशोष्या:। तैत: सर्ववै दस्यप्रकरणेष्या: परमानंदं समुद्रस्वयंक्रियानं दनिन्द्रोधित: सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित अनन्त एकीभूतवर्त शिखः इत्यतः, ब्रह्मादिभिः: श्रुतिभिः: प्राच्यन्ते भागवानना:। रसस्तु गोपिकाधिकारेण भुक्तः, त एव हि ससं जान्ति ये तदेकोपाणाविनो भवति, ते भृजः: न तेपायमन्दहिन्साक्षमवतित प्रत्यात्मात्मात्मा नास्येव, के वलमन्त्र पराण्ममणातः, तथा गोपिकानमापि चक्षूंपि परिप्रभुति सर्वं, विजयीकुर्विन्त भगवनमुखलाभावो मूर्तेमेव, अत आहारश्रुतः। अतनं गोपिकानमापि ज्ञातिः सह साजयामापि निहृतिः, पानं वहिः स्वतंत्र द्रव्यत्वस्यान्त: निवेदङ्क्तं, नेत्रापानमापि स्वतो सत्यिष्ठयित्वानाय भृजः। तथा सति स्वतोऽपि प्रणवित्वभविति, अन्यत्र च न विद्योः: सिद्धति, गोपिकानमापि देवतात्वाद्यनांतपि पानं सम्भवति,
करणा रूप तरसे उछल रही है वैसे गोपीजनवल्लभ रूप सरोवर से लावण्यमूर्त का पान अवर्ग तर्कवर्ग है। यदि इस लावण्यमूर्त का पान नहीं किया जाएगा तो विरह ताप नहीं मिलेगा। जब ताप नष्ट होगा तब ही रस का आस्मादन हो सकेगा।

बाहिर का ताप तो भगवान् के साथ मिलन होने पर मिल गया। भीतर का ताप लावण्यमूर्त रस का पान कर दिया गया।

जिस रस का पान किया जाए वह रस ताप को मिटाने वाला और मिट होता है तो विशेष योग्यता जा सकता है, किन्तु लोकिक कोई रस भेंसा नहीं है। दूध मिट और ताप हारक है, परन्तु तृणादि जनक दोष वाला है इसी प्रकार जत भी वर्तक के समान ज्यादा योग्य नहीं जाता है तात्पर्य यह है कि मिट और ताप हारक होते हुए भी परिशाम में सुखदायी न होने से उनका पान करना अनुच्छेद नहीं है। अतः भगवान् का लावण्यमूर्त रस ही सर्व गुणों वाला है, इसका वर्णन करते हैं। यह लावण्यमूर्त रस, ज्ञान रूप तथा शैतं वाले से निरोध है और अनु में मोक्ष देने वाला भी है। भगवान् का मुखारविन्द रूप भवनात्मक है, अतः भक्ति स्नेह रूप द्रवीभूत तत्व होने से उसका पान प्रेम से विशेष किया जा सकता है।

यह लावण्यमूर्त रस, मुकुन्द के मुखारविन्द का मधु है। जैसे मधु-मधुकारिकाँ सर्व पुष्पों से रस को चूस कर ले जाती है और उस रस को व्रीक्ष के चोटों में स्थापित करती है वह मधु द्रावीभूत है। अन्य जाती का मधु धनिष्ठ नहीं होने से पीने योग्य नहीं होता है। वैसे ही यहाँ ब्रह्मादिक देव रूप मधुमक्षिकाओं ने तथा शृंगत मधुमक्षिकाओं ने सकल शाखाओं के प्रकरणों में स्थित, परमान्द रूप मधु (आनंद रस) को, वहाँ से लाकर इस स्वरूप में धरा है, अर्थात सर्व प्रकरणों में प्रति पादित्व आनंद इकट्ठा हो कर, यहाँ आकर कृष्ण स्वरूप में प्रकट स्थित हुआ है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मादि देवताओं की तथा शृंगतों की प्रार्थना से भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं।

उस प्रकट रस स्वरूप के रस का गोपिकाओं ने ही उपभोग किया है। जो, उस रस पर ही जीवन धारण करते हैं, वे ही, उस रस के स्वरूप को समझते हैं। वे धामर हैं उनके (भ्रमरों के) देह का निर्बोध करने वाले कोई अन्य पदार्थ नहीं है इसलिए उनका दूसरे किसी से समबन्ध भी नहीं है। वे दूसरे स्थानों पर केवल भ्रमण करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार गोपिकाओं के नेत्र रूप भ्रमरों के देह का निर्बोध करने वाला मुकुन्द के मुखारविन्द का मधुर रस ही है। अतः वे नेत्र रूप भ्रमर अन्यत्र भ्रमण करते हुए भी भगवान् के मुखारविन्द के लावण्यमूर्त मधु को ही ग्रहण करते रहते हैं। इसलिए कहा है कि गोपिकाओं ने नेत्र रूप भ्रमरों से, मुकुन्द के मुखारविन्द रूप मधु का पान किया। इस प्रकार कहने से यह बताया है कि गोपीजन भी शृंगतों के जाति वाली है अर्थात् गोपीजन शृंगतों हैं।

1 - करना चाहिए। 2 - पूर्ण स्वाद की प्राप्ति। 3 - भक्ति स्वरूप। 4 - समझा कर निर्णय किया हुआ।
बाहर स्थित द्रवपदार्थ का शरीर के अन्दर प्रवेश करना पान कहा जाता है। नेत्र, स्वत: रस के अभिव्रुत हैं इसको जताने के लिए नेत्र को ‘ब्रज़’ कहा है। नेत्र ब्रज़ है इस कारण से ही उनकी रस पान में स्वतः (गोपियों की प्रेणा विना) प्रवृत्ति होती है। दूसरे किसी वस्तु में प्रवृत्त नहीं होते हैं। गोपीजन, देवता होने से, दूसरे (नेत्र) से भी पान कर सकते हैं। अतः इन्हें समय तक, हमने इस रस का स्वाद नहीं लिया, इस चिन्ता से जो ताप उत्पन्न हुआ है, वह (ताप) लाभयामृत रस से जब पूर्ण शिति से अन्तःकरण पूर्ण होगा, तब निवृत्त होगा। इसके सिवाय, अन्य जो त्रिविध ताप था, वह भगवान् के दर्शन मात्र से मिट गया था, शेर रहा विरहज़ ताप, वह अब स्पर्शन कर मिटाया है।

गोपिकाओं ने विशेष ताप क्यों उत्पन्न किया? क्यों नहीं भगवान् के सानिध्य में सदैव रहती थी? इस शक्ति को मिलाने के लिए गोपिकाओं को ‘ब्रजयोगिता’ कहा है। ‘ब्रज’ की त्रियों विवेक रहित, और यथाशीर्ष होने से सारा दिन गोपालों के साथ गोष्ठ में रहती थी और यह स्वाभाविक अन्यत्म जाने में बाधक है। इन कारणों से सत्रिृधि में नहीं रह सकती थी जिससे विरहताप हुआ।

तदनतर इकट्ठे गोपियों का उनके मध्य में स्थित भगवान् के प्रति जो कर्मचार है वह कहना अशक्त है। अतः संशोधन में कहा है कि गोपियों ने भगवान् का अच्छा सत्कार किया। भगवान् ने उनके किए हुए सत्कार को स्वीकार किया। जो कुछ चारों तरफ समालिंग्न आदि तथा भगवद्वैभव से भी जो कुछ हो सका वह सब सत्कार शब्द से कह दिया है। प्रत्येक गोपी ने पृथक पृथक् जो सत्कार किया उसका अनुभव कर अच्छे प्रकार से गोपीजनों को कृतार्थ कर, भगवान् ने गोष्ठ में प्रवेश किया।

गोपीजनों ने किस प्रकार का सत्कार किया? यदि सत्कार लौकिक भोजनान्वित से किया हो तो भगवान् का ‘गोष्ठ’ में पधारना व्यर्थ ही है और लौकिक का भी बाध होता है। अत: जिस प्रकार से विशिष्ट सत्कार किया, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका विश्लेष वर्णन नहीं किया जा सकता है। किन्तु सूक्ष्मसे कहते हैं कि ‘सब्रीड़ास विनय’ जल्ला, हास्य और विनय सहित कटाशों के झालने से सत्कार विनय मुखार्विन्द में ही रस है, उस मुखार्विन्द का रस पान जैसा अथवता (गुण स्थान) में प्राप्त किया जाता है वैसा वर्णन वहाँ करना (होना) अशक्त होने से नहीं किया है।

कटाश मोक्ष के भी पृथक पृथक प्रकार होते हैं। जैसा रस अद्भुत करना हो वैसा कटाश मोक्ष होता है। भगवान् किस प्रकार का अभिव्रुत करते हुए इस का विचार करती हुई प्रथम बार ही आई हुई गोपी के मुख रस के अद्भुत तीन रसों का वर्णन करते है। (१) ब्रीड़ा से रस प्रादुर्भाव होकर जव
पुष्प होता है तब (२) हस्त होता है और अन्त में (३) विनय होता है। इन तीन पक्षों से वर्तमान, प्रत्येक रस अनेक प्रकार का है, इस कारण से यह भगवान् का दिव्य प्रभाव कहा गया है। इसके वर्णन करने में लोकिक प्रकार (दृष्टि) से किसी प्रकार के औचित्य का भवन न हो अतः सूक्ष्म में (सत्कृति) शब्द दिया है। भगवान् जगत् के पूर्ण है। प्रत्येक गोपी ने अपने अधिकारानुसार भगवान् का सत्कार किया है। गोष्ठ में आने के अन्तर भी सत्कार हो सकता था तो मार्ग में ही सत्कार करे किया? उसके उत्तर में कहते हैं कि यह ‘गोष्ठ’ है गोपी के ब्रह्म का स्थान है। वहाँ इस प्रकार से गोपिया सत्कार नहीं कर सकती थी तो भी भगवान् के प्रभाव से जैसा उचित बन सका वैसा घर में भी किया।

अभास तत्वपि सत्कारो जात इत्यादि तयोरिति,
आभासार्थः गोष्ठ में भी सत्कार हुआ जिन्का वर्णन इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — तयोर्यशोदारोहिण्यो पुत्रयोऽ पुत्रवत्सले इव।
यथाकामं यथाकालं यथात्तं परमाशिषः।। ४४।।

श्लोकार्थः — पुत्रों पर प्रेम वाली यशोदा और रेघिणी, दोनों पुत्रों को इच्छुनुसार तथा कालानुकूल बड़े-बड़े आशीर्वचन कहने लगी।। ४४।।

श्री सुभोधिनी की हिंदी टिका — तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवान्त प्रकरण — अध्याय १

**गोष्ठ में आने के अन्तर सत्कार न करने का कारण यह भी था कि भगवान् ‘संस दान’ संसार रूप पर में नहीं करते हैं।

“प्रकाश”**
आभास - तत उपचार गताध्वानश्रमाविति,
आभासार्थ - तदनन्तर गोष्ठ में जो उपचार हुए उनका वर्णन करते हैं।

श्लोक: - गताध्वानश्रमाय तत्र मन्जनोमयदनादिभिः।
नीवी भस्मि तस्च सर्वा दिव्यस्मग्नथमणिद्वातृ ॥ ४५ ॥
जनन्युपह्तं प्राश्य स्वादुमुन्यपलालाति।
संविश्य वर्षव्यायां सुख सुषुपतुर्व्रजे ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ - वहाँ ब्रज में, स्नान और मर्दने से मार्ग में हुई थकावत
जिनको मिट गई हैं उन (राम-कृष्ण) दोनों भ्राताओं ने सुन्दर नीवी3 पहनी और दिव्य
पुष्पों की मालाएं गले में डाल, ललाट पर चनन चरच जननी के लाए
हुए स्वादिष्ट अन्न का भोजन कर, माता से ललित (दुलारे) हुए, सुन्दर शय्या
पर लेत आनन्द से पोधे ॥ ४५-४६ ॥

सुबोधनी - मन्जनायुमर्दनादिभिः, उमदर्मादिभिः
मन्जनानां, चान्दस: प्रातिरीकतः, मन्जनं वा पादयोः, मन्जने
वोन्दनादिताः, रजोनिवृत्तथायोः वा मन्जनं, प्रातीर्थाकाव्यः
श्रमः, नीवी महामायसु शरीया स्थिनार्रादिनिर्मिता,
दिशेन सर्गपासविना च मणिन्तै जाती मध्ये धितश्चादो-
देवायस्तान्तः ॥ ४९ ॥

सुबोधनी - पक्षाण्वुपह्रत प्रश्नयेति रेशमाया
सामानीतः, प्रायशो भयवतो बलभद्रेऽवेच सह भोजनं, अस्मायाद्
ध्रुपेमकेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यं, प्रश्नयेतिः कोमलं
पुराणादिकं सूचितं, तत उपलालितो विश्वारंभं: सर्वं रेव, 
सर्वं वर्षन्युपहारस्तेंवमुवर्त, वर्षव्यायां संविश्येति
रात्रकृत्यमुवर्त, जनसंवर्तिः। सह गवनरङ्गेयायस्तान्तः
सुषुप्तुमिति, लोकाकामी सम्पूर्णा निरुपिता, ब्रजे हि नातिनं
धर्मप्रायस्तः, अतो न रात्रिकृत्य किष्ठुमां, ब्रजस्तेंवित-
सिद्धवेदैः कथने सम्पूर्णा ब्रजे स्वप्रप्रियायभि: सहवथं
सुस्थयं ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ - श्लोक में ‘मन्जनोमयदनादिभि’ पंक्ति में मन्जन और उमद दो शब्द हैं। लौकिक
व्याकरण के अनुसार उमद मर्दन शब्द प्रथम आना चाहिए, किन्तु यहाँ मन्जन प्रथम आया है उसका कारण
यह है कि यहाँ वैदिक व्याकरण के नियम को लागू किया है। अथवा प्रथम केवल दो पैरों को ही
स्नान करके अनन्तर उबतन कर सर्व महादेवों को स्नान कराया। (अथवा मार्ग में आते रज से महादेवों
को स्नान कराया।) अथवा मार्ग में आते रज से महादेवों मलीन हुए थे अतः पहले उस मैल को निकालने

१ - सेवाएँ।  २ - मालिक।  ३ - काछनी।
के लिए स्नान कराया पन; तैल फुलेल आदि से उबटन कर दूसरी बार स्नान कराया।

इस प्रकार के संस्कार श्रम निवारण के लिए किए गए थे किन्तु यह श्रम की प्रतीति मात्र थी वास्तविक श्रम नहीं था।

तदनन्तर उन्होंने जैसे महाकाली पहनते हैं, वैसी सुन्दर काली माता के पीताम्बर दिया। बनी हुई को धारण की, दिव्य मालाओं तथा गंगाधर चरबकर सुहोभित हो। ये देखनें, माता के लाभ हुआ दुर्गम अनादि का कोमल भोज्य, बलभद्र श्री के साथ प्रशान किया। भगवान् बहुत करके बलभद्र श्री के साथ ही भोजन करते थे। अनन्तर पितादि सर्व बाणाओं ने उनको दुलार किया अर्थात् लाड़ लड़ाए। इस प्रकार की क्रिया से भगवान् ने सबों पर अनुप्रयोग प्रकट किया। अब रात्रिच्छया का वर्णन करते हैं कि ‘सुन्दर शाय’ पर पोढ़े। इस प्रकार पृथक् शायन कह कर दिखाया कि मातादि के साथ शायों में शायन का निषेध है। यहाँ दिन का समय कृत्य कहा है किन्तु रात्रि का कृत्य नहीं कहा है उसका कारण बताते हैं कि ब्रज में धर्म की विशेष प्रधानता नहीं है किन्तु धर्म की प्रधानता है इसलिए रात्रि का कृत्य नहीं कहा।

यथापि रात्रि का कृत्य स्पष्ट नहीं कहा तो भी ब्रज में ‘सुख से पोढ़े’ केवल धर्म की इतनी तीला कहने से रात्रिच्छया ज्ञात हो जाती है कि भगवान् ने सम्पूर्ण ब्रज में स्वप्रियाओं के साथ शायन किया। ॥ ४६ ॥

आभास — एवमाहिंकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैष्णविंकं भगवत्कृत्यं वक्तुः कालियं-हरदगमनार्थ प्रस्तावनामाहैवं स भगवानिति,

अभासार्थ — इस प्रकार भगवान् के आहिक कृत्य का वर्णन कर अब भगवान् के अभिलिपत्ति विषय का कृत्य वर्णन करने के लिए कालीय हेद पर जाने की भूमिका इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक: — एवं स भगवान् कृष्णो वृद्धानवचरः वचित्तू।

ययौ रामपुरोर राजन् कालिन्दी सरिखिभिवृत्त: ॥ ४७ ॥

† ४५ श्लोक में जो संस्कार हुए वे अभिकारी देवों ने गुप्त रूप से किए है तब: इस श्लोक में माता ने किए ऐसे नहीं लिखा है।
‡ श्लोक में ‘जननी’ शब्द एक वचन में दिया है इसलिए भोजन लाने वाली माता एक ही थी, वह कौन थी? इस शब्द का निर्बंध भी ‘जननी’ शब्द से किया गया है। श्रीकृष्ण को तो किसी ने जना नहीं है किन्तु राम को श्रीहिं ने जना है अतः भोजन ‘श्रीहिं’ लाई थी यजोदा नहीं लाई थी।
* अन्यथा ब्रज में शणन तो बिना कहे भी समझा जा सकता है परंतु बिना कहे गृहाशय को जानना कठिन था अतः ‘ब्रज में शणन किया’ यह अलग से कहना पड़ा।
श्लोकार्थ – अरुण! इस प्रकार सखाओं से आवेष्टित वे श्रीकृष्ण, राम के बिना अकेले एक दिन वृद्धावन में घूमते हुए कालिन्दी पर पववर ॥ ३७ ॥

श्रीमद्भागवत – दशम स्कन्ध – द्वादश अध्याय

शुबोधिनी – एवं निरोधार्थ वृद्धावनचर भगवानु जात: तत्र हैं: स भगवानिनि, स इति निरोधार्थेऽमात:।
भगवानिनि साम्यर्थः, कृष्णांचितामनः नेन सर्वदुरुग्णः
यूक्तमन्दिरश्चेष्यते’ निवाचयार्थ बोधितुं प्रवृत्तिचालिते, कदचित् कदाचित् कार्तमेऽध्वजस्वो व तत्कार्य स्वसाधेयवै ॥

व्याख्यार्थ – व्रजस्थियों के निरोधार्थ ही, भगवानु वृद्धावन में घूमते थे। कारण कि आप (भगवान) सर्व सम्यर्थ (निरोध आदि करने के लिए सम्यर्थ) है और आप (कृष्ण) के लिए ही गर्भावर्धन जो ने कहा है कि इनके द्वारा आप संबंधों को पार करेंगे अत: इस वाक्य को सत्य करने के लिए आपको प्रतिव अन्वेषण करनी उचित है। कभी अथवा किसी स्थान पर जो कार्य आपसे ही हो सकने योग्य समझा उस कार्य के लिए राम के बिना ही आप अकेले कालिन्दी पर पववर ॥ वन, पर्वत तथा कालिन्दी, (यमुना) दोनों के पास था किन्तु उत्तरकाल में प्रयासः  कालिन्दी के पास वाले वन में ही सखाओं के साथ गौओं को चर्चा किया था। इससे यह बताया कि सखाओं का स्वभाव भी भगवानु के समान था इसलिए भगवानु अपने समान स्वभाव वाले सखाओं को चर्चा भी नहीं सके, उनको भी साथ ले कालिन्दी पर पववर ॥ यदि सखा वैसे न होते, तो भगवानु उनको सोने अकेले आप ही पववर ॥ ३७ ॥

आभास – एवं सम्भूयुतानां मध्ये भगवानन्यैव स्थित: भिन्नप्रक्रमेणैव गायो गोपालां गता इत्याहाये ति,

आभासार्थ – इस प्रकार मिलकर गए हुए भगवानु, गोप और गौओं में से, भगवानु एक स्थान पर खड़े हो गए और गोप तथा गौ अन्य क्रम से जाने लगे ॥ इस प्रकार का वर्णन इस श्लोक में करते है।

श्लोक: – अथ गायवश गोपालां निदानगात्पपीडिता: ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्त्यास्तृषार्थ विषदृष्टिम् ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ – अनन्तर ग्रीष्म के आते से पीड़ित तथा तृषा से व्याकुल गौओं और गौपों ने विष से दूषित यमुनाजी का दुष्ट जल लिया ॥ ४८ ॥

१ - बहुत करें। २ - गाय।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवातार प्रकरण - अध्याय १

श्री सुबोधिनी - कर्मचिद वृक्षाचायां भगवत स्थान गताधारां पिल्ला पायविलो चाली दत्तततवरी, सा हि यमणीन्वतो दुर्गानार्ध्वपि स्थान दत्तततवान, च दोषोऽन न तस्य: किन्तवयकृतं इत्याह विशेषितादि पीडिता अथि विशेषितानं दृष्टं दृष्टं, उपश्चिमशिंदिनां दृष्टं तद्धिर विशेष: ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ – श्लोक में ‘अथ’ शब्द देखकर बताते हैं कि अब दूसरे प्रसाद का प्रारंभ होता है।

गोपगान भगवान को वृक्षों की छाया बाले किसी स्थान पर उठाया कर, आजा लेकर गई तिहे, हम गोबाहों को पानी पिलाकर तथा द्वारं पान दर्शा कर आते हैं। भगवान् ने उनको समझाया थी, दूर जाकर पानी पीना किःतु विशेष स्थान यहाँ ही पीने का निशेध नहीं किया। वे छाया को गर्मी से व्याकुल थे अतः यहाँ ही यमुना का दृष्ट जल पीने लगे। उसने (यमुनाजी ने) यम की भगवती होने से दृष्ट को ही स्थान दिया था। यमुना के जल में जो दोष हुआ था वह यमुनाजी का नहीं था किःतु दूसरे का किया हुआ था। इसलिए कहा है कि यमुना का जल विशेष से अल्पत दूषित हुआ है। अल्पत दूषित इसलिए कहा है कि उषातां, स्पर्शां आदि से भी जल विषाणु है किःतु यह विष से बिगड़ा है इसके लिए विशेष बिगड़ाना कहा है ॥ ४८ ॥

आभास – पानफलमाह विशाम्भ इति

आभासार्थ – इस श्लोक में विशे के दृष्ट जल पीने से जो फल दिला उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: – विशाम्भसंदुप्सृप्य देवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्वश्च: सर्वे सलिलाने कुलुहद ॥ ४९ ॥

देवोपहतचेतस: – हुकूम्हन! देवसेप चतुर्वेदी होनें उन्हीं। वेष संहृत कला का उपस्थितनः किया जिससे वे प्राण रहित होकर जल के तांत्रिक ही गिर पड़े ॥ ४९ ॥

देवोपहतचेतसः, सलिलसमीपेश्चजल एव निपेतुः, कथि पट्टो हृदरुक्तो प्रेमक्षेत्रयुद्धगतिः युद्धज्ञानक्षतायुयु, दुर्घर्गं निबोद्धाणान्त नाशो भवताचिकुक्षुकेन च दिव्याकार्यत:। विश्वासार्थ सम्बोधनम् ॥ ४९ ॥

† टिपणी आगे के ८२ पृष्ट पर है।

१ – दोषावला, २ – प्रारंभ से, ३ – स्नान पानादि का केवल स्पर्श,
व्याख्यार्थ - यद्यपि उन्होंने जल में स्नान, वा जल का पान अथवा केवल जल का स्पर्श ही किया त्योंही प्राण रहित हो के जल के समीप आधे जल में गिर पड़े। उनकी अभी आयु तो थी फिर निष्पात कैसे हुए? इसके उत्तर में कहा है कि उनकी आयु इतनी ही थी, विशेष नहीं थी, इसलिए प्रारंभ ने इनकी विषयुक्त जल को पैने की बुद्धि कर दी। यद्यपि धनुक के वध से दोषां दूर कर दिदे थे, तो भी शेष रहे दोषां की सन्तति को भी नाश करना आवश्यक है। दोषां का नाश दुःख कर्म द्वारा ही होता है। अतः लक्षण पुष्प कर्म से दिव्य भाव को उत्पत्ति होती है। राजा परीक्षित को 'कुल्लुह' विशेषण देकर यह बताया है कि आप कुल्लुवंश में हो इसलिए आपको इस कथा पर विश्वास करना चाहिए। II ४९ II

आभास - ततो भगवत्कृत्यमाह वीष्येति,
आभासार्थ - इस सौकू में भगवान के लिए हुए कृत्य का चरणन करते हैं।

श्लोक: - विश्व तानू वै तथाभूतानू कृष्णो योगेश्वरेष्वरः।
ईश्वरमृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्। II ५० II

श्लोकार्थ - उनका निर्शय से इस (मृत-प्राण हीन) दशा को प्राप्त देखकर योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्णने, अमूर्त वार्ष करने वाली अपनी दृष्टि से, जिनके आप नाथ हैं, उन सबको, सम्यक प्रकार से जीवित किया। II ५०।।

सुबोधिनी - स्वाभावतोर्लिपि जानाति तथापि क्रीडायान साधनं वक्तव्यमितिः योगेश्वरेष्वर इतुवर्णे, योगस्वामिन विषया, योगेन हि सवर्भं ज्ञानं भवेति, तत्रायं तिर्यकः, किं पुनः स्वजने वक्तव्य इत्यर्थं: योगेश्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर इत्युपेष्वरणामपरेष्वर। तत्त हेतु: कृष्ण इति, सचानादस, तानू निरधारथमानीतानु वै निरधारयेन तथाभूतानु।

व्याख्यार्थ - यद्यपि भगवान स्वाभाव से भी जानते हैं कि इनको कैसे जीवित किया जा सकता।

पूर्णुक के वध से देह का अध्यास मिटाया जिससे पुनः देह की प्रासि नहीं होगी। किंतु जब तक ‘लिङ्ग’ देह है तब तक दोष संतति ‘पुनः पुनः’ मिटेगा नहीं अतः विश्व पान द्वारा ‘लिङ्ग देह’ नाश करके सदृश के लिए देह प्रासि मिट्ठा होगा।

‘लेख’

पूर्णुक के वध से देह का अध्यास मिटाया जिससे पुनः देह की प्रासि नहीं होगी। किंतु जब तक ‘लिङ्ग’ देह है तब तक दोष संतति ‘पुनः पुनः’ मिटेगा नहीं अतः विश्व पान द्वारा ‘लिङ्ग देह’ नाश करके सदृश के लिए देह प्रासि मिट्ठा होगा।

‘लेख’

१ - पंकज।
आभास — तेषां पूर्वस्मादू वैलक्षण्यं तद्वृपता च प्रतिपादयति त इति,
आभासार्थ — उन (गौ तथा गोपों) का पहले से भिन्न प्रकार का और पहले जैसा रूप इस श्लोक में जरूर करते हैं।

श्लोक: — ते समप्रतितस्मृतयः समुन्धाय जलान्तिकात्
आसनूः सुविस्मितः सर्वेन बीक्षामाणः पर्यर्गम् ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ — जिनको पुनः सम्प्रकार से स्मृति आ गई वैसे वे जल के समीप से उठकर, पर्यर्ग देखते हुए विमय करने लगे ॥ ५१ ॥

सुभोभिनी — त एवं जीवः, सम्प्रतीता स्मृतियां, अनुसंधान ग्रामम्रत्व भविः परं सर्वगृहास्तुपत्व: सर्वेन न भविता-जाधिनोदिकेभविभावपातः सर्वं भृतियुक्तं जातः,
अतः समुन्धाय जलान्तिका परिवर्त्य विदेशार्थं गताः

व्याख्यार्थ — वे वे ही जीव थे अतः इनको पूर्व सृष्टि पुनः होने लगी जिससे वे कुछ विचार करने लगे कि हम कौन थे? कहाँ थे इत्यादि, किन्तु पूर्वतथा वह इसको समझ न सके, यह इतनी सृष्टि भी आध्यात्मिक भाव को प्राप्त होने के कारण हुई थी। अतः उठकर जल का समीप वाला स्थान छोड़कर, दूसरे प्रदेश पर गए वहाँ अवस्था विस्मय को प्राप्त हुए। भगवान् ने उनमें वह विशेषता उपजी की थी जो उनको नूतन देख दी थी; जिससे उनको विस्मय हुआ किन्तु भगवद्ग्वर निवृत्त होने के अनन्तर सब

---

1 - अच्छे, सुंदर प्रकार से। 2 - अलौकिक।
परस्पर लैंसे देखने लगे जैसे कि एक दूसरे को जाग्रत करने पर देखते हैं कि यह क्या हुआ है? ॥ ५२ ॥

आभासा — अत एवोदबुद्धणाः पूर्वसिद्धं सर्वेऽपि सत्तवत्तं इत्याहान्यमसस्तेतिः।

आभासार्थ — परस्पर इस प्रकार जाग्रत करने से उनको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान हो गया जिसका चरण इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — अन्वमंसत तदू राजन गोविन्दानुग्रहेश्तितम ॥

पीलवा विष्णु परेतस्य पुनस्थानमात्मनः ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थः — हे राजन्! विष्णु के पान से मरे हुओं ने अपना पुन: उठकर खड़ा होंगा (जीवित होना) भगवान् के अनुग्रह रूप दृष्टि से हुआ है यो माना ॥ ५२ ॥

सुन्दरीमय्यी — स्वयमेवानुपानं कुत्तवतं: प्रायेणं भविष्यतीतुज्जोशिक्तवतं:।

स्वस्मं पुनस्थानामिति, भगवत्कुप्रानुवाेश्यैनैव जातमिति

स्वस्म्य रूपातितत्वस्तः, भगवान्महावस्थायर्श्यत्तताः, राजस्तिति

निहृते, तदर्भो चतुरं नामात्मन:। तथास विष्णु परेतस्यात्मन:।

॥ इति श्रीमद्भागवतमुनोधिनाः श्रीमद्वदन्धदेवीक्षणे तविचितराः द्रष्ट्यसम्भविवर्गे द्वादशाध्यायसम्बन्धे ॥

व्याख्यार्थः — उन्होंने स्वयं यह अनुमान किया कि, बहुत करके मरे हुए हम निम्न प्रकार से जीवित हुए हैं। उन्होंने अनुमान इसलिए किया कि जिस समय भगवान ने अमृत दृष्टि से ईश्वर किया उस समय वे तो थे नहीं जो उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो अतः अनुमान से ही समझ लिया कि भगवान् की कृपा से अमृतमयी दृष्टि की वृद्धि से हम जीवित हुए हैं।

यहाँ राजन! यह सम्बोधन सेह से किया गया है।

इस प्रकार इन्होंने ज्ञान पूर्ण आध्यात्मिक (अलौकिक) देह प्राप्त किया। इससे इनका प्रथम निरोध सिद्ध हुआ ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवतमहापुराणं दशम स्तवं पूर्वार्थं के १२वें अध्याय की श्रीमद्भागवतमहापुराणं

चरण कृत श्री सुन्दरीमय्यी (संस्कृत टिका) के तामस-प्रमेय अवानातर

प्रकरण के प्रथम अध्याय की हिंदी टिका सहित सम्पूर्ण।

गण सारं —

खैरत चलत ब्रजाकां तारी।

खात ताल फल करत कुलाहल देन परस्पर गारी।

बहुत दिवस बन राखेंगा सरस्वत अब के मारन पायो।

जै जै राम-कृष्ण नंद-मुत अब र्वालतु जसु गायो।

अब गांठन निर्धार यह चरं तु अह प्रसाद गोविंदा।

इह सब कथा चलेगी आगे बलि-बलि प्रसादन्दा।
तामस-प्रमेय-अवातर-प्रकरण

'द्वितीयोद्धार:'

श्री सुबोधिनी अनुसार १२वाँ अध्याय
श्रीमद्भागवत-सक्षानुसार १६वाँ अध्याय

तामस प्रकरण के द्वादशाध्याय में भगवान् ने पठार कर अपनी अमृत वर्षणी दृष्टि द्वारा विषयक जल पीने से मृत्तिक गोपों को इस प्रकार पूर्ण जीवन दान दिया जिससे पुनः (फिर दूसरे बार) विष का प्रभाव उनकी देहें पर न पड़े कारण कि वह देह ज्ञान पूर्ण अलौकिक बन गया था। गोपों ने भी जान लिया था कि यह सब भगवान् की कृपा दृष्टि से हुआ है इसी भाँति उस (१२वें) अध्याय में गोपों का प्रथम निरोध सिद्ध हुआ।

उसके अन्तर अविलुप्त रूप में भगवान् ने लोला द्वारा जो छ: अर्थ सिद्ध किए उनका वर्णन इस १३वें अध्याय में है जिससे मध्यम निरोध सिद्ध हुआ है।

आचार्य श्री, प्रथम, इस अध्याय में की हुई लीलाओं का तात्पर्य, (सार-भाव) कारिकाओं द्वारा वर्णित है।
कारिका - इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्युव: समुदाहत:।

t एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि।

कारिकार्थ - शास्त्रोऽन्तः इन्द्रियोऽन्तः स्वरूपम् वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये ही सब मृत्युरूप हैं। वे ही कालीय सर्प के विष से भरे हुए शिर हैं।

2 знач.

कारिका - अतस्तदुपमदर्श: निन्द्व्यो हि त्रयोदशी।

सन्तुष्टे भगवानस्तेः स्वलीलाः चेतृ करोति हि।

भक्तिमार्गानुसार स्वतः नान्यथा भवेत्।

3-4.1

कारिकार्थ - इस कारण से इस साधनाध्यायम् में उनके परम्परा (उनके पूर्व के धर्म को नष्ट कर नवीन धर्म प्रकट करा देने) का वर्णन आया है। सन्तुष्ट भगवान् उनके साथ भक्ति मार्गानुसार स्वतः जब लीला करें तब, उनका, संसार से मुक्ति होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता है।

3-4.2

कारिका - तेṣां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्रेष्ठै: कृष्णस्य सर्वथा।

ततोः अस्वेदेन्द्रियाणि भवन्याङ्गावशे हरे।

तदेह विषयश्चापि हरे भवव्यवाहि सर्वथा।

सवान्ध्योगरहितः पूर्वसम्बन्धानाहतः।

3-4.3.2

कारिकार्थ - उनका (इन्द्रियों का) विस्तार श्रीयो: द्वारा विषय सम्बन्ध से होता है यदि वे श्रीयो: ही भगवान् को आज्ञाकारणी बन जाएँ तो सबका विषय भी भगवान् हो जाएँ, जिससे विषयों का सम्बन्ध श्री आदि से टूट जाए और किसी के काम की वे (विषय) न रहें।

3-4.4

कारिका - परीक्ष्येवेन्द्रियाणां हि निग्रहं कुस्ते हरिः।

परीक्षार्थ ततो देवः कालं प्रेतिवान्तस्तथा।

5.1

कारिकार्थ - भगवान् परीक्षा के वास्ते ही अपनी इन्द्रियों का निग्रह करते हैं अतः, देव ने काल को, व्यासी प्रेतण की है।

5.2
कारिका — स्वासंक्षिप्तशापि कर्त्तव्या निरोधे मध्यमें महान्।
यत: कर्त्तव्य इत्येव मुग्धभावं चकार ह। 6.३।

कारिकायथं — भगवान् गोपों को अपने में आसक्त कराना चाहते हैं, अतः मध्यम निरोध की सिद्धि कराने में उनको (भगवान् को) महान् यत्न करना है इसलिए ही आपने (भगवान् ने) मुग्धभाव प्रकट किया । 6.३।

कथामात्रात्वभावाय संक्षेपेणाः तां पुरा।
अविलेक्षयं भगवान् जाप्यायामास लीलया।
उद्यमोऽपराधश्च परीश्चाकार्यमेव च।
स्तुतिः प्रसादः इत्यत्र षड्यथाः परिकीर्तिता: । ८.३।

कारिकायथं — यह केवल कथा (कहानी मात्र) नहीं है, यह जताने के लिए प्रथम इसका संक्षेप में वर्णन किया । यह भी भगवान् ने लीला करके बता दिया, क्योंकि आप अविलेक्ष कराने की हैं।

उद्यमः, अपराधः, परीश्चः, कार्यः, स्तुतिः और प्रसादे ये च: अर्थ इस अध्याय में कहे गए हैं। 8.३।

कारिका — व्याख्या तथा टिप्पणी, लेख, प्रकाश और योजना का संक्षिप्त भावार्थ—

‘शतायु: पुरुषः शतेत्रिव:’ इस वाक्य में पुरुष की आयु शत वर्ष बताने के साथ, उसकी मृत्यु भी सौ, बताई गई है। यहाँ ‘इत्रिव’ शब्द मृत्यु वाचक है। गोपों की जिस विष पूर्ण इत्रियों से (१२वें
अध्याय) में मृत्यु हुई थी | इत्रियों के शिर हैं। कालीय ने क्रोध से उस विष को अपने उचाइ शिरों में धारण कर रखा है, इस कारण से, नेत्रों से विष का वर्मन करता है।

कारिका — व्याख्या तथा टिप्पणी, लेख, प्रकाश और योजना का संक्षिप्त भावार्थ—

‘शतायु: पुरुषः शतेत्रिव:’ इस वाक्य में पुरुष की आयु शत वर्ष बताने के साथ, उसकी मृत्यु भी सौ, बताई गई है। यहाँ ‘इत्रिव’ शब्द मृत्यु वाचक है। गोपों की जिस विष पूर्ण इत्रियों से (१२वें
अध्याय) में मृत्यु हुई थी। वे ही इत्रियों कालीय के शिर हैं। कालीय ने क्रोध से उस विष को अपने उचाइ शिरों में धारण कर रखा है, इस कारण से, नेत्रों से विष का वर्मन करता है।
द्वादश अध्याय के अन्त में भगवान् ने अपनी अमूमतमयी दृष्टि से गोपों को जीवित कर, उनकी देह अलौकिक बना दी, जिसमें विष का रूप विष सहित मृत्यु रूप इन्द्रियों, गोपों की देह में प्रवेश न कर सकी अतः वे कालीय के शिरों में जाके रही इसलिए कालीय के शिरों को गोपों की इन्द्रियों कहा गया है।

इन्द्रियों की वृत्ति सदा विषय के तरफ होते से वह भगवद्गीता में होती है। जब तक इन्द्रियों विमुक्त होती हैं, तब तक उनका भगवान से सम्बन्ध नहीं होता है, उनका (इन्द्रियों का) भगवान् से सम्बन्ध होने के लिए उपमर्दन करना आवश्यक है। वह दो प्रकार से होता है, एक ज्ञान मार्ग से अन्य भक्ति मार्ग से। ज्ञान मार्ग द्वारा किए हुए उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूप महर्षि (नाश) होता है, जिसमें वे इन्द्रियों भगवद्गीतानन्द ले नहीं सकते हैं इससे इन्द्रियों के उपर्युक्त की निरस्त्रता हो जाती है। भक्ति मार्ग द्वारा होने वाले उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूप नाश होता है, जिनमें उनके दोषों का नाश होता है जिससे वे निर्रूप हो कर भगवद्गीतानन्द का स्वाद ले सकते हैं और उनके उत्पाद होने की इससे सार्थकता भी होती है यह भक्तिमार्गीय उप-महर्षि तब हुआ, जब भगवान् ने प्रसन्न होकर, भक्तिमार्गीय प्रकार से, गोपों के इन्द्रिय रूप कालीय के शिरों पर नृत्य लीला की है, कारण कि, भगवान की इच्छा थी, कि गोपों की संसार से मुक्त हो। इस नृत्य लीला द्वारा भगवान् ने गोपों की संसार में निवृत्ति कराई तथा कालीय के दोषों का नाश किया, तात्पर्य यह है कि संसार से छुटकारा भक्ति मार्ग द्वारा होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है।

संसार जल में, विशेष फँसता तब होता है, जबकि इन्द्रियों प्रपंच में (विषय रूप विकास को आश्रय देने वाली शिरों में) आसक्त होती है। ये शिरों प्रपंच के विकास की जड़ें हैं यदि वे (जड़ रूप शिरों) ही भगवान् को बन जाए तो इन्द्रियों स्वतः भगवान् की आफ़ा पान करते वाली हो जाए, कारण कि, उनके विषयों का विकास (प्रपंच) अपने आप बदत हो जाए।

यही विषय विष का विकास करने वाली नाग पत्तियों थी, वे भगवान् को हो जाए तो सर्व कार्य सिद्ध हो जाए, इससे भगवान ने, यह नृत्य लीला की, जिसका परिणाम कालीय के दोषों के नाश होने के साथ साथ यह भी हुआ कि नाग पत्तियां भगवान् के शरण आकर सुनित करने लगी।

भगवान् ने अपराधी कालीय का निग्रह किया, यह तो श्रेष्ठ किया किंतु आपने अपने को नाग के फूडों से लोकतान्त्रिक गृहित प्रभाव दिखाया और अन्य उत्पाद दिखाए वे कार्य उनको कराने के लागू नहीं थे? ऐसी शाखा का उत्तर (५-५३) कारिका में देते हुए आचार्य कहते हैं कि-भगवान् ने इस प्रकार अपनी इन्द्रियों का जो निग्रह किया उसका कारण यह है, कि भगवान् ने जो गोपों का स्नेह रूप निरोध (१२वें अध्याय में) सिद्ध किया था, वह गोपों का स्नेह परिपक्व है वा नहीं इसकी परिक्षा लेने के लिए लीला की थी। प्रेमी की योजना की देखकर, स्नेह वाले को मृत्यु से भी निवृत्ति दु:ख होता है। यदि गोपों का मुख में सच्चा स्नेह होगा, तो उनकी भी वैसी ही दशा होगी, इसको

१ ब्रह्म. बुध कार्य में रूक।
श्री सुभंधिनी की हिंदी टोका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवान्त्र प्रकरण - अध्याय २

देखने के लिए, भगवानु ने यह लीला की थी। इसी प्रकार आधिदैविक काल, जो स्वयं आप ही हैं, उसको प्रेषण द्वारा तीन प्रकार के (आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभूतिक) उपयुक्त भी परीक्षार्थ ही कराए।

विशेष स्पष्ट करने के लिए कहते हैं, कि सेह की परीक्षा से, उनको उत्तीर्ण (पार) कर, पश्चात् मध्यम श्रेणी का आसवित रूप निरोध सिद्ध करना था, इसलिए भगवानु ने इतना महत् व परिश्रम किया है।

यह तौ कश्च है इसमें निशेष कैसे सिद्ध होगा, इस शार्क का निवारण करने हेतु कहते हैं कि यह केवल कश्च नहीं है। प्रथम श्लोक में, शुकदेवजी ने संशोध में, इसलिए कहता है, कि भक्त मार्ग का नह सिद्धांत है, कि त्रोता प्रश्न करो, तब जब उसके प्रश्न का विस्तार शून्यक, समस्या कर, उत्तर दें। इस सिद्धांत के अनुसार, श्री शुकदेवजी ने राजा के प्रश्न करने के अन्तर्गत, विस्तार से सब चरित्र चर्चा कर बताया है, जिसमें राजा को, सम्प्रदाय चरित्र करने का भाव, पूर्णतया समझ में आ गया। लीला से यह भी भगवानु ने दिखा दिया कि मुझे किसी भी कार्य करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

कारिका व्याख्या सम्पूर्ण

॥ श्रीशुक उच्चार ॥

श्लोकः — विलोक्य दृषितां कृष्णां कृष्ण: कृष्णाहिना विभुः ।
तस्या विषुद्दिर्मिन्विच्छन् सर्व पतमुदवासयत् ॥ १ ॥

श्लोकार्थः — श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि कृष्णा (श्री यमुनाजी) को, कृष्णां (कालीय) सर्प से दूषित हुआ देख कर, सर्व समर्थ श्री कृष्णचन्द्रजी ने उसको शुद्धि करने का विचार कर, उस सर्प को वहाँ से निकाल दिया ॥ १ ॥

श्रीमुनिनी — तथ प्रथम संशोधन कथाहार विलोक्येति, कृष्णां यज्ञानं कृष्णाहिना अतमर्यादयां कालोत्सवं दृषितां विलोक्य समभाषे 'प्रमेयवर्तमानं विषुद्दिर्मिवेद्यं रूपस्यमिश्रितम् सर्वपरमाणुर्भवितान्
घनतां ब्रह्मविवेद्यं रूपस्य मार्गायां तत्तत्वानुविवेद्यं न भगवतद्विनिरुपत्ते च तत्तत्वानुविनिवेद्यं न भगवतद्विनिरुपत्ते च तत्तत्वानुविवेद्यं न
श्रीमुनिनी — तथ प्रथम संशोधन कथाहार विलोक्येति, कृष्णां यज्ञानं कृष्णाहिना अतमर्यादयां कालोत्सवं दृषितां विलोक्य समभाषे 'प्रमेयवर्तमानं विषुद्दिर्मिवेद्यं रूपस्यमिश्रितम् सर्वपरमाणुर्भवितान् तत्तत्वानुविवेद्यं न

व्याख्यार्थः — प्रथम श्लोक में, संशोधन से, ही कथा कही गई है। श्लोक में, श्री यमुनाजी के लिए कृष्णा शाल्व देकर उसका स्वरूप स्थायम है, यह बताया है। कालीय को ‘कृष्णाहिना’ कह कर यह सिद्ध किया है कि कालीय सर्प। भी काला है। इस्म प्रकार भगवानु का नाम भी ‘कृष्णा’ हिया है के काले है।
तीनों की सारुप्तता बताने का तात्पर्य यह है, कि मय्यादानुसार समान रूप वालों के दोष समान रूप वालों को ही मिटाने चाहिए। समान रूप वालों के दोष, अन्य रूप वालों को नहीं मिटाने चाहिए और इसी प्रकार अन्य रूप वालों में, यदि इन्हें रूप वाले के दोष आजादी तो वे नहीं मिटाने चाहिए। अतः यह श्री कृष्णचन्द्र जो सर्व करण समाधि भी है। उन्होंने कालीय को अपने समान रूप वाला देख, उसको निर्देश बनाना योग जमना इस कारण से, कालीय को तीला द्वारा निर्देश बनाया इसी प्रकार, भगवान् ने विचार किया, कि श्री यमुनाजी भी अपने सदृश श्याम हैं और इनमें जो दोष आए हैं वे भी काले रूप वाले होने से, समान बने सर्प से आए हैं इसलिए इनके दोष भी निर्वृत करने चाहिए। यमुनाजी को इसलिए भी शुद्ध करना चाहिए कि मुझे आगे इनमें समाधि करना है सर्प को अपराधों के कारण मारना योग नहीं हैं, क्योंकि इसने मेरा काला रूप धारण किया है। भगवान् ने इद्दियों के ईश होने के कारण, कालीय के इद्दिय (मूल्य रूप) शिव पर नृत्य किया, जिससे उसके दोष दूर हो गए एवं अपाधि का दुःख भी मिल गया। इसके अन्तर्गत उसकी यमुनाजी से दूसरे स्थान पर भेज कर यमुनाजी को भी शुद्ध बना दिया। इस तीला से यह बताया है कि कलिगुण में श्रीकृष्ण ही सर्व प्रकार के दोषों को मिटाने वाले हैं, अथवा सर्व जीव मात्र के दोषों को निवृत्त करने वाले हैं। ॥ १ ॥

आभासः — राजा विशेषं पृष्ठतिः कथामिति,

आभासार्थः — इतना शुद्धार्थ परीक्षित राजा को इस चरित्र को विशेष सुनने की इच्छा हुई। इसलिए नीचे के दो श्लोकों में पृष्ठति है।

॥ राजोवचा ॥

श्लोकः — कथमन्तरं जलं गार्थे न्यग्रहार्द्ध भगवानहिंमु।
स वे बहुयुगवासं यथा स्वस्ती विप्र कथ्यतामु। ॥ २ ॥

श्लोकार्थः — राजा परीक्षित ने कहा कि हे विप्र! भगवान् ने गहरे जल के भीतर रहे हुए सर्प को किस प्रकार पकड़ कर रक्षा और यह भी बताई कि वह (सर्प) बहुत लम्बे समय से यहाँ वन्यों निवास कर रहा था। ॥ २ ॥

सुबोधिनीः — स हि ज्ञाति बरसिण्यं यथा मत्यो पर्यटनं तथा कान्तिः यदि इति, अतस्तु महतः कः इन्द्रं विद्यामितिसाधशन्त्यकृतार्थशः। यद्य लोके तदृशयं वन्मन्यं वयस्त्वात् तदा न प्रायं: स्थात स तु नास्ति, यत: स बहुयुगः। पर्यायोगासो यत्तदृशं यथा भवति तथावस्तीतः। यद्य तदृशं भवेदं वन्मन्यं पूर्वमयं निवृत्त: नास्तिः न चत्तस्मभावाति। यतो भगवान् भूत: प्रकारं कथ्येत्प्रतिप्रस:। विधित्वसम्वायं विशेषेणमण्डलाय विशेषेण प्रकृत्यो वा कथ्यतामिति। ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः — राजा परीक्षित ने यों समझा था, कि जैसे मत्यों को पकड़ने वाले अनुभवी
(लोहे की टेट्टी कॉट्टा) जिसको रससी से लकड़ी में बाँध कर और आटा लगा के पानी में डाल देते है जिसमें मस्तिष्क आते हैं और उसमें फूंस जाते हैं इसी प्रकार, किसी साधन से कानूनी का निर्ग्रह किया होगा, किन्तु यह कालीय कड़ी देख वाला और अथवा जल के भीतर रहने वाला, उसका निर्ग्रह भगवानु ने जिस साधन से किया, उस साधन को जानने की इच्छा से, यह प्राप्त किया, कि कैसे (किस साधन से,) उसका निर्ग्रह किया ? यदि परीक्षित को यह पता होता, कि वैसे वेला का पकड़ने का लोक में, यह साधन है, तो राजा प्राप्त ही नहीं करता, किन्तु वैसे वेला, कभी लोक में, न पकड़ गया देखा और न सुना है, जिससे उसके साधन का जान हो। यह सर्प तो यहाँ युगों से निवास करता है यदि वैसे के बन्धन का साधन बना, तो इससे बुद्ध ही इसका पकड़ के निकाल देते क्योंकि इसके विष के प्रभाव से, इतने प्राणी मरते थे। इससे निर्चन है, कि लोक में ऐसा कोई साधन नहीं है, इसी कारण से ही, राजा ने इस प्रकार प्राप्त किया है। यदि ऐसा साधन लोक में नहीं है और इसी कारण से ही, यह यहाँ इतना समय रह सका था तो, असम्भवित साधन का प्राप्त करना ही व्यर्थ है। इस शब्द के निवासार्थ कहते हैं कि इसका निर्ग्रह करने वाला सर्व सम्मत भगवानु है। अतः, उनके पास साधनों की कमी नहीं है। उन्होंने अवश्य कोई साधन काम में लाए होंगे, इसलिए मैं उस साधन को, जानने की इच्छा वाला हूं। अतः प्राप्त किया है। आप साधारण जानता नहीं हो कितु ‘विप्र’ हो, अर्थात आप में वह जान है, जिससे प्राप्त करने की श्रवणों को विशेष प्रकार से निवृत्त कर उसके बाद का सत्तोप कर सकने में समर्थ हो। इसलिए कृपया मेरे प्रस्तर का उपर अवश्य विस्तार पूर्वक कहिए ॥ २ ॥

आभास - जलचारितार्यवन्धनविदिमार्थः भविष्यत्तो संभवित विस्मृत्यवर्तयाः न वक्ष्यते विश्वविश्वसंख्य वापनार्थवृत्त भगवतकथाः श्रीत्व्यत्वेन स्तूतिः सर्वसत्त्वपिनिविनार्थः ज्ञानायानुदेहाय च,

आभासार्थः - परीक्षित के मन में संशय उत्पन्न हुआ, कि मैंने केवल, साधन का प्राप्त किया, यदि वह साधन, जल जन्तुओं के बन्धन के समान होगा तो, शुकदेवजी उसका उत्तर नहीं देंगे। इसलिए निम्न श्लोक में अन्य प्रकार से प्राप्त करते हैं कि मनुष्य मात्र को, साधारण रीति से, भगवानु के चरित्र श्रवण करने ही चाहिए, कारण कि, वे उसम और अमृत रूप आनन्द देने वाले हैं इस प्रकार स्तुति करते हुए कहते हैं कि,

श्लोकः - ब्रह्मनं भगवतसमस्य भूमनः स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदरस्तरिः कस्तृस्थःविनातुभुवः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थः - हें ब्रह्माः स्वच्छन्द विवाहित करने वाले, उन भूमा भगवानः के, उदार चरित रूप अमृत का सेवन करने वाला कौन है जो उससे तुष हो जाए (पशु धन के सिवाय कोई नहीं है) ॥ ३ ॥

सुबोधिनी - प्रदत्तति समाधानं ज्ञानायानुदेहाय, च भगवत इति सर्वेऽ लीला पहुँच गया भविष्यति।- त्यथा येज्वकलं निवर्तते, भूमि इति सर्वं लोकोविविधाः। स्वच्छन्दवर्तिन इति लीलायाः न कस्तृस्थःविनातुभुवः। त्यथा।
गोपालस्वरूप लीलाकान्त नृदशियाराध्य वत्सलाय, उदारेण सर्वपूर्वकालान् प्राणारोपोताथे सा परिश्रमण्य श्रवणहरिती पुरुषार्कामान्यसूकलतात् सर्वनेत्रदाण वचनर्व नान्यन च, तदार्जी।

चरितं न तु करिपत, तत्कापि सर्वरघाणवार्य रुद्रमृतसूकित्वां, तदहमपरिपक्वत्, कित्वा, अपूर्वं ज्यूम् कि करितम् तुप्येतेतिलौकिकोक्तसिद्धः।।३।।

व्याख्यार्थः — रजा ने प्रसन करते हुए श्री शुकदेवजी को (ब्रह्म) यह सम्बोध (विशेषण) इसीलिए दिया है, कि एक तो आप भगवान् के सकल चरित्रों को जानने वाले हो और दृष्टा कुछ उपेक्षा नहीं करते हैं जब वह ब्रह्म है। आप की प्रसन्नता के प्रसन करते से वह मन में क्षेत्र नहीं होता है जब वह विशेषण प्रथम होता है। श्रीमत के प्रश्नों का उत्तर प्रसन्नता पूर्वक विश्वसः से देते हो जिससे श्रीमत की शंका को पूर्ण समाधान हो जाता है अवर उसका चित्र प्रसन्न होता है।

भगनान् की लीलाओं का प्रसन्न विना प्रयोजन वाला नहीं है कारण कि, भगवान् की सर्व लीलाएँ ऐश्वर्येण पद्मपुण्य यूक्त हैं। तथा वह लीलावती भूमि होने से, स्वच्छंदगति है। अतः विशेष लीलाएँ करते हैं उनकी लीला करने में, कोई भी स्वाभाविक नहीं कर सकता है जब उसमें (लीला करने में) किसी की भी पसवार भी नहीं करते हैं। आप 'गोपाल' है इसका भाव बताते हैं कि गोपाल होने से, आप सर्वत्र लीलिक मनुष्यों की बुद्धि को, अपने में, लीलाओं द्वारा, आसक्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। 'गोपाल' शब्द का अर्थ है, इन्द्रियों को रक्षा करना, वह तब हो सकती है, जब इन्द्रियों विषय की ओर जा आपके (भगवान् में) ही लागे रहे । यदि इन्द्रियों विषय की तरफ नहीं तो इन्द्रियों का नाश हुआ। अतः भगवान् उनको अर्थात् इन्द्रियों की लीलाओं द्वारा अपने में आसक्त करके विषयों से हटते हुए उनकी रक्षा करते हैं। आप 'उदार' हैं, इसलिए पुरुषार्थों का दान करते समय पत्र व अपत्र का विचार भी नहीं करते हैं, इससे जाना जाता है, कि सबको पुरुषार्थों की अपेक्षा है। जिससे 'सर्वस्वा' भगवान् के चरित्र कहने तथा सुनने चाहिए और चरित्र भगवान् के किए हुए हैं कल्पित नहीं हैं। उनके (भगवान् के) वे चरित्र अमूर्त रूप हैं अतः उनसे केवल सर्व दोषों की निवृत्ति होती है यो नहीं हैं किन्तु मृत्यु (जन्म श्राद्ध का चक्कर) भी मिट जाता है। कोई भी मनुष्य लोक में ऐसा नहीं है, जो अमूर्त का पान से तुम हो जाए।।३।।

आभास — भगवतोहतिसांसार्थ र्यापयितु हृदस्वरूपमाह द्वयने कालिन्यामातिः।

आभासार्थः — अब निम्न दो श्लोकों से श्री शुकदेवजी भगवान् के विशेष सांसार्थ के जान की प्रसिद्धि के लिए उस ह्रद्य का स्वरूप बताते हैं जिसमें कालिन्य निवास करता था।

॥ श्रीशुक उदार ॥

श्लोकः — कालिन्यां कालियस्वासीश्रद्धः कश्चिद् विषाणिना।

श्रमणणपथाय यस्मिन् पतन्त्युपरिगः: खण्डः॥४॥

१ हर तरह से। २-कुंड।
श्लोकार्थ — कालिन्दी (श्री यमुनाजी) में एक कालीय सर्प हुद (कुण्ड) था जिसमें उसके (कालीय सर्प के) विष की अग्नि से जल उबलता रहता था, आकाश मार्ग से जाते हुए पक्षी उसमें गिर पड़ते थे।

श्लोक: — विषुर्प्रश्नतं विषोदोषप्रस्थानाभिमभिषिता:।
प्रियतं तीर्गतं यथा प्राणिन: स्थिरजलम:।

श्लोकार्थ — जहाँ जल की तरंगों से उत्पन्न बिन्दुओं वाले वायु के लगते ही जिसके (हुद के) तीर पर जाते हुए चर तथा अचर सब प्राणी मर जाते हैं।

सुबोधिनी — विद्रोहसहित विषोदोषस्थापनाभपूर्वक चलनेत वायुसामान्यभिमभिषिता: व्यत्रा एवं विषवत्रस्त्रते विधाणान परेण अपि प्राणिन: स्थारवर वृक्ष जलम:।

श्लोकार्थ — चारें तथापि तरल हुए विष के परिणाम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, छाया से पूर्ण सम्बन्ध वाले कालिन्दी के जल के तरंगों की बूनों से मिश्रित वायु के स्पर्शमात्र से दोनों किनारों पर स्थित स्थावर एवं जंगम प्राणी अथवा वहाँ आए हुए भी आते ही मर जाते हैं।
आभास — एतादृशो दोषः परिहारणीय इति भगवानुदयम कृतवानित्वाय तमिति,
आभासार्थ — इस प्रकार फैले हुए जीव हिंसक दोषों को मिटाना चाहिए इस विचार से भगवानु उदय करते लगे।

श्लोक: —तं चण्डवेगाविषवीयमवेश्वय तेन दुष्ण नदी च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्भमधिदर्ष्य ततोकल्याणामास्फोट्य गाढशणो न्यपतद्विषोदे। ॥१६॥

श्लोकार्थ — उग्र वेग वाला विष ही जिसका पराक्रम है, वैसे उस सर्प को, तथा उसके पराक्रम से दृष्टि कालिन्दी को देखकर, खलील का दमन करने के लिए अवतार धारण करने वाले श्री कृष्णचन्द्र ने बहुत ऊँचे कदम पर चढ़ कर, अपनी कमर का पैदा कस के और ताल ठोक कर उस विशेष जलाले हूँ तो, जिसमें कालिय का घर था कूद पड़े। ॥ ६ ॥

सुबोधनी — आदि भगवान् स्वयं तत्र गत इत्यादि कालियं प्रसिद्धमल्लेन न निराकारं चण्डवेगं कालं-वदतिवेगवर्गं अते एव भगवंतशक्यायतीक इत्यक्षमं कल्याणानं धारणं ततो गृहितवज्ञता। बालुस्फोट्यं कृतवा मलयावाविश्वस्य पित्यो न्यपतद्विषोदयो। प्रथमये एव चण्डवेगं तत्रापि विषय वीरं वस्तुतोपसाति देवता तस्य प्रत्यक्षतिः सुचितं, अते एव भगवस्मिनोपाधर्मः, "विषयमिति सर्पः" इतिश्रुतः। "शुद्धिनानु भूतावतीति च" अते एव विपयं चण्डवेगं गृह वक्तः, विपयाय परकारः। तेन दुष्कः नामिति विशेषणां भरः। अत उपस्थितेपितम् दुष्टं देवतिदेविं विना नामसेन समीचीनं कर्तुः शक्यं, चक्रकार्तुः च चापि दुष्टं समीचीनं कर्तुः। खलसंयमनावतारं इति-वादप्रयोजनार्थमति। ततः खला: परस्परकारणास्यम संस्कर्ण नियमं, जीवनं दोषनिरूपति दोषयमेव दूरीकरतो न मार्यतीतत्ययः।


व्याख्यार्थ — काल के समान अतिशय वेगवाले कालीय के दोषों का निराकारण स्वभावानु के बिना अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है। इसलिए आप स्वयं वहाँ जाकर बहुत ऊँचे कदम पर चढ़कर, बाहुओं पर ताल ठोक, मंडलुद्ध करते समय के भाव प्रकट करते हुए उस विषय सुक्त जल में कूद पड़े। श्लोक में सर्प के लिए दो विशेषण दिए हैं १-चण्डवेग २-विषवीय । प्रथम १-हयं देना।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेर' अवात्र प्रकरण - अध्याय २

विशेषण से सर्प का गुण बताया गया है, और दूसरे विशेषण से यह सूचित किया है कि कालिय को उसके इस देवता उपासित होने से प्रत्यक्ष हो गया था जिससे उसका प्रक्रम, उस विष भी ही समाया हुआ था, इसी से सर्प भगवान का भी अतिक्रमण करने लगा है। 'विष इति सर्पः' - श्रुति इस श्रुति में सर्पों का स्वरूप ही विष है यह कहा है विष को जिससे भी लड़ने वा कोई हानि करने में हिचक नहीं होती है अतः सर्प भगवान से भी लड़ने के लिए तैयार हो गया। विष सर्प रूप होकर इनकी (सर्पों की) रक्षा करता है अतः निर्भय हो भगवान का अतिक्रमण करने लगा।

इससे यह बताया कि विष में प्रचंड बेग में गुण है। विष के प्रक्रम से (कालिय से) ही यमुनाजी का जल दृष्टि हो गया है कालिदी स्वतंत्र: स्वरूप दृष्टि वाली नहीं है किन्तु कालिय के (विष के) सम्बन्ध से उसमें दृष्टि आया है। यह दृष्टि विषके आधिदैविक देवता का है अतः उसका नाश भी आधिदैविक श्रीकृष्ण ही करने में समर्थ है। अन्य कोई समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के प्रकटत्व का प्रयोजन खल्लों को नियम में लाना है, इस कारण से भी, कालिय को रक्षा में लाने के लिए श्रीकृष्णचंद्र की आवश्यकता है, किन्तु उसे गांव बिना उसके दृष्टि नाश कर उसका नियम में चलने की शिक्षा देना यही सदानन्द श्रीकृष्ण में विशेषता है। अतः उसको सुनियम्य ही किया। कदम्ब भी वांछा ही (आनन्दमय) है, वह ऊँचा था तथा ऊँचे स्थान पर था। और उसको गरूड के रहने के लिए भगवान ने उत्पन्न (प्रकट) किया था। उस पर बैठ कर गरूड सर्प की रह देखता था कि बाहिर निकले तो कालिय को अपना करवाने बना दूं। अन्य पेट तो विष के प्रभाव से सूख गये किन्तु यह गरूड की कृपा के कारण ज्यों का ल्यों सिंगध खड़ा था। उसको विष बिनुआं से युक्त वायु, ऊपर होने से भी शुष्क न कर सका।

भगवान कुण्ड के पास आकर, सम्पूर्ण परस्परिश्रुति को देख, प्रथम उस ऊँचे कदम पर चढ़ गए। भगवान ने विचार र जुड़े आधिदैविक से लड़ाई करनी है, अतः पूर्ण रीति से तैयार होकर चलना चाहिए। बीच में मर्यादा भंग न हो, इसलिए कमर की पैंट को खुश बनाय लिया तथा समान के साथ लड़ना है यह दिखाने के लिए पहलवानों के समान भुजाओं पर ताल ठाकू देने हुए जोर से कूदे। इस रथ्याओं की कृपारा से भगवान के माहात्म्य का ज्ञान प्रकट किया है।

आभास - ततो यज्ञ जातं तदाह सर्पः हिति,
आभासार्थ - भगवान के कूदने से क्या हुआ? उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - सर्पः हिति: पञ्चसारानिपातवेगसिद्धोभितोगविशेषच्चःकसिताम्बुरागिः।
पञ्चसारानिपातवेगसिद्धोभितोगविशेषच्चःकसिताम्बुरागिः।

(1-प्रवर्तक । 2-प्रास ।)
श्लोकार्थः — कालीदश का जल सांप के विष के कारण पहले ही से खौल रहा था। उसकी लहरें लाल पीली, कशाय रंग की और दया भयावह उठ रही थी। पुरुष श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण के कूद पड़ने से उसका जल और भी उछलने लगा और जल ध्वर उधर उछल कर सो सो ब्रह्मक तक फैल गया। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त बलशाली हैं सो ऐसा होने में कोई आशर्य नहीं है।

सुबोधनीः — पुरुषोत्तम सुया युगलमय निपातबोधन समयक क्षेत्रभितों यात्रयमुखस्तस्य यद विषाच्छक्षितं विषाच्छक्षितस्य महादशिरीष्यस्य, उच्चाक्षितयदमावृत्ति मोचनीयं। एतद्वृत्त हृद: पर्तितः प्रत्युत्त प्रत्युतः, वर्णामावमोचनीयो जात उपलब्ध स्त्रियविव जाती वा। भगवानित्यते जातशोभार्णोऽन्यत्र गृहियावीति। विषयेन कषायामिषेयेन।

भीषणा उधंतो यथो तादुश्रय सः: पन्तादशः धावन् जातः, अधारविदित वा। अधोभावस्त्रयसः। धनुः शतां हस्तां, चतुःशतां, अन्तनवलं यस्य तादुश्रय नैताश्रयं। अन्तने काले वा बलं यस्मात्, यस्तु जगदबंधुवृत्तं कार्यतिः। विषक्षयविशिष्टोऽविशिष्टविभूति नित्यतः। विभूतिकांकश्चन्द्रशिलानां नैसर्गिकमेन तत्वयों।

व्याख्यार्थः — पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचंद्र के कूद में ऊँचे स्थान से तथा जोर से कूदने से और सर्थ के विचेले स्वांस लेने से घराए हुए कूद का जल भी उछलने लगा। जिस प्रकार वर्ण का जल वेग से नीचे ऊँचे स्थानों से दौड़ता हुआ जाता है वैसे ही हुद (कूद) का जल वेग से दौड़ने लगा। ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् के कूदने से कूद घबरा कर अन्य स्थान में जा रहा है। विष से जल कषाय हो गया था और विषेश जल के कारण भयानक तरंगें बाला बन कर दौड़तां जाता था। उस कूद का जल 400 हाथ आगे दौड़ कर गया, यो होता आशर्य कारक नहीं है, कारण कि भगवान् अनन्त बल वाले होने से समस्त जगत् को दौड़ते हैं वहाँ हुद को दौड़ने में कौनसा आशर्य है, हुद के विष से कपाये एवं भयानक तरंगें सब का नाश करने वाली है यहाँ तक् कालीय सर्थ काल रूप है। यह उपसित (उपासना किए हुए) देवता का चरित्र है।

आभासः — भूतमिसिमपागत इत्याह तस्येति।

आभासार्थः — कालीय भगवान् के पास आया जिसका वर्ण इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तस्य हुदे विषातो भुजंदप्पुर्णवार्घोपमहं वर्वाराणविक्रमस्य ।

आश्रुत्य तत्त्वसद्वांशमिभवं निरिय्यं चक्षु:भ्रजः: समसत्त् तदमृष्यमाणः। ल। ८।।

श्लोकार्थः — हे अंग! श्रेष्ठ हस्ती के सामान पश्चातम वाले तथा हुद में विहार करने वाले उन भगवान् के भुजर्णदों से हिलाए हुए जल के शब्द को सुनकर, उस ध्वनि से
अपने घर का अपमान समझ अथवा घर पर आक्रमण हुआ देख, उसको सहन न कर सकने के कारण सर्थ भगवान् के पास आ गया।

व्याख्यात्मक - भुजाकूप दण्डों के प्रहर से इधर-उधर (चारों ओर) चकर खतरे हुए जल की गम्भीरता को सुनकर, उसको न सहन हुआ, हृद में खेलते हुए भगवान् के पास कालीय आया। आने के कारण और आने से पहले की स्थिति (दशा) बताते हुए कहते हैं कि, प्रथम तो भगवान् के कुदने से आश्चर्य में पड़ गया अनतर, कोई जल में विहार (होड़ा) कर रहा है ऐसे शब्द सुने, और विशेष पुनः शब्द सुना कि कोई जल में भूजाओं से प्रहर कर रहा है। जल में भूजाओं के प्रहर का शब्द इसलिए सुना कि भगवान् का यह विहार भी श्रेष्ठ गज के समान था। कारण कि भगवान् श्रेष्ठ हाथियों के समान प्रकृति से जल में विहार करने वाले हैं। भगवान् सर्वरूप तथा सर्वगुण सम्पन्न है अतः उनकी अपमान दी जा सकती है केवल शब्द सुनने से सांप भगवान् के पास नहीं आया किन्तु अपने घर पर आक्रमण हुआ सुन अथवा देखकर, उसको सहन न कर सकने के कारण आया था। सांप सुनने का और देखने का दोनों काम आँखों से लेता है, अतः जो सुना उह देख भी। अकेला नहीं आया, किन्तु अपने परिकरों को भी साथ लेकर आया।

आभास - ततोपरसंह कृत्वानिव्याय तमिति,
आभासार्थ - आकर जो अपराध किए उनका वर्णन करते हैं -

श्लोकः - ते प्रेक्षणीयमुक्तारदानवद्वान्ति श्रीतस्पीतवसन स्मितसुन्दरारस्यम्।
क्रीडन्तमितिनिरूप्यं कमलोदराष्ट्रिः सन्दर्शय मर्मसु स्मा भुजया चछाद।

श्लोकार्थ - दर्शन करने के योग, सुन्दर कुमार, मेघ के समान श्याम, श्रीवत्स का चिन्ह धारण किये हुए तथा पिताम्बर ओढ़े मन्द मुसख्यान सहित सुन्दर मुख वाले एवं कमल के मध्य भाग के समान कोमल चरण वाले भगवान् को निर्भय क्रोड़ा करते हुए देख कालीय ने मर्म स्थानों में दसते हुए क्रोध पूर्वक अपने शरीर से भगवान् को लपेट लिया।
सुधाधिनी - अयुक्त कृत्वान्तमि कथस्मा भगवनं वर्णयति प्रेक्ष्णीप्रमिति, प्रेक्ष्णीप्रमि सुकुमारसलासे धनावदात्राय साविचकादितिविधानमाध्यायिणीयः अनेन लंकविश्रां तेन कृत्वान्तमि भवानि, परसाबधोषिको विृद्ध कृत्वान्तमित्वाय श्रीवस्तेन सहित पीतवनस्य वस्य, प्रमेयबिरोः प्रामणिविश्रांस्यं स्मितपञ्चं सुन्दरसायं।

व्याख्यायः - कालीय ने इस प्रकार जो भगवान् का अपराध किया वह अयोग्य कार्य किया यह खताने के लिए भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

सात्तिकं, रजस्त्व तथा तामस तीनों गुणों वाले भगवान् का आदर करते हैं, कारण वह (भगवान्) दर्शनीय है, इसलिए सात्तिक आदर करते हैं। सुकुमार हैं, इसलिए रजस आदर करते हैं। मेच के समान रमय है, इसलिए तामस आदर करते हैं जिससे सर्व ने ऐसे का अपराध कर लोक से विरुद्ध कार्य किया है। इसके बीच लोक से ही विरुद्ध नहीं किया है, किंतु यह कार्य परमार्थ दृष्टि से भी विरुद्ध किया गया है। कैसे सो वह कहते हैं कि जैसे श्रीवस्त अक्षर रूप है, इलाओ वह ज्ञेय स्वरूप होने से प्रमुख है, उसको धारण करने वाले का अपराध करना प्रमेय में विरुद्ध कार्य है। भगवान् पीताम्बर धारण करते हैं, भगवान् का पीताम्बर वेदरूप है, वेद को धारण करने वाले का अपराध करना प्रमाण से विरुद्ध कार्य है। जिसको मनद सुपक्यान वाला मुखविन्द (प्रम स्वरूप) है उसका अपराध भक्ति भार्य से विरुद्ध कार्य है। भगवान् खेल रहे थे। खेलने समय रस की उन्नति होती है उस रसिक का अपराध करना रस शाखा से विरुद्ध कार्य है। जो ऐसे विष हुक्त जल में (जिस जल का इतना प्रकोप है कि आकाश भार्य से जाने वाले पक्षी गिर कर मर जाते हैं आसपास वाले चर अचर नहीं हो जाते हैं) निर्भय होकर खेल रहे थे उसका अपराध करना नीति से भी विरुद्ध कार्य है। जिसके कमल जैसे कोमल चरणों को समग्र जगत्त पूजता है इसका अपराध करना सकल जगत्त के विरुद्ध कार्य है। सर्व ने मन में ऐसा विचार किया था कि इनको दंशित कर भुजाओं से लपेट अपने स्थान पर ले जायेंगा इसलिए इतना अपराध किया गया है।

गो. श्री वचकक्षी लेख में कहते हैं कि-

1. ज्ञान प्राप्त करने योग्य स्वरूप होने से दर्शनीय है अर्थात् जिसके दर्शन से ज्ञान प्राप्त हो जाता है ज्ञान सतंगृण से प्राप्त होता है अतः सात्तिक आदर करते हैं।

2. सुकुमार, सुन्दर, कुमार स्वरूप होने से, उसके प्राप्त करने का लोभ होता है, लोभ ज्ञानगृण को होता है अतः ज्ञानगृण वाले आदर करते हैं।

3. मेच रमय होने से अपकी वह श्रायमता, कालों को (तामस गुण वालों को) अपनी कालास (तमोगृण) मिटाने के लिए उपयोगी हैं, अतः तामस गुण वाले आदर करते हैं।

१-डस
आभास - ततो यज्ञ जातं तदाह तमिति,
आभासार्थ - यों अपराध करने से जो हुआ उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: - तं नागभोगपरिवर्तमदृश्चेष्मालोक्य तत्त्वशस्रह: पशुपा भृजारता:।
कृष्णेर्मयांत्यसुहदर्शकलन्त्रकामय दु:खानुशोकभयमूडधियो निषेधरु:॥ १०॥

श्लोकार्थ - उनको सर्प के शरीर से बेलित और निश्चेष्ट देख कर, उनके प्यारे मित्र गोप अति दु:खी हुए, और भय से चेतन होने होकर गिर पड़े, क्योंकि उनकी आत्मा, मित्र, धन, स्त्री और भोग श्रीकृष्ण के ही अर्पण किए हुए थे॥ १०॥

व्याख्यार्थ - गायों ने भगवान् को सर्प के शरीर से लपेटा देख यो समझा कि अब भगवान प्रलय करने अत: शेषशरीर पर पोहने की तैयारी कर रहे हैं इसलिए आपने सब चेष्टा कर शान्त स्वरूप धारण कर लिया है, इस लिए के करने से गोप जो भगवान् के प्रेम स्वरूप धारण कर अत: दु:खी हुए, क्योंकि वे आत्मा-निवेदित थे जिनहोने आत्मनिवेदन किया है वे भगवान् में पृथक् रह नहीं सकते हैं। इस कारण से वे दु:खी हुए इन्होंने (गोयों ने) भगवान् कृष्ण में देह, मित्र, धन, स्त्री और पुत्र आदि सर्व अर्पण कर दिए थे अत: दु:खी हुए थे। सर्प के दंश से भगवान् को तो कुछ भी दु:ख नहीं हुआ किन्तु गोयों की आत्मा जो वहाँ थी उसको दु:ख हुआ। अत: गोप दु:खी हुए एवं मित्र आदि भी भगवान् में थे वे दु:खी हुए उनको दु:खी देख गोयों को शोक भी हुआ। इससे इनको शोक उड़ गए, भयभीत होकर, तीन गुणों के कार्य से मृदु बने हुए, पहले जीवित रहे हुए थे तो भी अभी मृत्तिका होकर गिर गए॥ १०॥

आभास - गायोंपि गोपालवज्ज जाता इत्यादि गाव इति,
आभासार्थ - गायों की भी गोपालों जैसी दशा हुई उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: - गायो वृष्ण वत्सलय: क्रन्दमान: सुधु:खिता:।
कृष्णो न्यस्तेश्चाग्गप्रणाणा: क्रन्दन्त्य इव तस्थिरे॥ ११॥

¹-लिपिदेह से। ²-वृष्ण रूहित, बिना हरकत बाले।
श्लोकार्थः — गो बैल, छोटे बछड़े ये सब ही दुःखी हो गयंने लगे, श्रीकृष्ण में दृष्टि तथा प्राण लगाते हुए मानो रहते हैं इसी भाँति डर के साथ खड़े रहे ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः — सौ (गो) पुरुष (बैल) बालक (छोटे बछड़े बछड़ीया) रंगते हुए दुःखी हो गए। वे मूर्छित न हुए कारण कि उनमें सातिव भाव नहीं था किन्तु कृष्ण में अपने नेत्र और प्राण लगा दिये थे वे सर्व आदि के भेद को नहीं जानते थे केवल कृष्ण की चेष्टा की देख रहे थे कृष्ण को केवल स्थान में देख जहाँ स्वयं जा नहीं सकती थी इससे दुःखी हो रही थीं, पुकार रही थीं, यहाँ तीनों गले इसलिए दिये हैं एक ग्राम्यः पशुब्धां का संघ है। य पशु इसांभावते रत्न हुए खड़े रहे जस विवेक बाली स्त्रियां खड़ी होकर रोती हैं। सब देवता, लोक, भूमत्र तथा कालादिक भी शैवशायी भगवान् अब प्रलय करेंगे यो समझ कर सर्व प्रकार के उत्पाद करने लगे ॥ १२ ॥

आभासः — ततो गोकुलवासिनस्तानू दृश्वा भीता जाता इति वक्तृत प्रकृतोपयोगित्वाच्च ब्रज एवोत्पादनः वर्णयत्वथेति।

आभासार्थः — इन उपादों के देख कर गोकुलवासी डर गए ब्रज का ही प्रकार है अतः ब्रज में हुए उपादों (उपद्रव) का इस श्लोक में वर्णन करते हैं-

श्लोकः — अथ ब्रजे महोत्पत्ताश्रितविधा ह्यतिदास्यः ।
उत्पेतुर्भुविव दिव्यात्मन्यासनभयंशंसिनः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थः — अनन्तर ब्रज में तुरंत ही अतिभायानक तीन प्रकार के बड़े-बड़े उपाद निकट होने वाले भय की सूचना देते हुए पृथ्वी, आकाश तथा शरीर में होने लगे ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः — सर्वकालिनिलक्षणार्थमेऽति, महोत्त्वतः । युक्तशायामश्च: प्रलये हि ते कर्त्त्वा अन्तरभिकारिणो प्रलयकालोऽन्नि दिवस प्रवृत्तातस्माति चेति त्रिविधा: हि स्युः, किंच शैवमेव प्रलयं भविष्यत्वत्वाः—
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - नामस्प्रक्रण 'प्रमेय' अवात्तं प्रकरण - अध्याय २

श्रीभवति निशानेषु, सूक्तकां अधि स्वरूपस्वभाषणः।
चोज्यग्ना, एकदोपत्रत्वादविद्याविग्रहिनिष्प्रवत्सारः॥

तत्त्वानिदानस्त्रुतिः, दिश्यते निश्चयः।
भवत्तामिनि शरीरे॥

व्याख्यार्थ - यह काल साधारण काल नहीं था किन्तु सर्वकालों से विलक्षण था, यह बताने के लिए श्लोक में 'अधि' शब्द दिया है प्रलय काल में होने वाले उत्पादों जैसे तीन प्रकार के।

उत्पाद स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष में होने लगे। श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलय के समान दृष्टि देख कर भी यदि अधिकारी देव जैसे (प्रलय जैसे) उत्पाद (उपद्रव) न करे तो दण्ड के भागी हो जाए अतः उन्होंने ये उपद्रव किए। वे उत्पाद स्वरूप से भी अति दारुण थे एवं अभी जल्दी प्रलय होने वाली है जैसी सूचना देते थे कारण कि एक ही काल में साथ में सर्वस्त्र उत्पाद होने लगे थे॥ १२॥

आभास - ते च ब्रजस्थानोत्कल्यैत

आभासार्थ - गोप उपद्रव देखकर चबरा गए उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः -तानालक्ष्य भयोक्विन्ना गोपा तन्त्रयोगमः।
विना रूपमें गा: कृष्णा ज्ञाता चार्यितं गतम्। १३॥

तैतुर्निनिर्मितिनिधनं मत्वा प्रासमतत्विदः।
तत्प्राणास्तमनस्कारे दुःखोऽक्षोक्षयातुर्। १४॥

आपालवृत्तविनिता: सर्वेऽहुः पशुवृत्तवः
निर्ज्ञगृहोऽकुलाद दीना: कृष्णादर्शनलालसाः। १५॥

श्लोकार्थ - हे प्रिय ! उनको (उत्पादों को) देख कर, नन्द आदि गोप भय से विहले हो गए उस समय श्रीकृष्ण भी अकेले (राम के बिना) गौरी भी चरणे चले गए थे ये गोप, श्रीकृष्ण के प्रभाव से अनजन थे इसीलिए इन बुरे निमित्त देखकर श्रीकृष्ण का अनिष्ट हुआ मान बैठे, जिससे श्रीकृष्ण में ही प्राण और मनवाले वे सब गोप छोटे बड़े दुःख शोक तथा भय से व्यकुल हो गए। पशु के समान वृत्ति वाले वे सर्व गोप दीन होकर श्रीकृष्ण के दर्शन को इच्छा से गोकुल से बाहर निकल गए॥ १३-१४-१५॥
यायवाण्य - ब्रजवासियों ने उत्पातों के प्रथम विचार देखकर पीछे जान लिया कि उपद्रव हो रहा है जिससे डर गए तथा घबराहट में आ गए क्योंकि गोप थे। वे गोप कर्म के सिद्धांत को मानने वाले थे, अर्थात् दु:ख सुख कर्म से ही प्राप्त होता है उन्होंने जो मुख्य गोप नदजी थे वे भी कर्मवादी थे अतः वे उत्पात कर्म के ही फल है।

कर्म को मानने वालों के अतिरिक्त अन्य गोप जिनका भगवान् ने निर्देश किया था, वे विवेक वाले थे, जिससे उनको यह दृष्टि विधाया था कि श्रीकृष्ण की उपरिक्षि में हमारे प्रलय नहीं होगा। पश्चात् प्राकृत बुद्धि (लोकिक बुद्धि) से विचारने लगे कि श्रीकृष्ण अकलेगे गए हैं राम बलराम ने धनुकां को भी राम ने ही मार था वे तो यहाँ है। इसी बीच में उपद्रव हो गए हैं अब क्या होगा? शक्ति भी अच्छे नहीं दिखते हैं, इससे समझ में आता है कि श्रीकृष्ण का अनित्य हुआ है। यह विचार हुए, गोकुल से बाहर निकले। ऐसा बुद्धि विचार इन्होंने इसलिए आया कि ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को नहीं जानते थे। अतः इन्हें ऐसा विचार होना उचित ही है कारण कि ये लोकिक (लोक बुद्धि वाले) हैं। उन में (लोकिकों में) सदा ऐसे विचार होते हैं कि जब भी कुछ उपद्रव आदि सुनते हैं तो अपने प्रयो का अनित्य ही उनके मन में आ आता है। यह स्त्री का स्वभाव है। श्रीमके लिए तो ऐसे विचार नहीं आते हैं। गोपों को अपना भी अनित्य होगा ऐसे भी विचार आते लगे क्योंकि उनके प्रयो कथा में आदि सब सब श्रीकृष्ण में अपित (दिए गए) थे जिससे श्रीकृष्ण के साथ अपना भी अनित्य अवश्य होगा ऐसा विचार उन्होंने ओठ लगा। अतः वे सब दुःख, शोक तथा भय से व्यकुल हो गए उसी अवस्था में ढोंग बढ़े श्री तथा पुरुष सब गोकुल को शून्य (विना प्राण वाला) करके वहाँ से निकल गए। हे ओँ! यह सम्बोधन स्त्री की स्वभाव देने वाला है। उन गोपों की वृत्ति (दस्त) पशुओं जैसी हो गई थी अर्थात् देश वस्त्र आदि का भी जान नहीं रहा था गोपों ने इस प्रकार गोकुल को खोली कर दिया उसका कारण श्रीकृष्ण के दर्शन की उत्कृष्ट कामना थी, वे दर्शन के लिए व्यक्ति हो रहे थे। १३-१४-१५।
आभास — तेज श्रीभगवतसमीपमाने भ्रमाभावाय हेतुमाह तेस्वेषमाणा इति

आभासार्थ — वे ग्राम गोकुल से निकल कर सीधे भगवान के समीप पहुँच गए जिसका
वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — तेज़वेषमाणा दियितः कृष्ण सूचितया पदे: ।
भगवानःक्षण्णपुर: पदव्य यमुनामतमः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — वे प्यारे कृष्ण को ढूँढ़े-ढूँढ़े भगवान के लक्षण वाले चरणों से सूचित
मार्ग से (पगः-पंडी से) सीधे यमुनाजी के तट पर पहुँचे ॥ १६ ॥

सुबोधिनी — परि-वान्नक्षणज्ञस्ततोऽपि सदानंदः, ते ।
पदे: सूचित्ये ति
भगवान्द्रातपमाणेऽव गताः। तदाह पदव्य यमुनामतमितः,
पदी सूक्ष्मः मार्गः, तथा मार्गातंतरमितः, तथा
मार्गन्युक्तमाने तथैत्र च गमने।भजानमाह भगवानःक्षण्ण:।

व्याख्यार्थ — साधारण पति कहीं चला गया हो और उस समय कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाए
तो वैसे पति ने भी ढूँढ़ जाता है सो यह पति ने सदान्द स्वरूप पति है, उनको तो अवश्य
ढूँढना चाहिए इस विचार से वे उसी मार्ग से गए जिस मार्ग से श्रीकृष्ण गए थे। वह रासा कैसा
था? इस पर कहते हैं कि वह मार्ग पगड़ी का था और उस पगड़ी पर भगवान के चरण चिन्ह
अंकित (लगे) थे तथा वह सीधा यमुना किनारे तक था अत: वे भी इस रासे से बिना भ्रम के
यमुना तट पर पहुँच गए जहाँ से रासे का भ्रम नहीं हुआ, कारण कि वह भूमी आदर्श थी जिससे
उस पर भगवान् के ध्वज ‘वज्र’ अंकुश आदि चिन्ह साफ-साफ देखने में आ रहे थे ॥ १६ ॥

आभास — तत्रापि भगवान् केवलं गत: किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभिः
ज्ञानमाह ते तत्रेति,

आभासार्थ — भगवान् अकेले नहीं गए थे किन्तु साथ में गो और गोपों को भी लें गए थे
जिस का ज्ञान निम्न श्लोक से कहते हैं।

श्लोक: — तेतत्र त्राविन्यविकृष्णशनिधोपजप्नानि पदानि विश्वेते: ॥
मार्गे गावाम्यप्राणात्तान्तैर विशेष्माणाय ययुक्तः सत्वाः: ॥ १७ ॥

---
1. गौतमी
श्लोकार्थं — वे लोग वहाँ-वहाँ (जहाँ-जहाँ) कमल, यव, अंकुश, वज्र और ध्वजा के चिन्ह वाले वैश्यों के अधिपति भगवान् के चरणों को अन्यों के चरणों के मध्य में स्थित देख कर शीघ्र वहाँ पहुंचे। ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थं — जाते समय वे गोप इस प्रकार चलते थे, याने उनमें प्राण ही नहीं, किंतु जब गह में जहाँ, तहाँ, अन्यों के पद पंक्तियों के मध्य में, भगवान् के चरण चिन्ह देख, तब उनमें प्राण आ गए, जिससे वे शीघ्र चलने लगे। आचार्य त्रिभुवन के चरण चिन्हों के भावों को स्पष्ट कर बताते हैं- ‘यव’ का चिन्ह कीर्ति का प्रतिपादन करने वाला है ‘कमल’ का चिन्ह इसलिए है कि आपके श्री चरण, संसार ताप हारक होते से, सेवा करने के योग्य है। ‘अंकुश’ का चिन्ह इस लिए धारण किया है कि भक्तों के मन रूप हस्ती को अपने वश में कर रखें। ‘वज्र’ धारण करने का तात्पर्य यह है कि शरणागत भक्तों के पाप रूप पर्वतों को नष्ट करने में विलम्ब न हो। ‘ध्वज’ का चिन्ह धारण कर भक्तों को निर्भय रहने का दान किया है अर्थात् मेरे शरणागतों को किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिए यह आधारस्त दिया है इस प्रकार अनेक चिन्हों से युक्त आप के चरणार्थविन्द हैं। अतः जैसे पृथ्वी कृतार्थ हुई है, वैसे ही हम भी कृतार्थ होंगे, अर्थात् हमारी मनो कामना पूर्ण होगी, कारण कि, ऐसे सूचने चिन्हों का दर्शन शुभ शकुन है। ऐसा जान सीध्रता से जाने लगे। गह में अन्यों के साथ भगवान् के चरण देख संतोष भी हुआ कि भगवान् अंकुश में नहीं हैं जिससे चिन्ता आदि कुछ कम हो गए। ॥ १७ ॥

आभास — नन्द कथमत्र सर्वजो बलभद्रे न तेषां निषेधं कृत्वानित्याराध्यं तांत्रात्मकृतिः

आभासार्थं — बलभद्रजी जो सर्वज थे, उन्होंने गोपों को क्यों नहीं रोका? इस शब्द का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं कि—

श्लोकः — तांत्रथा कातरान्त वीश्य भगवान् माधवो बल: ।
प्रहस्य किच्छिन् नोवाच प्रभावज्जोनुजयस्य सः ॥ १८ ॥

१-यश । २-बताने । ३-विश्वास ।
श्लोकार्थ — बलरामजी उनके वैसे भीरूँ देखकर हैं, कितने कुछ भी बोले नहीं, कारण कि, अपने छोटे भाई माधव (भगवान्) के प्रभाव को जानते थे। ॥ १८ ॥

सुवोधिनी — तथा कालकालिनितानुनण सिद्धात्मक प्रभाव, भगवतप्रीणा सुमृत्वा विद्वानिणिनेयोऽयतसद्भावनान्। ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — बलरामजी उन (गोपों) को इस प्रकार अति दीन देख, हैं, कर चुप रह गए, उनके कुछ नहीं कहा कि वैसे करो, अथवा न करो, क्योंकि छोटे भाई के प्रभाव को वे जानते थे और यह भी जानते थे कि कृष्ण ने इनकी परीक्षा के लिए यह लौटा की है। यह श्लोक इससे पहले चाहिए अथवा क्षेपक समझना चाहिए। इसी कारण से आचार्य श्री ने इस श्लोक पर सूक्ष्म में टीका की है दूसरे टीकाकारों ने इसको १६वां श्लोक माना है। ॥ १८ ॥

आभास — गता भगवन्ते दृश्वन्त इत्याह अन्तर्हर्द इति

आभासार्थ — वहाँ गए, जाते हुए, दूर से ही (जैसे समुद्र में शेषशायी के दर्शन होते हैं) वैसे ही (यमुना हुद में) भगवान् के दर्शन किए, उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक — अन्तर्हर्देत्त भुजाभोगपरितमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्।

गोपाल्य भूतधिशणान् परित: फँघुश्व सदक्रन्त: परमकश्मलमापुर्ता: ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — वे सब कालीय दह के भीतर दूर से सर्प के शरीर से वेष्टित निक्षेपः कृष्ण को और जलाशय के पास मूर्छ खाकर गिरे हुए गोपों को तथा आर्त स्वर से राखते हुए पशुओं को देखकर दुःखी हुए जिससे वे मूर्छत हो गए। ॥ १९ ॥

सुवोधिनी — दृष्टदेव भगवन्ते यमुनाघडे समुद्रे शेषशायिनमित भगवान्तु दृश्वन्, तदाद्वारे भुजाभोगणे सापशीरण परित: वेष्टितमारादेयोऽपलभ्य सुमृतम् निरीहं जलाशयसमपी थोपुञ्जावस्था गृहपुञ्जावस्था विशेषणमाणाधि बुद्धिमाणानीति, पूव्व लग्व प्रायोविश्लेषण।

व्याख्यार्थ — हुद (दह) के मध्य में दूर से भी सौंप के शरीर से लंपित हुए भगवान् को तथा जलाशय के सामीप जिनको बुद्धि शिष्टिल हो गई है, ऐसे गोपों को और चारों ओर व्याघुल हुए।
अनिष्ट होने के कारण आरात्ता से संबंधित हुए पशुओं को देखा। वे गोप रह से तो जैसे तैसे भी आ गए, किन्तु यहाँ की ऐसी तीन प्रकार की अवस्था देख कर आरात्ता हो गए जिससे व्यक्ति और संस्कार या क्रास हो मूर्छित हुए। ॥ १९ ॥

आभास - एवं वातावरणन्तर गोपिकाओं यशोदासहितसाधारणस्त्रियां नन्दादीनां च बृद्धगोपानामवस्था आह गोप्य इतिविरः।

आभासार्थ - इस प्रकार आरात्ता के होने के अन्तर गोपियों की तथा यशोदा सहित सब साधारण स्त्रियाँ की एवं नन्दादी बृद्ध गोपों की अवस्था का वर्णन नीचे के तीन श्लोकों से करते हैं।

श्लोक - गोथोजनुक्तमनसो भगवत्मन्तै तत्सौहृदक्षितविलोकणः स्मरत्यः।

प्रस्तेरतीह भूषणुः खृत्तताः, शूचि प्रयव्यतिहतं ददृशिस्निलोकम्। ॥ २० ॥

श्लोकार्थ - जिनका भगवान् मे प्रेमपूर्वक आसक्त है वैसी गोपियों, अपने प्रयत्न को साप्त से जकड़ हुआ देख उनके सौहार्द मन्द हास्य, कठक्ष और मीठी वाणी को स्मरण कर अति दुःख से पीड़ित हो गई और प्यारे के बिना उनको तीन लोक शून्य देखने में आए। ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ - गोपीजन भगवान् की इस प्रकार की चेस्त (शरीर की स्थिति) देख त्रिलोकों का प्रीतम से शून्य समझने लगी। अपने प्रिय रक्षा करने योग्य है, इस कारण से उन्होंने अपनी तीनों प्रकार (प्राणक्ष, लोकक्ष और परलोक रक्षा) की रक्षा करनी छोड़ जैसे भगवान् के समान लग
प्रास कर लिया। गोपियों की तामसी अवस्था है यदि उनकी गोपियों की वैसी दशा हो गई तो उनके प्राण क्यों न निकल गए? उस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि उनका मन भगवान् में लगा हुआ था इनके पास मन नहीं था। आत: सर्व सम्मथ षड़ गुण पूर्ण भगवान् ने उनके प्राणों की रक्षा कर ली उनको (प्राणों को) जाने नहीं दिया। प्रीतम की यह दशा और भक्ति के प्राण रहे यह भक्ति से विरह है। इस शंका के समाधान के लिए भगवान् का विशेषण ‘अनन्त’ दिया है, अर्थात् वह भगवान्, किस प्रकार लीला करते हैं व्यय करते हैं, उसको वे (अनन्त भगवान्) ही जानते हैं और यह विषय अनिष्ठ भी नहीं है अत: भगवान् ने उनकी रक्षा कर उनको जीवित रहने दिया। केवल अब क्या करना चाहिए इतनी समझ नहीं रही और भी यह अन्य कारण उनके जीवन में है। वे भगवान् की प्रीति, मनदस्त, क्षत्रिय एवं वाणी का स्पर्श कर रही थी, जिसमें वे जीवित रह गई। प्रभु के प्रेमप्रसन्न से देख, मनदस्त की स्पर्श से इन्द्रियों, क्षत्रियों के स्पर्श से प्राण, तथा वाणी की स्मृति से अनन्त:करण नष्ट न हुआ। वे कारण तो प्राणों के रक्षक हुए।

अब प्राणों के बादक कारण कहते हैं। गोपियों के परम प्रेम का स्थान भगवान् श्रीकृष्ण है। उनको साँप ने लपेट लिया है यह देख गोपियों अत्यन्त दुःखी हो गई, जिससे प्रीतम बिना तीन लोक उनके लिए निर्धारित हो गए। इससे उनकी दशा अभी जली हुई के समान हो गई मानो उस समय वे न जीवितों की पंक्ति में थे और न मेरे हुए की गिनती में जिनने योग्य थे।

आध्यात्म - यशोदासिहतानमवस्थामाह ता इति,
आध्यात्मार्थ - यशोदा के साथ आई हुई सिखियों की अवस्था का वर्णन करते हैं-

श्लोकः -ततः कृष्णामातमपत्यमनुप्रविष्ठं तुल्यव्यथा: समपुगृह्य शुच: स्रवन्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथा: कथयन्त्य आसनो कृष्णाननेवपिदु: मृतकप्रतीकाः। ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ्य - यशोदाजी, पुत्र के बाहेर जो जल में प्रवेश करते लगी, तो उनको रोककर, यशोदा जैसी ही व्यथा वाली गोपियों आँखू डालती हुई, ब्रज के प्यारे का विषय कथाएँ कहने लगी। वे कृष्ण के मुखारविन्द को ही देख रही थीं उस समय उनकी दशा मृतकों के समान थी। ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ - यशोदा के साथ जो खियों (गोपियों) आई थी उन्होंने यशोदाजी को अपने पुत्र श्रीकृष्ण के लिए जल में प्रवेश करती देख लोकिक कितिक के अनुसार उनको रोक रखा। उस समय उनकी आँखी
भगवान् बलरामजी ने ऐसे करने से उनको रोका क्योंकि आप श्री कृष्ण के प्रभाव को जानने हैं।

भावात्माइतो वा, सोधिप कित्विनि प्रत्येकधत्तूः तत्रावः कृष्णानुभावितः कालियवदनाप्रकार्यनं भवनवने भावतीति।

व्याख्याः - जीव का निवास स्थान रागमें है, अतः जहाँ रागमें है, वहाँ जीव जाना ही चाहता है यहाँ भी नन्ददिका के प्राण श्रीकृष्ण में थे इसलिए वे श्री कृष्ण के पास जाना चाहते थे, किन्तु राम, कृष्ण के प्रभाव को जानने थे उनको ज्ञान था कि श्रीकृष्ण कालीय के दमन के लिए यह लीला कर रहे हैं, इसलिए आपने (बलरामजी ने) इनको (नन्ददिका गोपों को) जाने से रोक चूक गए कारण कि नन्ददिका गोपों को यह ज्ञान था कि ‘राम’ साधारण मनुष्य नहीं है किंच भगवान् वा भगवान् के आवेश से युक्त है।

आभास - इत्यादि कृष्णोति, कृष्णो प्राण विमान, प्राणायामस्य हि स्वेतापि स्तराय्मिः तत्वं दन्त विविषतो जाताः, तदात तातान् बलः प्रत्येकधत्तूः करथेतेन प्रतिष्ठितः स्मार्थिता इद्यासिद्धाः स भावानि, स रामो भगवान्।

भानुत्भक्तिः कालियवदनाप्रकार्यनं भावते।

सुंबोधिताः - यहाँ श्री कृष्णोति, कृष्णो प्राण विमान, प्राणायामस्य हि स्वेतापि स्तराय्मिः तत्वं दन्त विविषतो जाताः, तदात तातान् बलः प्रत्येकधत्तूः करथेतेन प्रतिष्ठितः स्मार्थिता इद्यासिद्धाः स भावानि, स रामो भगवान्।
शरीक: — इसका स्वगोकुलमनन्यपति निरीक्ष्य सत्स्रीकुमारामस्तिदुःखितमात्यहेतु:॥

आज्ञाय मर्यदपदवीमनुरत्मान: रसिकवा मुहूर्तमुदर्तिष्टुर्वबन्धात्॥ २३ ॥

श्राकार्य: — इस प्रकार भगवान् ने अच्छे प्रकार से देख लिया कि मेरा यह गोकुल मेरा बिना अन्य किसी की भी शरण नहीं लेता है। मैं एक ही इसका आश्रय हूँ अतः मेरे लिए ही जब बालक सहित सर्व नन्दादि गोप दुःख हैं तब मुझे भी विशेष समय तक इस स्थिति में नहीं रहना चाहिए ऐसे विचार, थोड़े समय तक इस स्थिति में रह कर, शीघ्र ही सर्प के बन्धन से छुट आए ॥ २३ ॥

सुभोधिनी — तत्साधानाथ भगवान् परीशा कृत्वानियाहेत्थपि, परीशाया हेतु: स्वगोकुलमिति, स्वस्य गोकुलं परीशणियमेव, अस्या कृतकर्ममाणायो-निरोधयोवैयथ्य स्वादू यदि तेषु कृतकार्य नोपल्बयेत, परीशाया तत्सम्ब्ध वदनायामन्यपति, न विद्मोऽस्य: परिश्रम, जज्ञानानु गोकुलमन्यपत्यभाव एव निर्पुरत्वं, किंक त्सत्रीकुमारामस्तिदुःखितमात्यहेतु: नर्तिन्ते निरीक्ष्य, निश्चय: सांसाराः, कुमाराः अतिवाल: तदन्नुवार्य विचार: भव्येकमेवेतत्तदिति निश्चय: ननु: स्वतः:सर्वस्य स्व: परीशयत्त्यावायुः मर्यदपदवीमनुरत्मान इति, यथा तेषु मानुषपावेनाय निरोधं करोढ़ि तथा परीशाकाभिषेक कृतान्। अतो मुहूर्त स्थितिता पुरस्कारभावाः सर्पं-मनुष्यमुदर्तिष्टुस्तिधतः। निद्रापाये सुधिमित्र कृत्वानियाहेतु:॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ: — यह गोकुल (गोकुल में रहने वाले सब मनुष्य पशु आदि) मेरी है क्योंकि मैं इसका निरोध किया है अतः इसकी परीक्षा करने आवश्यक है, यदि परीक्षा नहीं की गई तो कैसे पता लगेगा कि इनका जो निरोध किया वह सिद्ध है या ये भूल गए हैं। परीक्षा से यदि यह ज्ञान हो जाए कि ये अब 'निरोध' में स्थित नहीं हैं, तो किया हुआ कार्य और जो करना है वह व्यर्थ है। इसलिए परीक्षा ली गई है। परीक्षा का परिणाम यह आया कि ये इतना कष्ट जेलते हुए भी दूसरे की शरण में नहीं गए हैं दूसरे की शरण नहीं जाने से दुःख के कारण जड़ बन गए हैं। भगवान् ने परीक्षा से यह निश्चय किया तथा यहीं, बाल और आप सब सुःख हैं जब देख विचार कर इनके दुःख को मिटाने के लिए स्वतः थोड़े ही काल में सर्प के बन्धन से छुट गए। भगवान् आप सर्वर्ष्ण हैं तब परीक्षा की व्या आवश्यकता थी? इसके उत्तर में कहते हैं निचले भगवान् ने यह मनुष्य के समान परीक्षा की है। इसलिए जैसे मनुष्य भाव से लीला करते हुए निरोध किया है वैसे ही उसी भाव से परीक्षा भी की है जैसे शेषशायिक कुछ देर निंद्रो भी हैं और निद्रा की निवृत्ति होते ही सृष्टि करते हैं वैसे ही यहाँ भी थोड़े देर नाग के बन्धन में बनाए कर स्वतः: उस बन्धन से छुट गए। ॥ २३ ॥

अन्वेषण: नर्तिन्ते निरीक्ष्य निश्चय: सांसाराः, कुमाराः अतिवाल: तदन्नुवार्य विचार: भव्येकमेवेतत्तदिति, ननु: स्वतः: सर्वस्य स्व: परीशयत्त्यावायुः मर्यदपदवीमनुरत्मान इति, यथा तेषु मानुषपावेनाय निरोधं करोढ़ि तथा परीशाकाभिषेक कृतान्। अतो मुहूर्त स्थितिता पुरस्कारभावाः सर्पं-मनुष्यमुदर्तिष्टुस्तिधतः। निद्रापाये सुधिमित्र कृत्वानियाहेतु:॥ २३ ॥

1-अपने आप, बिना किसी की सहायता के।
आभासार्थ — कालिये ने भगवान् को छोड़ दिया उसके पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस स्लोक में करते हैं।

श्लोक: —तद्रथ्यमानवपुष्णा व्यथितात्मभोगस्यक्तोत्रभ्रमण्य कुपित: स्वफणान् भुजखः।
   तस्थी श्रसमज्वातंश्रिविदम्बिप्रस्तवबक्षोत्कृतीमृतूपमुक्तमृत्युहरिमीक्षकम:॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — (भगवान् को जब नाग ने अपनी पाश में जड़ लिया तब वह अपने अंग को पुलाने लगे) भगवान् के शरीर के बलने से उस साँप का शरीर पीड़ित होने लगा (अर्थात् नसे टुटने लगी) जिससे उसने भगवान् को अपने बन्धन से छोड़ तो दिया किन्तु क्रोधित होकर विरोधी पूँछों से फेंकने लगा तथा आवा (भट्टी) में तपाए गए (खयरा के समान) लाल स्थिर नेत्रों से युक्त मुख से आग की लपेटे निकालते गए और श्रीकृष्ण को देखते हुए सामने खड़ा हो गया।

युद्धार्थः तस्थी क्रोधे हि बलमधिकं भवतांतः।
   विद्विधिभवं प्रभासेनि श्रस्मृतम् निविदयन् विद्विधिवा।
   किन्त्र श्रस्मृतं श्रिविदम्बिप्रस्तवबक्षोत्कृतीमृतूपमुक्तमृत्युहरिमीक्षकम:॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ — भारत आदि ग्रन्थों में कहा है कि जब भगवान् साँप से अपने को लपेट जाकर निक्षेप गए थे, तब बलरामजी ने भगवान् की स्तुति की है और उनके प्रबोध भी किया है (जजारा है) यह उन ग्रन्थों में कही हुई कथा किसी दूसरे कल्प की है। कितने ही कहते है कि उस कल्प में भगवान् अंशावतार थे और मानुष भाव ग्रहण किया था (दूसरों का कहना है कि भगवान् ने लीला से यों किया था) वास्तविक बात तो यह है कि भगवान् जहाँ, जैसे, जिससे जो कुछ करते हैं वह (भगवान् की प्रेरणानुसार) वहाँ वैसा ही करता है। पहले (जब साँप ने आपको लपेटा था तब) आप सूक्ष्म थे पश्चात् (लपेटे जाने के कुछ समय के अन्तर) स्थूल बन गए जिससे साँप के शरीर के बन्धन स्वतः मानो टुटने लगे और उस शरीर की स्थूलता से सर्प के शरीर में पीछे होने लगी, पीछे का कारण शीघ्र ही उसने भगवान् को छोड़ तो दिया किन्तु अपने फानों को ऊँचे कर क्रोधित होके लड़ने के लिए सामने खड़ा हो गया क्रोध इसलिए किया कि जब शरीर
श्री सुभोभिनी की हिंदी टिका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवान्त प्रकरण - अध्याय २

में क्रोध उत्पन्न होता है तब शक्ति बढ़ जाती है। खड़े होने के समय भी सर्प अपने पांच छिड़ों (२ नेत्र के २ नाक के और एक मुख) से भयावह दिखाता था, जैसे नाक के छिड़ों से विष सहित वायु निकालता था, ओँ (भुनने के पात्र) के समान लाल संबि ९ नेत्रों से, मानो अग्नि आ रही है, इस प्रकार जिसके मुख से भी आग उगली जा रही है वैसा वह काला कालीय हरी को देख रहा था। इस विषंति वायु एवं अग्नि से भगवान् को तो कुछ ही नहीं सकता था, किन्तु सर्प नष्ट हो जाता फिर भी वैसा नहीं हुआ, कारण कि, भगवान् की सतर्कता में खड़ा था इसलिए जला नहीं, भगवान् के सामने ही खड़ा रहा ॥ २४ ॥

आभास - तदा भगवान् यतृ कृतवान् तदाह तं जिह्यते,

आभासार्थ - उसके पश्चात् भगवान् ने जो किया वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक: - तं जिह्य यद्विस्थितम् परिलिपिहणां द्वे सूक्ष्मिणी हातिकरालविशालात्मकः ॥२५॥

क्रीडान्तुः परिसार यथा खगेन्द्रो ब्रह्माम सोज्यवसर्न प्रसमीक्षमाणः: ॥२५॥

श्लोकार्थ - दो शिखा वाले (दोहरों) जीभ से दोनों गलफरों को चाट रहा है ऐसे अति विकरण विशाल में भेरे हुए दृष्टि वाले इस सर्प के चारों ओर क्रीड़ा करते हुए भगवान् गरुड़ के समान फिरते लगे और वह भी अवसर देखता हुआ भगवान् के चारों ओर फिरते लगा ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ - दो शिखा वालों (दोहरों) जीभ से दोनों हाथों के भागों को चाटते हुए, अतिविकरण विषयुप अर्थ सहित दृष्टि वाले सर्वोपरि क्रोध से बेसुध बने हुए उस प्रसिद्ध कालीय के चारों तरफ कौतुकी (विनोद करने वाले) भगवान् जैसे गरुड निर्भय हो फिरता है वैसे निर्भय फिरते लगे। जैसे काथा से अर्थ की भय नहीं होता है। भक्त्रे पदार्थ से भक्त्रे को भय नहीं होता है,

'इस लीला के सम्बन्ध में भक्त्रे सूतदासजि का एक सुन्दर पद इस अध्याय के अन्त में देख।

१ निश्चित, स्थिर । २- जो वस्तु खाई जाय । ३-खानेवाला।
आभास — तदा भगवान् निगृहै तदुपरि नृत्यं कृतवानित्याहैवमिति,
आभासार्थ — इस प्रकार फिरते समय भगवान् ने उसको पकड़ लिया और उस पर नृत्य करने लगे उसका वर्णन नीचे के इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोकः — एवं परिध्रमहतीजसमुत्तरांसमानन्त्य तत्त्र्युशिरः स्वधिरुत्त्व आद्यः ।
तन्मूर्धनकर्षणश्चिताप्राप्तापदायुजोरखलकलानिगृहस्तर्त ॥ २६ ॥

श्लोकार्थः — वैसे फिरते फिरते, जब उसका (सर्प का) बल नष्ट हो गया, तब ऊंचे कन्ये वाले उसको (सर्प को) नमाकर, वे आदि पुरुष भगवान् उसके (चंचल) शिरों पर चढ़ गए और नृत्य करने लगे क्योंकि आप सर्प कलाओं के गुरु हैं। उस समय आपके चरण कमल उसके मस्तक के रनों के समूह से अतिशय लाल हो रहे थे ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थः — यद्यपि कालीय सर्प दुष्ट होने के कारण भगवान् को अपने ऊपर नृत्य करने नहीं देता, किंतु सर्प की शक्ति चक्र उत्तर करने से नष्ट हो जाती है अतः इसने भी बहुत परिश्रम किया था जिससे इसकी शक्ति नष्ट हो गई थी, शक्ति हीन हो जाने से भगवान् के नृत्य में रकाबत न दालन सका। शक्ति हीन हो गया था किंतु उँचे ऊंचे थे उनको भगवान् ने नमा लिया। दो कठोरों के ऊपर दो पाद धर कर उनको नमाया और दो को हाथों से नीचे कर लिया अनन्त हु उन विशाल
श्री सुभोगिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवानि प्रकरण - अध्याय २

शिरों पर चढ़ गये। यद्यपि सर्प अमंगल है उस पर चढ़ना नहीं चाहिए कितने भगवान् सब के आदि होने से सब के पिता हैं तो सर्प के भी पिता हैं पिता के लिए कोई सन्तति अमंगल नहीं है और भगवान् सर्वदा श्रेष्ठार्थ हैं इस लिए आपको सर्प पर चढ़ने का अभ्यास भी है अत: वहाँ चढ़ गये। चढ़ने के अन्तर्गत सर्प के शिरों के गत्थों से आपके चरण लाल हो गए, जिससे आप उसको मानों अपनी पूजा समझ सन्तुष्ट हो गए अत: आप उन (शिरों) पर नृत्य करने लगे।

कालीय के शिर सिधेह नहीं थे और विषम् थे उन पर नृत्य कैसे किया? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् ने ही सब नृत्य आदि कलाएं संसार मात्र को सिखाई हैं अत: आप सम्पूर्ण कलाओं को सिखाने वाले आदि (पहले) गुरु हैं। जगत में जब देखा जाता है कि रससी पर खड़ाई पहनकर नाचते हैं तब इस स्थान विशाल फणियां पर नाचने में कौन सा आश्रम है॥ २६ ॥

आभास - नृत्ये गीतवाद्योपक्ष्यातु तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशाख्याहं तं नरुमुद्रातमिति,

आभासार्थ - नाच के समय यदि गीत और बाजे नहीं हो तो नृत्य में रस नहीं आता है इस शंका के होने पर यह श्लोक कहा गया है-

श्लोक: - तन नरुमुद्रातमित्यं तदा तद्दीयगतर्वसिद्धामुनिनिरारणऽदेववधः।
प्रीत्या मृदुरुपणवनकावादगीतपुष्पोपहरानुतिभि: सहसोपसेदः। ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ - जब आप नृत्य करने को उदात्त हुए, तब आपको देख, भगवान् गद्धार्थ, सिद्ध मुनि, देव, चारण और अस्वातां ये सब आनन्द पूर्वक मृदुंग, पण्ड, आनक आदि बजे, गीत और पुष्प, तथा भे एवं स्तुति से सेवा करने के लिए तुर्न उपस्थित हो गए॥ २७ ॥

सुभोगिनी - सर्वव्रत देवा भगवान् पशुतं एव तिष्ठन्त, अवापि ते लोकानां सेवासामाध्यतु स्वयंहेतु सेवां कृतवत् इत्यह नरुमुद्रात भगवान्तवेशं तदा त्सर्वसम्बन्धे तदा तद्दीयाय ये गर्भवादवस्ते प्रीत्या स्वस्त सेवाविनियोगां जाता मृदुरुपणवनकनिनि वादानि गीतानि पुष्पोपहराः। तदनुवर्षो नुतिभि: सारः: सहसो शीष्मेवं देवसुपरसादुपसादः। तृणे हि प्रथमसतो नान्दी तत्र देवस्तुतिः: पुण्डवमुद्रा कर्तव्यः

श्री सुभोगिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवानि प्रकरण - अध्याय २

२५-भीषण, टेर बाँके। २६-तेवरार।
व्याख्यार्थ - देवता लोग सब स्थानों में भगवान को देखते रहते हैं यहाँ भी उन्होंने देखा कि लौकिक मनुष्यों में भगवान की सेवा करने का सामर्थ्य नहीं है इसलिए स्वयं सेवा करने के लिए उपस्थित हुए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

भगवान को नृत्य के लिए उद्देश्य देख कर उसी समय भगवद्गीता जो गन्धर्व आदि थे, वे अपने सेवा के विनियोग (सेवा में लगने का) अवसर देख, समझ, मृदंग, पण्डव और आनंद आदि बाजे गीत (गाने) पुष्प वृक्ष तथा स्तोत्र आदि लेकर यशोर ही आकर वहाँ उपस्थित हुए। जब नृत्य आरम्भ करना होता है तब प्रथम नादी पश्चात् पुष्पों की वर्षा होती है उसके अनन्तर बाद्र (बाजे बजने) तथा गीत आदि की क्रिया की जाती है। यहाँ भी प्रथम बाद्र तथा गीत का प्रारम्भ कर नादी को प्रकट करने के लिए पुष्पवृक्ष होगी ही। यहाँ क्रम कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देवों से भी अधिदेव भगवान की स्वति करनी है अल: कहा गया है कि यशोर ही वे वहाँ आकर पहुँचे।

गन्धर्व (गानेवाले) व सिद्ध (पुष्प वर्षा करने वाले) मुनि (स्तुति करने वाले) चारण (वजने वाले) देव बधू - अस्तिक (नृत्य करने वाली) ये सब सेवा करने के लिए प्रेम से आए हुए थे। नाटक में कभी दो का नृत्य होता है और कभी बुद्धों का नाच दिखलाया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी उनका इस नृत्य में उपयोग होने से उपकार होता है। ॥ २७ ॥

आभास - एवं नृत्ये क्रियामणे यदासीत् तदाह यद्यदिति,

आभासार्थ - भगवान् के नृत्य करने से जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक: - यदाचिघो न नमतेदार शतसंख्य्र्यश्रमतनं ममदेखलदुद्ध्वरोध्यिधिपतेः।
क्षीणायुधः भ्रमत उल्भमामायोरसृजः नस्तो वमनः परमक्ष्मलमाय नागः। ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ - हे अंग! सौ मुख्य मस्तक वाले का जो, जो शिर नहीं नमता है (था) दुष्ट दमन करने वाले भगवान् अपने चरण प्रहार से। उसका दमन कर देते थे कालीय नाग की आयु क्षीण हो रही थी तब भी घूम रहा था उससे (घूमने से) उसके मुख तथा नासिका से रक्त बहने लगा जिससे उसको बहुत कष्ट होने लगा। ॥ २८ ॥

*नाटक में सुगमार आकर जो सर्वप्रथम प्रक्ष्यलालरण से देवता की स्तुति करता है उसे नादी कहते हैं।

१: नाते मारकर।
श्री सुधौधिनी की हिंदी टिका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवातार प्रकरण - अध्याय २

श्री सुधौधिनी - यद्यपि कालियस्य शिष्यों न नमसे तदेव नामयूँ दमयाम्बुलोति समम्। श्रात्स शतसवक्षाके इनकानि प्रवधानानि श्रीरीशां गुरुः, येदादास्य कालियस्य सर्ववेयुक् शिविविस प्रधानानीयकायकायकेऽन्तु नामेऽ नरनां अतः प्रतेक्नानां, अहुतातींसन्धोषां श्लेषात, आदि यथा नामेऽ नन्तु नन्तु न नन्तुतंद्यन्त स्थित एवाकार्याँ तुवं गतिविधियोपस्ताल-समाप्तिस्थास्मे न तत्मिन्वीणोपचैस्सि पादप्रसारां करोति, ततः पादप्रसाराभ्या तन नत्तेव निश्चित, किष्क न प्रहारमां तकरेरि किन्तु ममप्र, पादेन मातंनवरि करोति यथोप्रशिलि लघुः गच्छि हृदयप्रहरोरुपिकाव्याजनामरि, नरांक्षतिकर्मों कृषियशेषं करोति ? तस्मां हलद्युष्टऽहित खलानां दण्डाभ्यं विद्वति, अतो दण्डाधियों परितन्तप्यः, तत्। कीर्तायुष: कीर्तायुष किर्त्स शृङ्खल्यस्य संधार्मचण्डानां जात। तद्यद: श्यामेर्वनाशकार्मित्युत्कान्न नस्तो नासिकाः। तवम् नाम: पवमकश्तमाप, मूँह महत्वि व्यथाः वा। नागाजातित्वातः पतायेः शूरा हि ते, कीर्तायुष: किर्त्स संधिमुखार्मित्य भिं कव्यं सहस्रस्सख्यमां देहपरं वा, अन्यत तु जीवपरं। ॥ २८ ॥

व्याकरणार्थ - जो जो कालीय का शिष्य नहीं नमसी था उसको ही भगवान् दमने करते थे। कालीय के सों शिष्य थे किन्तु प्रतेक्न शिष्य मूढ़ था अर्थात् स्वतंत्र था जिससे एक के दमन करने से दूसरे का दमन नहीं होता था, इसी कारण से भगवान् को हर एक शिष्य का दमन पृथक्। पृथक् करता पड़ा। यहाँ अन्या यह सम्भोधन स्नेह प्रकट करने के लिए दिया गया है यदि कालीय स्वतंत्र अपने शिष्य को पहले ही नहीं नमसे लेता था तो भगवान् अन्य शिष्य पर स्थित होते हुए ही नाच करते, जब ताल को तय की गति समाप्त होने का समय आता तो उस के साथ आप अपने पाद के भ्राह्मण से उस दूसरों उठाए हुए। शिष्य को लात मारने के साथ कुछल भी देते थे जिसे से वह दंग करता पुनः उस शिष्य को ऊपर न उठाकर नीचे ही रखता था कुछने से साँप को ऊपर की चमड़ी उखड़ जाती जिससे दूसरे बार लात मारने से निशेष पीड़ा हो तो यह अपने शिष्य की पुनः ऊँचाई न उठाये। भगवान् तो किल्ला (दुखः) देने वाले कर्म करते नहीं हैं फिर यहाँ वैसा कर्म किया किया। इस शंका का उत्तर है कि भगवान् आक्रिय कर्म होने के साथ दुःखों को दण्ड देने वाले भी हैं। अतः सर्प को दण्ड देने के लिए चौंक में है।

इस प्रकार दमन करने से उसकी प्राण शक्ति निरंतर होने से वह मृत्यु के समान हो गया और उसके नासिका तथा मुख से रक्त बहने लगा जिसे रेकने की शक्ति उस में नहीं रही थी। रक्त निकाल जाने से उसको अचरण कर हुआ। अन्यथा बहुत मूढ़ आ गई। ऐसी दशा में भी वह इसलिए नहीं भागा कि सर्प जाति शृङ्खला होती है, वीर युद्ध में मरता स्वीकार करते हैं किन्तु भागना नहीं चाहते हैं, इससे यह कालीय काल्य सर्प कैसे भागे। कीर्तायुष वाले में रूढ़ि बढ़ गया। यह वाक्य पृथक् है अर्थात् केवल देह से सम्बन्ध स्थान चलता है। शेष अन्य वाक्य जीव से सम्बन्ध स्थान वाले हैं। ॥ २८ ॥

आधारार्थ - पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः।

आधारार्थ - पूर्वश्लोक २८ में आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक के दण्ड का वर्णन किया अब २९ में आधिदैविक के दण्ड का वर्णन करते हैं।

नमः २९ वे श्लोक में दो हुई हैं।
श्लोकः — तत्स्याभिभ्यंगः समुद्रः समुद्रवति निः समनो न्योऽष्टः।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं। ॥ २९ ॥

श्लोकार्थं — क्रोध से ऊँचा श्रास्त्र लेता और नेत्रों में से पड़े उगलता दुःख यह नाम, शिरों में से, जिस जिस शिर का उठाया है, उसी शिर को जूठी करते हुए शक्ति ने अपने चरण से नमा कर सर्प का दमन किया उस समय सर्थवृद्धिक देवी ने ऊँचे पुष्प व्रृष्टि को उससे मानो भगवान का यहाँ पूजन हुआ है। वैसा दृश्य देखने में आया ॥ २९ ॥

सुबोधिनी — तत्स्याभिभणिता, नास्कामुख्योऽ।
रङ्गभेद विभावध्वनि जाताः। अक्ष्णोऽसु जान्मद्वताः।
प्रतिवेदनं न जालादिर्न मयाभिभणिता तदात्मा सिद्धं
शिशुः शिशुः समुद्र नमसकु र पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं।
स्मान्देवनास्मात्मेव यो जाताः। देवान्तिद्वस्त्रविवाहं कालिच्चित्र विश्लेषिः।
तावं च पुनःदद्धातुं, गर्भल रक्षरूपं च समुद्रानां।
तदयो भलोऽचेति, पश्चात्तम्मायनं प्रतिहते नः।ः शत्रूपनात् नाथः।
पं निषादः इति। तदात्मायम्ब्वभूवं पूज्यते सुमयाभिभणिता।
समुद्रानामसत्त्वनेत्र देवान्तिद्वस्त्रविवाहवति।
आयुष्मान्त्वकं किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
न्योऽष्टः नन्योऽष्टः नन्योऽष्टः समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।
नूतनं पदानुमन्युं द्वायम्ब्वभूवं पुष्ये। सुपूजितं इवेहं पुमानं पुराणं
इति इतिहासात्रवस्त्रविवाहं पूज्ये। सुपूजितं इव जाता
आयुष्मान्ति किरति। भगवान्तिद्वस्त्रविवाहं समुद्रानां।

व्याख्यार्थं — कालीय अक्ष्णों विष श्रास्त्र दुःख विष चारी निकलने लगा केवली अपने विष ने दिहा विष ने दिहा विष ने दिहा ने होने से नाम कथा तथा पुराण से वह बहने लगा था जिससे वह बहने लगा था जिससे सर्प उन द्वारा से विष वमन नहीं कर सका कारण कि शिर ने विष के निकलने का मार्ग बना कर दिया था। नेत्र जान्मद्वता थे अतः विष को निकलने से नहीं रहा का। दूसरे ने द्वारा वमन करने वाले के शिरों में से जो शिर ऊँचा उठा था उसको भगवान चारण से मार कर दमन कर देते थे। इन सर्प के शिरों में जो शिर आधि जीवन भाव को प्राप्त हुए थे, वे ही फिर ऊँचे होते थे। ऊँचे होने की शक्ति उसके (सर्प के) उपाय स्नेख से उनसे अधि जीवन भाव को प्राप्त हुए थे, वे ही फिर ऊँचे होते थे।
लगता और समझ जाता कि अब कोई अन्य छूटकारा नहीं है। क्षण होने पर भी, यदि भगवान् मारंगे तो भले मारं, मरने के लिए स्वयं आगे आ जाता और क्रोध में भस्मक शिर को अच्छी तरह ऊँचा करता। इससे यह जाता कि, यह शिर देवता का अधिकार (रहने का स्थान) है। आधिदेविक बल भी क्षण होने से, मरने के लिए उपयुक्त (निकट आया) हुआ है किन्तु इसको साक्षात् मारा उचित (योग्य) नहीं है अतः भगवान् नौकर करने जाते पाद से उसको सन्मुख कर फिर अपने को प्रणाम करके रूप शिशुत्वः करते हुए उसका दमन करने लगे अलवा स्वयं भगवान् ने ही दमन किया। इस प्रकार तमाम करने से आधिदेविक (शेष) एवं (विरुध्ध) उपास्य देवता की कोई अनिश्चित (अप्रसंगता) न हो जाए याद होगी तो यह कार्य मर्यादा के विरुद्ध हुआ कहा जाएगा। किसी को इस प्रकार शंका हो जाए तो उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि इस अवसर पर भगवान् मारा पुष्पों से पूजा गई। आध्यात्मिक को भगवान् ने सन्मान की शिशुत्वः दी इससे आध्यात्मिक और आधिदेविक दोनों संतुष्ट हुए जिससे उन्होंने अलोकित प्रकार से अर्थात् अपने दिव्य तेजों से भगवान् का पूजन किया वे तेज, पुष्प जैसे हो गए इसलिए कहा है कि पुष्पों से भगवान् का पूजा की।

दोनों ने भगवान् की आधिदेविक प्रकार से पूजा की प्रयोक्षण के पूजा का कारण यह है कि, भगवान् पुष्प हैं, शिशुत्वः में केवल पुष्प न कहकर पुष्प भी कहा है इस लिए जो पुष्प पुष्प अर्थात् पुष्पोत्सव है तथा जिसकी व्यास कपिल आदि भी उपासना करते हैं वह सबों को पूजना चाहिए इस लिए जो तीन प्रकृतः रूप उपास्य है वे भी उस की (पुष्पोत्सव की) उपासना करते हैं। अतः कलायर्थ को आध्यात्मिक तथा आधिदेविक दोनों रूपों से जो पूजा की वह उचित ही है।

भगवान् अद्वृत कर्म हैं अतः मुख्यः पर्यवेक्षक कलायर्थ को दर्शन दिया और अर्थात् कर्मों के कारण नृत्य करते हुए दर्शन दिया, मारा नहीं। ॥ २९ ॥

आभास — एवं सति भगवजराणविवृतप्रसाददत्तस्य ज्ञानभक्ति जाते इत्याह तच्चितात्रतिः।

आभासार्थ — इस प्रकार नृत्य करने से भगवान् के चरणार्थविन्द के अनुग्रह से उसको (कलायर्थ को) ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति हुई, इस शास्त्र में यह चर्चना किया है।

---

† ऐसे पवित्र स्थान पर जिस प्रकार का कार्य अब तूँ कर रहा है उस प्रकार नहीं करना चाहिए इस प्रकार की शिशुत्वः करते हुए।

♦ एकतमा प्रक्रम के २२वें अध्याय के इस शरीक (ममांग स्वामय) में लिखा है कि भीं मारा अनेक प्रकार की है मेरी कालीन रूप में जो विकल्प बुद्धि होती है वह गुणों द्वारा होती है जिससे अध्यात्म, आधिदेव एवं अधिभूत कहा जाता है इत्यादि।

‡ उसमें हिन्दूओं का सामूहिक नष्ट हो गया। यह दर्शन आध्यात्मिक स्वरूप को दिया है।

‘प्रकाश’

‘लेख’
श्लोकः - तत्वेत्रताण्डवविरुग्णानां पारसने रक्तं मुखीकृत वमनं नृप भगवानः॥
स्मृता चा रचारसमर्ख पुरूषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥ ३०॥

श्लोकार्थः - हे नृप! भगवान् के विचित्र ताण्डव करने से जिसके फण रूप छत्र ढूँढ़ पड़े ऐसा, वह नाग मुखः में से गक्त उगलता हुआ जब भगवानं हो गया तब उसने श्रीकृष्णचन्द्र को चरार के गुरु, पुराण पुरुष और नारायण समझ मन से उनकी शरण ली॥ ३०।

यावकार्थः - वह कालीय अभिमानी था उसको जन्म की प्राप्ति कैसे हुई? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे राजा को राजापन का अभिमान तब तक रहता है जब तक उसकी श्रेष्ठ छत्र स्थापित है, उसके नष्ट होने पर, राजा का राजापन का अभिमान नष्ट हो जाता है, वैसे इसके फण रूप छत्र को, भगवान् के विचित्र ताण्डवनृत्य करने से, विशेष भाँति भान्ति कर दिया जिससे उसका अभिमान भी नष्ट हो गया।

नृत्य दो प्रकार के होते हैं, एक का नाम लास्य है और दूसरे का नाम ताण्डव है। लास्य नृत्य रिश्वं करती है और ताण्डव पुरुषं का नृत्य है। उन नाचों के अनेक प्रकार हैं। उनमें, जैसे प्रलय के समय, विचित्र ताण्डव नृत्य कर महादेवजी उस रस में मन हो जाते हैं। वैसे ही पुरुष भी ताण्डव करता हुआ रस मन होता है। वह नृत्य भगवान् ने यहाँ उसकी (सर्व की) शिष्या के लिए किया। अनं: करण का दोष रक्त है वह आध्यात्मिक दोष मुख से रक्त के वमन हो जाने से नष्ट हो गया और गाँवों के ढूंढ जाने से, आध्यात्मिक करण दूर हो गया। जिससे निरोध हो गया अतः अभिमान त्याग, नारायण समर्पण करने लगा। नारायण का समर्पण इसलिए किया कि नारायण, आध्यात्मिक यशो
पर शयन (स्थिति) करते हैं, क्योंकि वे अपने समक्ष चलते हैं जिससे उस पर आधिदैविक का उपकार हो जाता है। इस उपकार से शुद्धता: करण हो, नारायण की स्मृति करने लगा। निर्देश होने पर भी जब तक महापुरुषों की कृपा नहीं होती, तब तक भगवतस्मरण नहीं होता है। कालीय निर्देश हो गया किन्तु जब आधिदैविक ने उपकार किया, तब पूर्ण समरण करने लगा।

उपास्य की कृपा से, इसको (कालीय को), यह ज्ञान हो गया, कि वह ही यह पुष्पोत्सव है। ऐसा ज्ञान होने से अपने को दास समझ उनको स्वामी: मन और वह ही सबके आदि है। यो निर्मल पूर्वक ज्ञान लेने से उनके ही शरण मन पूर्वक गया।

नारायण के शरण की भावना मन से ही करनी चाहिए। क्योंकि वे अन्त: करण के साक्षी हैं। इसलिए जब तक हम मन से शरण नहीं जाते तब तक उससे फल सिद्ध नहीं होगी क्योंकि वे हमारे अन्त: करण की सब बात जानते हैं। इस प्रकार शरण जाने के पूर्व सेवा करने से भक्त बनता है।

भक्त होने के पूर्व हार नहीं होता है। यो समझ लेना चाहिए। ३०।

आभास — अन्यें स एवं जात इत्यन्तेनैव तस्य विमोचने वक्तुं तस्य सिम्य: सामागता इत्यह कृपायण्येति।

आभासार्थ — कालीय भगवान् की शरण अन्यों की प्रेरणा से आया था अत: उसको अन्यों ने ही छुड़ाया यह कहने के लिए, उसको (नागको) क्रियाओं आई जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — कृष्णस्य गर्भजगतोत्सिष्ठति भाराभस्वन्तपर्विभाषक्रमस्य।
दृश्याहिमाद्यमपूर्वसुदुर्पुष्प वल्य आर्यत: स्युद्यस्यन्मूखानकेशवन्यत:। ३१।

श्लोकार्थ — उदर में स्थित समस्त जगत् के भावले भगवान् के बोझ से पीड़ित और उनको एड़ी के प्रहार से टूटे हुए फुंग रूप छत्र वाले कालीय नाग को देख जिनके वक्त, आभूषण और बालों की शोभा शिखिल हो गई है वैसी अत्यन्त आर्य। उसकी पतियाँ भगवान् के शरण आई। ३१।

सुखोधिनी — ता हि भैरव प्रक्षः प्रतिवन्ध: पार्थस्यर्ग, अत: स्वर्गमेधातास्माते ज्ञान, कृष्णस्य भागिनावस्त्रं पीढितवर्षिणीहङ्क च: परित: भगवं फलातपर्वथ। एवं स्वल्पिस्मान्तय: गदोपममुद्वाच वल्यस्य युग्मात पृथ्वी: भगवत: स्मृतादिमुद्वाचित्सबन्ध:। नसु: ब्राह्मणस्य भगवत: को पार्थत्र प्रक्षस्यद्विन्द्रस्य स्मृतादियेव भाष्यत। तवाह
गभें जगद्द यत्लयि न हृणक जगद्वार: सोड़ू शब्दरेत, 
नवयत्व प्राता श्रेष्ठ: कथं सह्य? ततोकत परितो भर्नम 
कण्णलक्पय यत्लयि, कः न अंकवल भगवनु भर्तुः? किन्तु 
गायत्रि च, नवनयत्व सिथि: कथं भगवस्थाने समगतता? 
तत्त्वाहारामिति, स हुहे: स्वस्त्व च मूलपूर्वत भवति, 
किज्ञामुख्य पन्थोः "पल्लवुः यज्ञसंपोः" हृति यज्ञसंपोः 
एवासां पत्नीतः, अथ त-भगवनु यज्ञः, तत पति: संयुक्तः

सच्च चेदस्युपातः: सत्तुसादा पत्यः एव न स्यः; किष्ठाम्प
पलीवहनक तस्याधारास्करेः पवन्ततः: स्वरूपव ताठिता अर्थमुता 
विज्ञापितां, नवनयत्व स्त्रानेकः कथमयोऽताः इव पाठीतो 
भोजः। शाखा तुपचं शार्त्यसपि मातं दूहूकुऽवस्त्राधिकारे 
तत्रेऽव भवतिः ताठिताविना गाँ भूर्यति वसनानि भूपणानि 
केशान्भार्य चासाम्। ॥ ३१ ॥

व्याख्यात्मः - नाग को श्रियाँ पतिनेत्ताँ थे, वे पति के दर्शन के लिए वहाँ आई थीं उनका ज्ञान 
पतिनेत्त धर्म के पालन के बल से हुआ था। श्रीकुण्ड के बोझ से पौढ़ते तथा (वैसे) एती के प्रहार 
से, जिसके फाय रूप छाता जूठ गए हैं वैसे नाग को, उन्होंने (नाग पतियाँ ने) देखा। भगवान् के इस 
प्रकार की लीला से, जिसके अपने (देह के) तथा अभिभावक के दोष रूप नष्ट हो गए हैं वैसे उसकी देख। उसकी श्रियाँ दुःखित होने लगीं, अत: भगवान् के निकट शरण में आई।

भगवान् के भर से पौढ़ते हुई, वह कहना असाध्य है, कारण किं पौढ़ी बोझ से होती हैं, बोझ 
व्याप्त पदार्थ में होता है, स्थाल पदार्थ वह होता है जो पौढ़ भूमियों में से बना हुआ हो। भगवान् का 
श्री अंग पौढ़ूलियों से नहीं बना है अत: मुख्य अलौकिक होने से, उसमें भर तो है ही नहीं, तब वह 
पौढ़ते हुई आ? इसके उत्तर में कहते हैं कि देह के भर से पौढ़त नहीं हुआ किन्तु उद्धर में सिद्ध 
जगत् के भर से पौढ़त हुआ है अकेला इतना जगत् का भर कैसे सहन कर सकेगा। इसलिए दुःखी 
हुआ है।

इसका (कालीय का) भाई, श्रेष्ठ कैसे जगत् का भर अकेले धारण करता है। जब वह धारण कर 
सकता है, तो वह बयों न धारण कर। इस पर कहते हैं, कि उसकी (कालीय की) फाय भगवान् 
ने तोड़ डाली हैं, जिससे वह श्रीय नहीं हुआ है।। श्रीय शक्ति वाला भर कैसे सहन कर सकेगा, केवल 
भगवान् का भर है, तो किंसी प्रकार वह सहन करने का प्रयत्न भी करे, किन्तु वे तो माते भी थे।

ये श्रियाँ, नाग को पतियाँ हैं, वे दूसरे के वहाँ, अर्थात् भगवान् के स्थान पर कैसे आई इस 
शंका की भीतने के लिए कहते हैं कि वह (भगवान् कृष्ण) सर्प (कालीय) तथा उसकी श्रियाँ के आदि 
है। ये श्रियाँ कालीय की पतियाँ तब हो, जब वे, भगवान् से संयोग करें व्यों कि, 'पल्लवुः यज्ञसंपोः' 
इस शाश्व वचन के अनुसार पत्नीत्व तब होता है, इसका स्पष्ट कर समझाते हैं कि यह भगवान् यज्ञ 
रूप है उससे हमारे पति का (कालीय का) संयोग हुआ है। अब हम यज्ञ रूप भगवान् से संयोग न 
करने तो हम पतियाँ ही नहीं बने। पतली होने से उसका (कालीय का) अर्थशरीर भी तब ही तो दुःखी
इस जिससे चे बताते हैं, कि देखो हम भी उसे (भगवान् से) तात्क तोकर आधी मरी हो गई है।
कैसे कहें, कि यह आपका कहना सत्य नहीं है। क्योंकि एक के मारे से अन्य का मारा जाना कैसे माना जाए, जिससे दूसरे को पीठ हुई हो। इसका उत्तर देते हैं कि यह आपका मत, अनुभव से विरुद्ध है। शास्त्र ने जो पत्ती को पतिता का आधा अंग कहा है वह अलंकारिक भाषा नहीं है किन्तु सत्य वाक्य है। इसके प्रमाण में हम अपना अनुभव तथा चिन्ह बताते हैं। मार खाने से हमारे शरीर दुख जा हो गए हैं। जिससे हमारे व्यक्ति, आध्यात्म और केश पाश सब शिथिल हो गए हैं। 31।

आभास — आदिमध्यावसानेषु संयुक्तपदार्थानां माननानां सम्बन्धार्थ श्रीमती दयोदयानाथ भरतीर भरतवीरकार भरतविनात्मक जाप्यत्वज्ज्ञापन कालाः रुपस्मृत्योपायनिवेद्य स्वस्वरूपं निवेद्य स्वयमपि भूमि जल एवोदगतादिविविक्षामृत्तीस्थ्यभूमि वानाविधामध्ये प्रविष्ट भगवन्तं वात्मनिवेदनिमित्तुर्वर्त्त्यो नामस्वरूपं कृत्या भगवान्तस्तोत्रं कृतस्वरूपं इवाहार तास्तःंछितामिति,

आभासार्थ — शरीर पर धारण किए हुए वस्त्र, मध्यमसे चप्पू, आभूषण और मस्तक पर केशपारा जो अंगों से संबद्ध थे, वे मार पड़े बिना कभी भी शिथिल नहीं पड़ते हैं और ये तो पतितात्वाँ थे। इसलिए इसका शरीर तो हुए पुष्ट रहता है अतः मारके कारण ही वैसा हुआ है। ये पतितात्वाँ, पति को कुदळने के लिए पति पर भगवान् दप्तर करें, ऐसे विचार भगवान् के हृदय में उत्पत्ति करने के लिए, यह हमारा बालक है। वैसा जनाती हुई, श्रुतिकृत्वात्म पालकों को पेट की तरह आगे कर, और पति के दिने हुए अपने सर्वस्व को भगवान् के आगे निवेदन कर, आप (नाग पत्तयाँ) भी हुद् के मध्य पृथ्वीं पर प्रविष्ट हुए भगवान् को मानने अध्यात्म-निवेदन (अर्पण के समान) करती हुई प्रणाम कर, उनकी स्तुति करने लगी—इसका कर्णन निम्न श्लोक में कहते हैं।

* (१) यमुनाजी के किनारों की भूमि (२) जल के भीतर उफन्न (निकलती हुई) आचार्यादिदिवक भूमि और (३) हुद के नीचे की भूमि। इस प्रकार भूमि विद्वृत्त तीन प्रकार की भूमि बताता है। किन्तु भगवान् किन्तु की लग्जा। र्खने के लिए हुद के नीचे की भूमि पर, काली के साथ प्रविष्ट हुए।

'प्रकाश' या 'लेख'

१-मिने हुए।
श्लोकः - तास्तं विपन्नमसोऽथ पुस्कृतार्थः कार्यं निधाय भुवि भूतपति प्रणोऽम्।
साध्यः कृताज्ञानिपुटः शमलस्य भर्तृमौक्षस्य प्रणादः शरणं प्रपन्तः। ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थः - उद्वर्गः मनवली और पापी पति को दूःख से छुड़ाने की इच्छा वाली वे पतिन्‌तारें, अपने बच्चों को आगे कर, शरण देने वाले भगवान्‌ की शरण में आकर हाथ जोड़ अपने शरीर को पृथ्वी पर (दण्डे की भाँति) धर के प्रणाम करने लगी। ॥ ३२ ॥

सुवर्णी - नन्दागाते एव कर्यं न प्राप्तिवर्त्यः। तदाद्विपन्नमस्य इति, विषयं मनो यासाः। भगवनाः मोक्षं यथायथिति गतविधिः प्रभृतिमोक्षविधिः, अतस्तं प्रकारं प्रत्यक्षोऽविद्याधिकारिः स्मृतवर्त्यः। पुस्कृतता अधिकं बालकं बालिः। संयुक्तो तु सामग्री पूर्वमेव गतातो भूमी कार्यनिधाय, नववृताृत्वेक्षणयां कार्यमुख्यरोपितः। तत्राद् भूतपतिविनिधं, स हि भूतमात्रस्य पति: साधारणः। तत्तात्। एवानुसृतः यसुलगः साध्यं इति, ता हि भर्तृमौक्षप्राप्तं भगवनं स्वेतं वास्तवतः नान्यक्रकष्ट्रेण। अति: कृताज्ञानिपुटाः। अश्रुति बहुव्री देवतारातं विद्याश्रीरुपं। भविः। शमलस्य पापस्वाभावरायस्य च मौक्षे मौक्षं प्रभृतिमोक्षं इति, कार्यमुख्याः। सत्तो भगवानुः शरणं इति शरणः। स तु शरणात्मकः इति भववतेव न माणीवस्त्रस्य तत्स्य पापं सहं तमोरूपः-मण्डरधच्छ्र न गच्छतित्वेतासामुद्धोः। ॥ ३२ ॥

व्याख्याथः - उनको (नाम पतियों को) आते ही भगवानुः को प्रार्थना करती चाहिए थी, किन्तु चिन्ताग्रस्त मन होने से उनकी यह विश्वास नहीं हुआ कि हमारे। इस अपराधी पापी पति को भगवानुः छोड़ने या नहीं? अतः प्रथम प्रार्थना न कर, अन्य प्रकार से स्तुति करने लगी। जिन्होंने बालकों को आगे करते रखा है। इसलिए कि ये हमारे बालक है इनको देख कर भगवानुः को दया आये और संयुक्त सामग्री तो पहले ही भगवानुः के पास जा चुकी थी। अतः पृथ्वी पर शरीर को दण्डवत्ता धर दिया। ये पतिन्त्रार्थः थी इनको पर पुरुषों के पास इस प्रकार लेत जाना योग्य नहीं था। इस शंका के मिटाने के लिए कहा है कि ये पर पुरुष के पास नहीं नमो थे। किन्तु जिनके आगे नमो थे वे समस्त भूतों के पति है, पति होने से इनके ऊपर भी अनुश्रव करें और साथ में ये साध्वी (पति के साथ छाया के समान) रहन्तेकी पतित्रार्थः है। इन्होंने भगवानुः की जो प्रणाम रूप से, सेवा की है, वह भगवानुः को पति समझ कर ही कहा है, न कि अन्य प्रकार से अर्थात् पर पुरुष समझकर नहीं कहा है। अतः हाथ जोड़ कर देवता रूप होने से, वे दित्य (अत्लूकिक) रूपितियों अपने पति के पाप तथा अपराध को क्रमा करना चाहती थी। इन्होंने जान लिया कि भगवानुः शरण (शरण आए हुए पर दया करने बाला) है। इसलिए उनके शरण गई। वह (सप्त) तो शरण आया हुआ ही था भगवानुः। उसको तो मारे नहीं किन्तु वह सहज (चिन्तामणि से) पापी है जो कि तमोरूप है और इसी कारण से भगवानुः
कारिका — दण्डानुमोदनं षड़बिन्नयं, दशभिष्टतथा।
प्रार्थना पञ्चभिषेति त्रेथा स्तुतिस्त्रूते। ॥ १ ॥
द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका।
भगवान् षड़गुणस्तात्सू दशाथा पञ्चधा पति। ॥ २ ॥

कारिकार्थ — छ: र्लोकों से दण्ड का समर्थन, दश र्लोकों से प्रणाम, पाँच र्लोकों से प्रार्थना, इस प्रकार तीन भूति स्तुति कही जाती है। ॥ १ ॥

वह स्तुति, अपराध तथा दो प्रकार के पापों को, नाश करने वाली है, उनके (नाग पत्तियों के) हृदय में भगवान् छ: गुणों से प्रकट हुए हैं और पाँच प्रकार से उनके पति है। ॥ २ ॥

कारिका व्याख्यार्थ — नाग पत्तियों ने भगवान् की तीन भूति इक्स्रोप र्लोकों में स्तुति की है। पहला प्रकार छ: र्लोकों (३३ से ३८) में जो स्तुति की, उसमें भगवान् ने जो कात्याय को दण्ड दिया उसका अनुमोदन (आपने इसको दण्ड दिया वह अच्छा किया इस प्रकार के वचन कहने-से) किया। दूसरा प्रकार दश र्लोकों (३९ से ४८) में जो स्तुति की उसमें भगवान् को प्रणाम किया है कारण कि उनके हृदय में दशका युक्त भगवान् का आविश्वास हो गया था। तीसरा प्रकार पाँच र्लोकों (४९ से ५३) में जो स्तुति की वह प्रार्थना रूप में की है। उस (प्रार्थना) का पाँच र्लोकों में करने का तात्पर्य (भाव) यह है कि भगवान् पाँच प्रकार से पति है।


नाग पत्तियों ने भगवान् की स्तुति इस आशय से की है कि, हमारे पति के तीन प्रकार के दोष नहीं हो जावें।

१-सहज दोष, देह के साथ (जन्म से) उत्पत्त हुए वे दोष है अत: वे स्वाभाविक दोष कहे जाते हैं।

लक्ष्मी के पति हैं, यज्ञ के पति हैं, प्रजा के पति हैं, बुद्धि के पति हैं, और लोक-धरा के पति हैं। इस प्रकार पाँच के पति हैं, लोक और धरा एक ही मान पाँच के पति कहे हैं। लोक में नागपत्तियों तथा सर्व के भी पति हैं क्योंकि लोक में ये भी आ जाते हैं।
आभास — तद्र सरसंघ सभार दण्डत्व स्वीकृति तस्य न्यायवत्तमाहुस्त्यो हि दण्ड इति।

आभासार्थ — नाग पत्नियाँ निन्द श्लोक में कहती हैं कि भगवान ने जो दण्ड दिया है वह न्याय के अनुसार है।

श्लोकः — न्यायो हि दण्डः कृतकिल्विपे स्पष्टवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामिपि तुल्यदृष्टेऽते दम्म फलमेवावनुसान्नो ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ — नाग पत्नियाँ कहने लगी कि — इस पापी (अपराधी) को जो आपने दण्ड दिया है वह न्याय किया है। आपका अवतार दुश्चि को दण्ड देने के लिए ही है। आप जो कुछ दण्ड देते हैं वह फल का विचार करके देते हैं, कारण कि, आप श्रुति तथा पुत्र को एक समान देखते हैं। ॥ ३३ ॥

सुबरोधिनी — अय मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनेता:।
ईश्वरे हि त्रिविद्धदण्डः करोति न्यायं नूर्मधिकं च
प्रमाणदम् दिश्वत्त्वमारितूस्त्र प्रयोजक:।
तदन्तमुखं न्यायं।
वृत्तं लक्षणं शरीरं येन, अनेन वहनेन विचित्रितं
अल्पत् भवति शास्त्रं नास्ति न च। नूतनो दण्डविन्
मर्यादा महत्त्वपरायणा च सर्वात्मकाः।
वेदांतं कर्पोरिकं च शुचिप्रदा द्विनस्त्व इति
चतुर्वत्त्वेऽत् ततः च। ॥ ॥
व्याख्यार्थ — इसके जो आपने पैदा है वह न्याय युक्त है। ईश्वर में तीन प्रकार के धर्म हैं। १ प्रसाद, २-मर्यादा और ३-अनुयाय। अतः दण्ड भी तीन प्रकार करते हैं १-न्याय (पूरा) २-काम, और ३-विद्वस्त अधिकार। इनमें से दण्ड न्याय है कारण कि इसने बहुतों को हिंसा कर अनेक पाप किया है इसलिए इसका इस प्रकार दमन करना उचित है। आप यदि नहीं कहते कि पाप का दण्ड देना तो यम के अधिकार को बताते हैं मेरे अधिकार की नहीं है। क्योंकि आपने अवतार ही खलों (दुष्ट पापियों) के दमन करने के लिए माना है कारण कि, यदि आप इस प्रकार मध्यम से अवतार लेकर खलों का निग्रह नहीं कर तो, ये खल बड़ी आयु वाले होने में अपने कम से संसार को नष्ट कर देते। यम तो मरने के अन्तरूप को दण्ड देने का अधिकार है। अतः आप जगत का रक्षा से लेकर मध्यम में अवतार लेकर खलों को दण्ड देकर अपना जगत रक्षक (पालक पिता) का धर्म पालन करते हैं।

यदि आप कहो कि यह (कालिया) तो क्षय का पुत्र और शेष का भ्राता है वह दण्ड के योग्य कैसे? यह आपका कहना आपके सहज धर्म के अनुकूल नहीं है। क्योंकि आपका सहज धर्म, श्रृंखलाओं का समान देखना है। अतः यह क्षय का पुत्र हो, वा शेष का भ्राता हो, तो भी, अपस्विति नहीं करके आपका क्षय का रक्षक (पालक पिता) का धर्म पालन करते हैं।

भगवान सब की आत्मा और आदि है। अतः किसी को भी दण्ड, पीड़ा देने के लिए नहीं देते हैं। यदि पीड़ा देने के लिए देते हैं उक्ता अनुपान तथा आदि कारण रहे नहीं। यदि पीड़ा के लिए नहीं देते हैं तो किस लिए देते हैं। उसके उदाहरण में कहते हैं कि, पहले विचार करते हैं, कि इस का ऐसा करण है जिससे इसका हित हो, यह फल विचार कर, परमात्मा उसी प्रकार का उसकी वैश्विक दर्शनी देते हैं। ३३।
आभास — एवं भगवत्कृतस्य दण्डलिगकृतप्रेषेदानी दण्ड एवायं न भवति किन्वत्नुग्रह एवोत्याहुसनुग्रह इति।

आभासार्थ — उपर्युक्त ३३वें श्लोक में भगवान् ने जो सर्प का दमन किया उसको दण्ड स्वीकार किया है, अब इस ३४वें श्लोक में उस दण्ड के लिए कहते हैं कि वास्तव में वह दण्ड होते हुए भी आपका अनुग्रह ही है।

श्लोक: — अनुग्रहोऽजयं भवति: कृतोपिनो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मणापहः।
यदृ दन्दशूक्तवमुमुख्य देहिन्: क्रोधोऽपि तेसनुग्रह एव सम्मत:॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — आपने सर्प के ऊपर अनुग्रह ही किया है जिसे कि आप जो दण्ड करते हैं वह पापियों के पाप को नाश कराने वाला है। यह जिस पाप के कारण सर्प योनि में आया है (वह पाप इस दण्ड से नष्ठ हो गया है) सत्यरुप आपके क्रोध को अनुग्रह ही मानते हैं॥ ३४ ॥

सुबोधिनी — भवतायमुनुग्रह एव कृतः: अहिनोऽः। अप्रगोक्तकत्वमुपसकृतः, ततो नुमः, अतो वानुग्रहः: अहिनो वानुग्रहः, नु दुःखारङ्गस्य कथमुनुग्रहःकृतसमृ।
तत्रहुर्दण्डोऽसतां खलु कल्मणापह इति, दण्डोऽः भगवानः
भासे व्यवस्थान्ति, अतः: क्वेश्चरुपीणी तथेऽदुःखारङ्ग
दण्डोऽपि कल्मणानाशक इत्युक्तः एव, नु पापस्य प्रत्येकः
जायमान्यः तीङ्गपश्चात्वेव निवृत्तिप्रयौधिकान्तः
दुःखनिवारणार्थं कारऽपि पापं न कुर्यादृ दण्डपेश्यतः पूर्वः: खृष्टाः

रूप्यवाच्यावनाद आह यदृ दन्दशूक्तवमुमुख्य अदावसत्वः।
प्रतिपादकः सत्यसृष्टिव तदन्तगतेन सत्यम् भवतीति च सिद्धः।
दन्दशूक्तवः सर्पस्वमुचि जातं तदपि गच्छति च दृष्टिः।
दन्दशूक्तवमुमुख्य गच्छेत्। ततो देहिन प्रतिशास्त्रम्
द्वेषप्रदेशः भवति। क्रोधोऽपि न दण्डे दण्डे न दण्डे
क्रोधशानान्तः

व्याख्यार्थ — आपने इस सर्प* पर अनुग्रह ही किया। साधारण अनुग्रह नहीं किया है, किन्तु विशेष

* श्लोक में (अहिन) पद है यो (अहिन) शब्द पुलिंग का है उसको नुसखलिंग में देने का भाव यह है कि यहाँ दिखाया है कि 'सर्प' का पौरुष (पुरुष पने का बल) यहाँ चल नहीं सकता है अतः यह नयुक्त है। आर्याच श्री कहते हैं कि यदि (अहिन) स्थान पर (अहिनः) पद मान लिया जाय और वह 'अनुग्रह' का विशेषण समझ कर अर्थ किया जाय कि आपका सर्प के ऊपर यह अनुग्रह स्वल्प (शोध) नहीं है किन्तु विशेष है।

प्रकाश
अनुप्रय दिया है। जिस दण्ड के मिलने से दुःख होता है, वह दण्ड का अनुप्रय है। इस प्रकार आप कैसे कहती हो? इसके उत्तर में कहती है कि भारत में (दण्ड) को भगवान का ही रूप सिद्ध किया है क्योंकि जैसे भगवान् पाप के पापों को नाश करते हैं वैसे ही दण्ड क्लेश रूप होते हुए भी तपस्या तथा याग के समान पाप को नाश करता है, अतः हम कहती हैं कि यह दण्ड, दण्ड रूप आप, भगवान का, अनुप्रय हो है।

पाप तो नित्य होते ही है, उनकी निन्दित के लिए दण्ड सहन करना निर्धारी है क्योंकि जैसे दीपक से अथ्येष मिटाने पर भी अथ्येष सर्वथा निन्द्रित नहीं होता है, क्योंकि अथ्येष का कारण रात्रि विद्यमान है। यदि पाप पुनः उपयुक्त न होवे, तो उनके मिटाने के लिए दण्ड सहन करना युक्त है, किन्तु वैसा होता नहीं है, अर्थात् दण्ड सहन करने के अन्तर, पुनः पाप किए जाते हैं। सांसारिक धनाभाव आदि दुःखों से छूटने के लिए प्राणी अनेक प्रकार के पाप करते हैं, यदि पापों से छूटने के लिए दण्ड रूप दुःख भोगा जाय और उसके भोगने पर, पुनः पाप न किए जायें तो वह दुःख का भोग जाना सार्थक है, किन्तु दण्ड रूप दुःख भोगने पर भी पाप प्रकृति की निन्दित की नहीं होती है, तो दण्ड रूप दुःख भोगने से, वे सांसारिक दुःख स्वतः है, अतः वे ही भोग जाने अच्छे हैं। इस शंका को मिटाने के लिए कहती है कि इस कालीय को जो सर्व योगिन मिली है उसके मिटने का कारण पाप है। उन पापों को मिटाने वाला आपका किया हुआ यह दण्ड है। इस दण्ड से, इसके पाप मिट जाने से, यह अस्त है, वह सत्य हो जाएगा, जिससे इस देह का सम्बन्ध एवं उससे उपयुक्त अंहारक भी नष्ट हो जाएगा। अतः बहुत अर्थी (कायाः) को सिद्ध करने वाला यह आपका दिया हुआ दण्ड तथा दण्ड का कारण क्रोध, दोनों ही अनुप्रय रूप है। यह केवल युक्ति से हम नहीं कहते हैं किंच सर्व सत्यवृत्तों का यह सिद्ध है, कोई भी सत्यवृत्त इसका विरोध नहीं करते हैं।

आभास - किस्सास्ती दण्डप्रसादवात्त, एकमत्यन्तमाचर्य प्रतिभाति यदसिन्नृत्य कृतवानिन्ति तत्न हेतु न जानिम इत्याहुस्तपः: सुतपितामिति,

आभासार्थ - यह दण्ड अनुप्रय है इसको तो हमने समझ लिया किन्तु आपने इसके ऊपर जो नृत्य किया वह क्यों किया? उसका हमको बहुत आश्चर्य है इसको हम समझ नहीं सकती हैं- इस अपने विचार को निम्न श्लोक में कहती हैं-

श्लोक: - तपः सुतपं किमनेन पूर्व निस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोध्यथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांत्यख्याति सर्वजीवः: || ३५ ||

<table>
<thead>
<tr>
<th>वाक्यांश</th>
<th>अर्थ</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>दण्ड</td>
<td>रूप आप, भगवान का, अनुप्रय हो है।</td>
</tr>
<tr>
<td>पाप</td>
<td>नित्य होते ही है, उनकी निन्दित के लिए दण्ड सहन करना निर्धारी है।</td>
</tr>
<tr>
<td>दण्ड</td>
<td>सांसारिक धनाभाव आदि दुःखों से छूटने के लिए प्राणी अनेक प्रकार के पाप करते हैं।</td>
</tr>
<tr>
<td>यथार्थ</td>
<td>दण्ड रूप दुःख भोगने पर भी पाप प्रकृति की निन्दित की नहीं होती है, तो दण्ड रूप दुःख भोगने से, वे सांसारिक दुःख स्वतः है, अतः वे ही भोग जाने अच्छे हैं।</td>
</tr>
<tr>
<td>आभास</td>
<td>किस्सास्ती दण्डप्रसादवात्त, एकमत्यन्तमाचर्य प्रतिभाति यदसिन्नृत्य कृतवानिन्ति तत्न हेतु न जानिम इत्याहुस्तपः: सुतपितामिति,</td>
</tr>
<tr>
<td>आभासार्थ</td>
<td>यह दण्ड अनुप्रय है इसको तो हमने समझ लिया किन्तु आपने इसके ऊपर जो नृत्य किया वह क्यों किया? उसका हमको बहुत आश्चर्य है इसको हम समझ नहीं सकती हैं।</td>
</tr>
</tbody>
</table>
| श्लोक | - तपः सुतपं किमनेन पूर्व निस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोध्यथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांत्यख्याति सर्वजीवः: || ३५ || |
श्लोकार्थ - इसने पूर्व जन्म में ऐसा क्या तप किया है, जिससे सबको जिलाने वाले आप, इस पर प्रसन्न हुए हैं, अवश्य इसने मान छोड़ा, दूसरों को मान दिया है और यदि पर दया भी की है इस प्रकार धर्म तथा तप करने के कारण ही आप इस पर प्रसन्न हुए हो। ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी - धर्मों द्विवधः। प्रवृत्तिलक्षणों\nनिवृत्तिलक्षणम् तत्र। निवृत्तिलक्षणों। धर्मस्त्रृणों\nविद्यामानवेदात्मसाम्यतः। व्यक्तः, अत्। एव। \nयदा वे दीर्घतः युज्ञों मेधी। भवति। \nत्यं त्यं समाकर्षणस्य प्रवृत्तिलक्षणों। धर्म क्लेशः। \nएव। दौषिण्याया, श्वासात्मानाया, क्षणप्रारी, भवति। 
ततः स्वतः परिनामाया ते दौषिण्याया क्षणप्रारी, \nश्वासात्मानेऽयूपायेनुर्गताया तस्मात्। \nस्वत: निवृत्ती। त्यं समाथिततः। \nविद्यामानेऽयूपायेनुर्गताया तस्मात्। \nस्वत: निवृत्ती। समाथिततः। तस्मात्। \nस्वत: निवृत्ती। समाथिततः। तस्मात्। \nस्वत: निवृत्ती। समाथिततः। तस्मात्। \nस्वत: निवृत्ती। समाथिततः। तस्मात्।

व्याख्यार्थ - शास्त्रों में धर्म दो प्रकार के कहते हैं। एक प्रवृत्ति रूप धर्म और दूसरा निवृत्ति रूप धर्म। इनमें से निवृत्ति रूप धर्म तपस्या है, क्योंकि, वह (तपस्या) धर्म, असतु (लोकोऽन्तः, धन, खेत, आदि से सम्बन्धित) है उसको छोड़ता है। अतः निवृत्ति रूप है। जैसे कहा है कि: ('यदा वे दीर्घतः कृष्ण भवति अथ मेधो भवति') जब दीर्घत दृष्टिकोश (निर्बल) हो जाता है तब वह पवित्र हो जाता है।

'प्रवृत्ति' रूप धर्म दोनों की चिचना छोड़कर नवीन फल प्राप्त कराता है, जिससे पाणी उस फल को पाकर उसमें आसक्त हो, उसको भोगता है।

ॐ उसको इन्द्रियम शिष्ठित हो जाने से विषय की दृष्टि रहित हो जाती है और लोकिक सम्बन्ध भी शिष्ठित होता है। ।

'अनुवादः'
भगवान को ईश्वर (सर्व सम्बन्ध) है तथा सबकी आत्मा है अतः ज्ञान तथा भक्ति से प्रसन होते हैं।

प्रथम पक्ष (निर्वृत्ति पक्ष) - यहदी 'व-स्व' निर्विशेष धर्म सिद्ध करने वाली है तो वह सर्व दोषों की निर्वृत्ति नहीं होती है जब तक सर्व दोषों का नाश नहीं होता है तब तक निर्वृत्ति धर्म सिद्ध नहीं होता है। जैसे कि अंहकार दोष तपस्या से मिलता तो नहीं है किन्तु बढ़ता है कि में तपस्यी हैं। जब तप से सर्व दोषों की निर्वृत्ति नहीं हुई तो भगवान की प्रसन्नता कैसे होगी? हम देखते हैं कि इस पर आप प्रसन्न हैं, इससे अनुमान है कि इस साधारण तपस्या से दूसरी कोई विशेष तपस्या है जिसको इसने किया है जिससे इस पर आप प्रसन्न हुए हैं। आप के प्रसन्न होने को कोई अन्य प्रकार की उपायत्त नहीं है।

वह विशेष तपस्या भी साधारण प्रकार से नहीं की है किन्तु अच्छे प्रकार से की है। अर्थात् देश काल आदि सर्व साधन उतम थे और तप करने का प्रकार भी श्रेष्ठ था यदि इस प्रकार न होते तो भगवान् (आप) प्रसन्न नहीं होते।

अन्य दोषों को मिटाने के लिए दो धर्मों की आवश्यकता रहती है। एक स्वयं निर्भिमान होना और अपने से जो ही होता है उन से भी नम्र होकर व्यवहार करना योग करने से अपने आप जो अंहकार होता है वह नहीं होता है और दूसरों के द्वारा आदर किये जाने से जो अंहकार उत्पत्त होता है, उसका भी नाश होता है। जब ने दो धर्म भी सिद्ध होते हैं तब भगवान् प्रसन्न तो होते हैं किन्तु इस पक्ष (विशेष तप और दोनों धर्म को सिद्ध) के अनुसार भी यदि भगवान् नृत्य करे तो भी उनमें उतनी प्रसन्नता नहीं होती है, जितनी कि होनी चाहिए अतः दूसरा पक्ष कहते हैं क्योंकि पहले पक्ष (तप करने) से भगवान का बहिः सत्तोष (प्रसन्नता) और नृत्य करना दोनों सिद्ध नहीं होते हैं यहाँ तो भगवान् प्रसन्न भी हुए हैं और उन्होंने नृत्य भी किये हैं अतः इस के लिए कोई अन्य कारण दूःखना चाहिए। श्लोक में के समुच्चयार्थक। जा। जा। शब्द का भाव बताते हैं कि निर्वृत्ति सिद्ध करने वाला धर्म (तप) हुआ हो या न हुआ हो किन्तु भगवान् की प्रसन्नता के कारण की अपेक्षा है ही अतः उस कारण को दूःखना आवश्यक है।

श्लोक में 'अथ' शब्द आया है; जिसका तात्पर्य है कि, अथ उसका शोध करने के लिए दूसरा प्रक्रम करते हैं। धर्मशान्ति के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध नहीं कर सकता है, किन्तु भगवान् शाश्वत के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध कर सकता है; किन्तु उसमें (भगवान् शाश्वत के अनुसार किया हुआ धर्म में) भी एक दोष आता है उसे मिटाना चाहिए। यदि वह (भगवान् शाश्वतानुसारी) धर्म दृष्टि मयं (जो दृष्टि से किया जाता है) हो, तो अन्य को (जिसका दृष्टि
श्रीमद्भागवत - दशम स्कन्ध - त्रयोदशा अध्याय

लगाया जाता है उसको) उपद्रव करने वाला होता है क्रियायम् (कर्म रूप) धर्म हो, तो अपने को उपद्रव (परिश्रम) देने वाला होता है और ज्ञानयोग बनने पर भी अपना को (साधनों के करने में क्षेष्ट करने से) उपद्रव कारक होता है। तपस्या करने में भी यही क्षेष्ट है। अतः कहते हैं कि इन दोषों को मिटाने के लिए ऐसे धर्म का आचरण करना चाहिए, कि जिससे किसी को भी परिश्रम आदि क्षेष्ट नहीं हो। वह धर्म भगवान् के चरित्रों का श्रवण कीर्ति आदि है; जिससे अपना तथा दूसरों का भी दोष नहीं होता है और सर्व जीवों पर दया की हो जाती है। श्रवण से भी कीर्ति में विशेषता है क्योंकि उसको दूसरों से पुन कर प्रसन्न होते हैं।

भगवान् को प्रसन्न करने वाले भगवान् की सेवा आदि भगवान् धर्मों के होते हुए आप कीर्ति से ही भगवान् को प्रसन्न करने वाले एवं सर्व का उपकारक धर्म कैसे कहती हो? उसके उत्तर में 'सर्व जीव' पद दिया है। जिस पद का भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री उसके तीन अर्थ कहते हैं। १-भगवान् सबको जिलाने वाले हैं। २-भगवान् से सर्व जीव मात्र उत्पन तर्क हुए हैं। ३-भगवान् सबों के जीव रूप से आत्मा हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही इस प्रकार सर्व जीव रूप है। अतः जिस धर्म से सर्व जीव प्रसन्न हो और उसका उपकार हो उसी धर्म से भगवान् प्रसन्न होते हैं वह योग ही है। इस प्रकार कहने से नाग पालियों ने यह भी सूचित किया है कि यह कालीय निरामार्थ ही कारण कि जब भगवान् सर्व जीव रूप है तो इसकी आत्मा भी भगवान् का रूप है इस प्रकार के (सर्व जीवों पर दया रूप) धर्म का आचरण इसने किया हो यह आचरण जैसा है क्योंकि सर्व की योग, सर्व का रत्नवाह और उसके कर्म (प्राणियों को नाश करना) ये तो कैसे ही इस धर्म के विरुद्ध है॥ ३५॥

आभास - कित्वास्तमिदमार्थेऽक्ष्ये, इतोपपधिकमाशर्यमस्तीत्याहः: कस्थेति,

आभासार्थ - यह तो आचरण है किन्तु इससे भी विशेष आचरण अन्य है उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करती हैं।

श्लोकः - कस्यानुभावोपस्य न देव विवाहे ततवायप्रिरैपुष्पशावधिकारः।

यद्राज्ञ्या श्रीरामनाचस्तु ततो विहाय कामान् सुचिंर्द्रूपत्ताता॥ ३६॥

श्लोकार्थ - जिस आपके चरण रज की प्राप्ति की इच्छा पूर्ति के लिए लक्ष्मीजी ने सर्व कामनाओं का त्याग कर बहुत समय तक तप किया (किन्तु प्राप्त नहीं हुई) उस आप के चरण रज के स्पर्श का अधिकारी, यह किस के प्रभाव से हुआ यह हम नहीं जानती है॥ ३६॥

१-हित, भला।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तत्सम प्रकरण 'प्रमेय' अवतार प्रकरण - अध्ययन २

श्री सात्त्विको भगवच्छिन्नत्र। तथ्यावच्छिन्नाकारारः

भ्राह्मद्वयस्त्र-सममनिन्दना च सुतसमेत नाधिकारः

भ्राह्मद्वयस्त्रपिः सा भवतीति तदव्यानुवस्त्र्यमाह ललन्नितोः,

या श्रीः लोहिता शाक्तिपति यावतः अर्ने न

भगवतोहनसत्रुदारिशमूता निश्चिता। वार्तः तथा:

हक्के पर्यायः

dायसिद्धार्थक तथापि न प्राप्तवती, वितमुखेदत्स्माधिनिन्त

सर्बप्रसिद्धः। त यु च चरणोऽन चवताः चोणे चेच्र

तत्र प्रतिचरित्यके तीतियाह विवाय कामपलिनितः

वाचविवाचः करणामिलि ग्रहणवचत्वार वर्णवथः ताः

कारति, न च वक्तव्य दीर्घकालद्वीपत्यायाधायस्त्र्य इति तत्राः

सुचरु धृतवेति, आदनौतनेत्र ब्राह्मचिन्वाशृणज यायांः

एवं साधनचिन्वातः रेणूमनुकृयम्युक्तम् तत्त्वायांवन्यमयम्

समर्थितम्॥ ३६॥

व्याख्यार्थः — भगवान् के चरणकर्म के रूप, प्रणी की देह को भगवद्वीय (अलोकिक) बना देता है। यह पहले हमने (आचार्यश्री ने सुभोधिनी जी में) कहा है। उन रेणुओं का समर्थ, इसने सिद्ध कर लिया है, तथा: निरस्त्र से जाना जाता है कि इसे अवश्य भगवद्वीय देह की प्राप्ति होगी।

मयादा के अनुसार यह नियम है कि करोड़ों जन्मों में उपार्जितः किए हुए तीन प्रकार के (श्रीत्र, स्मार्त और भगवद्वीय), धमों से जिनके भूत (जिनसे सुक्ष्म देह बनती है) संस्कार (शुद्ध) किए हुए हैं उनका भगवान् के चरणविन्दु की रज के स्पर्श को प्राप्ति होती है जिससे उनकी देह भगवद्वीय बनती है।

साधारण धर्म से यदि देह संरक्षित हुई हो कदाचित् उसको भगवान् के चरण रेणु का स्पर्श होता हुआ देखा जाय तो उसमें कोई हेतुः कहना (समझना) चाहिए वह हेतुः क्रियारूप, धर्मरूप नहीं होना चाहिए क्योंकि धर्म रूप तो करोड़ों जन्मों के अन्तर फल सिद्ध करने में सफल होता है अतः साधारण धर्म से यदि यह फल (भगवान् के चरण रज की प्राप्ति) होने तो उसमें कोई अलौकिक कारण होगा किन्तु ऐसा कोई दृश्य अब तक लोक में देखने में नहीं आया है।

इस सर्प को जो आपके चरण रेणु के स्पर्श का सौभाग्य आता है, इसमें अवश्य कोई किसी महानुभाव का प्रभाव होगा किंतु वह प्रभाव किसका है यह हम नहीं जान सकते हैं।

1-इक्तुः  2-शुद्धः  3-कारणः  4-अधिकारः
आभास - इदनीं फलविचारोंपि माहात्म्यं वदन्त्यसस्तराध्वमाहुर्म नाकप्रृष्ट्यमिति,

आभासार्थ - उपयुक्त श्लोक में साधनों का विचार करते हुए यह सिद्ध किया है कि रेणु उक्ती अर्थों होने से साधनों से भी प्राप्त नहीं होती है, अतः यह (सर्प) तो उनके स्पर्श के भी योग्य नहीं है इसका समर्थन किया है।

अब फल के विचार से भी उनका (रेणुओं का) महात्म्य कह कर सिद्ध करती है कि उससे भी यह (सर्प) उनके (रेणुओं के) स्पर्श का अधिकार नहीं है-जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करती हैं-

श्लोक: - न नाकपृष्टु न च सार्वभौम न पारमेश्वर्य न स्साधिपत्यम्।
      न योगसिद्धमुपनर्भवं वा वाम्भूति यथाद्रजः प्रश्ना: || ३७ ||

श्लोकार्थ - जो आपके चरण रज के शरण हैं, वे न तो स्वर्ग, न चक्रवर्तिरज, न ब्रह्मलोक, न पाताल का रज, न योग न सिद्धियाँ और न मोक्ष चाहते हैं || ३७ ||
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकारण 'प्रमेय' अवात्त प्रकारण - अध्याय २

सुभोधिनी - लोके होतावनं फलानि निविधानप्रसाध्यानि, तत्र सात्त्विकमहंसाध्यानि, स्वाभा नाकपृशुतमो यत्रददायं निवसनि, राजस्थानप्रसाध्यानि सार्वभौमं सर्वस्या अति भूमिदायिन्यं, ज्ञानसहित-भाष्करराज्यं भयधर्मसाध्यं पारमेवं वहस्तानं, तामसव्यायं साधिपत्यं, निगृहितव्यायं योगः,

सिद्धयथावाणिमाधृ ध्यानादिसाधियं, अयुपुर्वनु मोक्षं स सर्वसाधियं, एतावनं फलानि, बाशवदेतानुकू त सर्वमुक्तायो नाददायस शुभृयं, एतानि सर्वाव्यथेव फलानि यथार्थाः: प्रपणा न वाच्यानि, रज: प्रपणा तु न वाच्यानि किं वाच्याम्? रज: प्रपणा एवं त्र्य न वाच्यानि। III ३७ II

व्याख्यार्थ - इस श्लोक में कहे हुए फल लोक में फल रूप माने गए हैं। वे तीन प्रकार के धर्म से प्राप्त होते हैं। जैसे कि सात्त्विक धर्म से, जहाँ इन्द्रादिक देवता रहते हैं वह स्वर्ग प्राप्त होता है। रजस धर्म से समस्त पृथ्वी का राज्य अर्थात् चक्रवर्ती रह जाता है। ज्ञान के अतिक्षित सात्त्विक तथा रजस धर्म के करने का कारण कह कर अब ज्ञान सहित सात्त्विक तथा रजस धर्म से। जिस फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान सहित सात्त्विक तथा रजस धर्म से व्रज हे के लोक की प्राप्ति होती है। तामस धर्म से पाताल लोक का आधिपत्य मिलता है। निगृहित धर्म से योग की निपट फल प्राप्त होता है। ध्यान आदि धर्म करने से अग्रिमादि ८ (आठ) सिद्धियों मिलती हैं। सर्वत्र ब्रह्म दृष्टिक रखने से, तथा सर्व का हत करने से, जो सर्व साध्य धर्म किया जाता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्लोक में आए हुए 'वा', शब्द का भाव यह है कि इनके सिवाय जो अन्य फल हैं उन सब का साथ में अनादेश दिखाया है।

जिन जीवों ने भगवान् (आप) के चरण रज की शरण ली है, वे भी उपर्युक्त फलों को नहीं चाहते हैं तो जिनको आपके चरण रज की प्राप्ति हो गई है, वे इन फलों को न चाहते तो उसमें कृपा करना है। III ३७ II

आभास - एवं रजसो महाफलतवं निरूप्य तदनेन प्राप्तिमित्यस्य भाग्यभिन्नद्वन्ति तदेऽ इति,

आभासार्थ - इस प्रकार रेणु के महात्म्य का वर्णन कर कहती हैं कि वह रेणु इसने (सर्व ने) प्राप्त की है जिससे यह भाग्यशाली है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: -तदेऽ नाथायु दुरायुप्यनियेत्मोजनिः क्रोधवशोऽपठ्यहीः।

संसारचक्रं ध्रमत: शरीरिणो यदिद्धत: स्वाद: विभवः: समक्षः। II ३८ II

श्लोकार्थ - हे नाथ! जिस रज को अन्य पुरुष, प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसको

*वे फल कहने के योग्य नहीं हैं। 'अनुवादक'
इस तरह, गृह से उत्पन्न और कोई के वशीभूत सर्पजन ने प्राप्त किया है। यह आपकी (चरण) रज ऐसी है जिसको संसार के चक्र में घूमता हुआ प्राणी भी केवल इच्छा करता है तो उसको विषय (ईश्वर जा मोक्ष आदि फल) प्राप्त होता है। २८।

सुमुखी - समुचितसमूह धनी नौपरिभाषा। अन्तर्दृष्टप्रथमेऽपूर्वक, अर्थानुसारहस्तर्यासारं समुदायितवः, अन्तर्गतप्रथम जनितायम् यथा, अनेन मूलाधारस्तु, त्रुटिः कार्याचारितः। अद्वैत इति संसारस्यां संख्येऽपूर्वकः। तथा अनुमानानुसारस्यां संख्येऽपूर्वकः। एवं सर्वदोषनिराशायस्य सर्वाकारंदुर्लभ्येत्तर्पृथ्वीप्राप्तिः। केवल भगवानिच्छेत्रायाः। संसाराकारं इति याहैथिमितम् फल। भूतपूर्वक भूतपूर्वकान्ति निपूर्णी, चक्रेन हितात्मक सत्यः। परिसमर्थित, तस्माददेवस्य यथावथाति भूतपूर्वकान्ति निपूर्णी।

न कौरव हेतुः कर्मर्तिः। किन्तु इद्धेऽर्तिः। यतः चिन्हारिक्रियादीस्त्रिच्छत इत्या कुलेऽ। पुरुषस्थ साधनाविहितलिङ्गमित्रिय। विषय उक्तकृष्टमहात्मनावतः सम्कृतो भूतपूर्वको भूतपूर्वको प्रत्ययो भविष्यति, यहतत: इत्यिपाद यहक्षातोक्षस्मात् भविष्यत्यो वा। २८।

व्याख्यायते -- हे नाथ ! इस संबोधन देने से इस (कालीय) को भगवान् के चरण रेणु को प्राप्त हुई उसको कारण वत्तक उसका सिद्ध किया है।

आयोगो को यह (रज) दुष्प्रभु (कठिनता से प्राप्त) है, किन्तु इसको यह प्राप्त हो गई है, जबकि यह सर्व प्रकार अयोग्य भी है। इसकी अयोग्यता के धर्मों को कहती हैं -- १. इसका जन्म तभी गृह से हुआ है। अतः यह मूल से (जन्म से) ही अस्थवध है। २. क्रोध के अधीन होने से कार्य से अस्थवध है। ३. सर्पों का रजाः है। इसका संस्करण सर्पों से ही रहता है। अतः संस्करण दोष वाला है। इसके अति उत्परित सर्पों का रजाः होने से सर्पों के पाप से भी, इसका सम्बन्ध है। इस कारण से भी यह अस्थवध है। इस प्रकार, सर्व दोषों के भण्डार इसका सबसे उच्च और दुर्लभ फल की प्राप्ति हुई है वह केवल भगवानिच्छेत्रायाः। उसका वर्णन श्लोक के उत्तरायें से कस्तति है। अतः यह उक्तफल भगवान् की इच्छा से ही होता है (हुआ है)। इसका निर्पय करती है। संसार रूप चक्र (भवार) में घूमता हुआ प्राणी कभी भगवान् के पदार्पण पर उनके चरण के समीप भी आ पहुँचता है। इस पहुँचने वित्त सर्व प्रकार का कर्म आदि कारण नहीं है। किन्तु भगवान् के चरण रेणु की इच्छा ही कारण है, वह भूतपूर्व भूतपूर्वक भूतपूर्वक के साधन से ही होता है, तो भी, कभी अचनक उसको उक्तफल प्रत्यक्ष होता है। श्लोक में यदि इच्छा के स्थान पर यहुँचतः।' पाठ लेने से उसका अर्थ होता है, अक्षमाले वा भगवान् की इच्छा से यह उक्तफल मिलता है। २८।

* आप स्वामी हो यथा कुछ आपकी इच्छा से होता है अतः यह भी आपकी इच्छा से ही हुआ है।
आभास — एवं चरणस्पर्शभगवतोत्सवदिलक्षणं तस्य भाग्यभिधिनन्दः तत्समस्मशात्
स्वयमपि भगवननमकराधिकारिण्य इति नमस्यति नमस्तुभयते दशस्मिति दशभिः।

आभासार्थ — कालीय को भगवान् के चरण स्पर्श हुए यह भगवान् के प्रसन्न होने के लक्षण
है, इस प्रकार उसके भाव का बख़्ता किया जिससे, यह भी बता दिया कि उसके (सर्व के) हम
सम्बन्धियों (अध्यात्मिन्द्रो अर्थात् हो) अतः हम भी भगवान् को नमस्कार करने के लिए अधिकारिणी हैं यो सिद्ध
कर ‘नमस्तुभ्यं’ से लेकर दश श्लोकों से नमस्कार करती हैं।

कारिका — दश स्वागिणि तु हरेमूलस्तम्: स्वाशास्त्रतः।
वेदान्तवनंतरपश्च जगदुपस्तशैव च ॥ १ ॥
सहजातजीवपश्च नानास्पश्च शास्त्रतः।
एवं प्रमेयस्वागिणि पञ्चधोक्तानि वै हरे। ॥ २ ॥
वेदार्थस्पसतन्त्रार्थों गुणार्थों ह्रावतास्कृतः।
अन्तर्यामी च भगवान् दशार्थोक्तः स्वलीलया। ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — हरी के दश रूप हैं—१—अपने शास्त्र के अनुसार ‘मूलरूप’ २—वेदान्त
से जिस रूप का झांस होता है, और ३—वैसे ही जगदू रूप ॥ १ ॥

४—संवाद जीव रूप ५—शास्त्र में जो अनेक रूप कहें हैं। इस प्रकार ये पाँच रूप
हरी के प्रमेय रूप हैं। ॥ २ ॥

६—वेदार्थ रूप ७—तन्त्रार्थ रूप, ८—गुणार्थ रूप, ९—अवतार लेने वाला रूप और
१०—अन्तर्यामी हैं, इस प्रकार भगवान् के जो दश रूप कहें हैं वे आप को लीला के
कारण हैं। ॥ ३ ॥

कारिका व्याख्यार्थ — प्रकाश, लेख और योजना साहित्य का स्वरूपसार । वेद में भगवान् के कष्ट
प्रथा है और त्रयों के संग यह दो रूप कहें हैं एवं तन्त्र शास्त्र में चार व्यूह रूप कहें हैं, अतः दो । ।
चार श्लोकों से नमन करना चाहिए न कि इन श्लोकों से, इन छः रूपों से अधिक रूपों का वर्णन करना हें गुरुजन हैं।
इस शास्त्र का निवारण करते हुए इन कारकों द्वारा भागवतमें की हुई इस लीलाओं के अनुसार
प्रकाश के दश रूप हैं यह सिद्ध करते हैं। जिससे दश श्लोकों से नमन करने में किसी प्रकार का दूष
ज्ञात नहीं है।
भगवान् के दस रूप हैं। जैसे कि १-मूल रूप (३१वें) श्लोक में जिसको परमात्मा (सर्वोत्तम) भूतावस (सर्वस्वत) और व्यापक कहकर मूल रूप कहा है उसको नमस्कार करती है।

२-वेदान्त वेद रूप (४०वें) श्लोक में उस रूप को नमन करती है जो वेदान्त शास्त्र से जाना जाता है उस श्लोक में भगवान् को जीन विज्ञान की निधि अधिकारी और अनन्त शक्तिमान आदि विशेषणों से उसका स्वरूप वर्णन कर यह बताया है कि यह स्वरूप वेदान्त (उपनिषदें से) समझ में आता है।

३-जगत् रूप (४१वें) श्लोक में जिस भगवान् के रूप का वर्णन ‘विश्व’ शब्द से किया है और उस विश्व (जगत्) के रूपों को समझाया है। अतः नाम पतियों उसमें जगत् रूप भगवान् को नमस्कार करती है वह नमस्कार भी वेदान्त में कहे हुए प्रकार से जगत् को ब्रह्म रूप जान कर करती है।

४-संघात जीव रूप, इस भगवान् के रूप को वेदान्त (उपनिषदें) तथा सांख्य में भी भूत, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, विच और आह्वाक रूप से वर्णन किया है तदनुसार समझ कर ब्रह्म भावना से नमस्कार करती है।

५-नाना रूप, यह भगवान् का नाम और सृष्टि रूप है जिसका वर्णन (४२वें) श्लोक में ‘अनन्त’ पद से किया है। उसको इस श्लोक में नमस्कार करती है।

ये उपर्युक्त पाँच रूप जिनको नाम पत्नों ने (३९वें) श्लोक से (४२वें) श्लोक में नमस्कार किया है वे भगवान् के पाँच रूप प्रमेय रूप है।

६-वेदार्थ रूप, इस भगवान् के रूप को (४४वें) श्लोक में नमस्कार करती है। इस स्वरूप का उस श्लोक में स्वरूप दिखाया है। वेद रूप और उसका अर्थ रूप भी भगवान् है यह ‘प्रमाण’ मूल शब्द देकर सिद्ध किया (समझाया) है।

७-तन्त्रार्थ रूप (तन्त्र में कहा हुआ रूप) इस रूप को (४५वें) श्लोक में वर्णन किया है जैसे कि चारों व्यूह राम (संकर्षण) वस्तुदेव सुत (वासुदेव) द्वारका और अनिरुद्ध सहित पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) के रूप का तन्त्र में प्रतिपादन है, उस स्वरूप को नमस्कार किया है।

८-गुणार्थ रूप (गुणों का अर्थ सहित प्रकाश करने वाला) इस रूप का वर्णन (४६वें) श्लोक में है और उस रूप को इस श्लोक में नमन किया है।

९-‘अवतार लेने वाला रूप’ इस रूप का वर्णन (४७वें) श्लोक में किया है जिसमें ‘अव्याकृतविवाहय’ पद से दिखाया है कि आप का विहार (अनेक अवतार लेने हो वह विहार) विकार रहित है अर्थात् अवतार लेकर क्रोड़ा करते भी आपमें विकार उत्पन्न नहीं होता है ऐसे स्वरूप को इस श्लोक में नमस्कार करती है।

१०-‘अन्तर्यामी रूप’ इसका वर्णन (४८वें) श्लोक में सब की गति को जानने वाला आदि विशेषण देकर किया है और उस श्लोक में नागपतियों ने इस स्वरूप को नमस्कार किया है।

इस प्रकार दश लीला करता भगवान् के दश रूपों को दश श्लोकों से नाम पत्नियों नमस्कार करती है-
आभास — जात्वा हि स्तोत्रं कर्त्यं कोयमिति कियानिति कथिपपुस्क इति च,
तत्र दशविखो भगवान् दशविखलीलाभिरेकस्यमेकस्यां लीलायं यावत्यावानसरस्पाणि तानि
सर्वाौष्ण्यत्वं, तत्र प्रथम सृष्टीलीला वदन्यः पुश्चोततमव्यं भगवानं निरूपयन्तुच्यं नमस्त्वति ॥

आभासार्थः — भगवान् के स्वरुप को जान कर ही स्तुति करनी चाहिए जिसकी हम स्तुति करते
है, वह कौन है? कितना है? इसके गुण कैसे हैं? इन सब बातों को जान कर जो स्तुति की जाती
है, उससे भगवान् प्रसन होते हैं। अन्यथा भगवान् यो समझते हैं कि इसने कदाचित् अन्य के गुणों
का मुख में आरोप कर दिया है और शाय यह भी कहता है कि यदि स्वरुप जाने बिना भगवान् की
स्तुति की जाय तो भगवान् का स्वरुप जिस प्रकार का है, उसका अन्य प्रकार से वर्णन कर देवे, तो
स्तुति कर्ता, अत्मापहरी चोर कहा जाता है, अतः जान कर ही स्तुति करनी चाहिए।

भगवान् एक होते हुए भी दश प्रकार की लीला करने से दशविख कहे जाते हैं किन्तु एक लीला
में जितने अवातारं के रूप हैं वे सब यहाँ कहे जाते हैं। उसमें प्रथम सृष्ट लीला का वर्णन करती
हुईं, पुष्चोततम रूप भगवान् का निरूपण कर, इस निम्न श्लोक में उनको नमस्कार करती हैं।

श्लोकः — नमस्तुभ्यं भगवते पुष्चाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थः — आप भगवान्, महात्मा, पुश्च रूप, आकाशादि भृृतों के आयश्रय रूप,
सब से उत्तम परमात्मा को हम नमस्कार करती हैं। ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी — नमस्तुभ्यंति, भगवान् मूलभूत: स
एव भगवान्, तदहु भगवते नम इति,
आविर्भूताविभूतस्य एते एव, ततः सर्वाभिभूते जात
इत्यतसप्रूप्तेन पुरुषात्मकलेन पद्यप्रकोपनिरूपायां पुरुषाय
महात्मने, महाश्वासात्मने चेति, आयश्च हि सागर
सर्वभुतात्मनीपतिपायाः: पुरुष: साक्ष्यप्रतिपायाः: पुरुषम्
ब्रह्मन्त्रानुसाराः: विश्वासात्मकरं कृत: महात्मां पुरुषस्य आत्मस्यां
भवति, अनेनेन सचिवादंदरस्वतात्मकता, पुरुष: सदृशः
महाश्वासात्मकरं अत्मस्यति, ततो मूलभूतस्य
प्रत्यक्तत्वमाहाभूतावासप्रेमियविदः: स एव मूलस्या
भवति वर्त्तमानस्य सर्वाणि भूतानि निरूपिति, एतदर्ध्वदीप्त भगवता
प्रदर्शिंयं मात्रे स्वस्मिस्त्र जनम, तदहु भूतावासाय
सर्वभूतात्मकरं चेति, तत्थल भूतात्मा महाश्वासात्मकरं
प्रत्यक्तत्वमाहाभूतावासप्रेमियविदः: स एव च भृृतरूपायोऽभवति दयन्नु प्रशाश्वित;
अनोद्यतस्य मूलतत्त्वमाहाभूतावासप्रेमियविदः: स एव च भृृतरूपायोऽभवति दयन्नु प्रशाश्वित;
'एतदर्ध्वदीप्त भूतावासप्रेमियविदः: स एव च भृृतरूपायोऽभवति दयन्नु प्रशाश्वित;
'एतदर्ध्वदीप्त भूतावासप्रेमियविदः: स एव च भृृतरूपायोऽभवति दयन्नु प्रशाश्वित;
परम उल्लुकुः उकः, तथा न व्यापकहूँ योङयः नामा से
परमात्मा तत् महात्मा, तत् पूर्वोख्योः याहुः, तत् पूर्वानि.
विभूतिनाम कथात् तत्तात् तत्सा मूलम्, तत्तवादन्ति इति,
विशुद्धायाम् च बृद्धिते, सर्वव्यापकाशः चैति, सर्वगतानि तु प्राक्षणोति पहावानु, ततः
पुरुषः, ततो महत्तव, ततो पूर्वायामात्मा च, ततो पूर्वानि.
ततः सर्व जगत, तत्रापि पदो विकारसः: परस्परात्मा
परस्परार्थापतिः यथार्थार्थार्थात् विरूध्धात् सरस्वतेऽपि। ३९।।

व्याख्यात्रा — जो भगवान् मूल रूप (सबकी जड) कहे जाते हैं वे ही आप हैं। इसलिए कहते हैं कि ‘आप भगवान् को नमसकर है’। भगवान् के प्रकट और अप्रकट दोनों रूप, यही (जो हमारे सामने स्थित आप हैं वही) हैं।

यह ही रूप सर्वात्मक है (भूमा-अजन्मा है) तो भी प्रकट हुआ है प्रकट होने वाले को दूसरे की अपेक्षा रहते हैं किन्तु इसको नहीं है क्योंकि पुरुषोत्तम है। इसका समर्थन करने के लिये ‘पुरुषाय’
‘महात्मने’ दो विशेषण दिये हैं, जिनका आशय यह है कि ‘आत्मा’ शब्द कहने से यह बताया है कि स्मृति शाखा भी आपका ‘आत्मा’ पद से प्रतिपादन करते हैं, ‘पुरुष’ शब्द देकर यह सिद्ध किया है कि सांख्य शाखा ‘पुरुष’ शब्द से आपका ही वर्णन करता है। एवं ‘महान्’ पद से बताते हैं कि वेद भी आपको ही मूल रूप कहता है। इन तीनों पदों को मिलाने से महान्, पुरुष रूप और आत्मा यों कहा गया है इससे ही आप सच्चिदानन्द रूप है यह भी कह दिया गया है। जैसे कि, पुरुष पद से आप सर्वात्म है महान् पद से आप आनन्द रूप है आत्मा पद से आप चिद रूप है अर्थात् आप सच्चिदानन्द स्वरूप हैं।

अब मूल भूतस्वरूप के जो पाँच प्रमेय रूप हैं उनका वर्णन करती है आप मूल रूप का एक प्रमेय रूप भूतात्मस्वरूप है मूल रूप उसे कहते हैं जो सबका आश्रय हो आपने माता को मुख में सकल जगतें दिखाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि में मूल रूप हूँ।

२ - ‘भूतात्म’ शब्द से कहा है कि भूत रूप भी आप है। शीतर (उदर में) रहे हुए भूत आदि आप से पृथक् होने तो आप अन्य हो और भूत अन्य हैं ऐसा सिद्ध होने पर दृष्टि हो जाए, किन्तु आप सर्वभूत होने से दृष्टि का नाश हो जाता है और आप किसी से भी पृथक् नहीं हैं सब में मिले हुए होने से भूत रूप है।

३ - नियमकं रूप भी आप है। भूतिति भगवती कहती है कि--हे गार्ग! इस अक्षर (ब्रह्म) की आज्ञा से पृथ्वी आकाराशाय कार्य कर हैं। अत: नियम में रखने वाले होने से आप (मूल रूप) है इसलिए आप ‘पर’ शब्द से वर्णन किये जाते हैं।

४ - सर्वात्म भी आप है इसलिए आपका ’पर्श्च’ शब्द से वर्णन किया गया है जो सर्वात्म नहीं है वह मूल रूप भी नहीं हो सकता है, आप सर्वात्म होने से मूल रूप हैं।

---
1-सत्यम अच्छा। 2-भाद। 3-धन, अलग। 4-नियम में सम्बन्धित।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवन्तर प्रकरण - अध्याय २

५- व्यापक रूप भी आप हैं, इसलिए आपका 'आत्मा' रूप से वर्णन किया गया है। जो व्यापक नहीं है, वह विभूतियों वाला नहीं होता है और न वह मूल रूप हो सकता है। अतः आपको आत्मा कह कर, व्यापक सिद्ध किया गया है, जिससे आप मूल रूप है जो निश्चित सिद्धान्त हो जाता है, अतः आप 'पार' 'सर्वोत्तम' तथा 'आत्मा' (व्यापक) होने से मूल रूप (परमात्मा) ही हैं।

मूल रूप जब सृष्टि लोग करते हैं तब प्रथम भगवान्* होते हैं, परमात्मा 'पुरुष' अनन्त 'महत्त्व' उसके परमात् 'अहंकार'** पीछे 'भूत', पुनः परमात् सार 'जगत्' होता है। उस में भी 'पर' विश्व रूप और नागरण स्वरूप होते हैं। इस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड का विप्रहः किस प्रकार बनता है वह सम स्वरूप कथा यहाँ (भगवत) में कही है। ३९॥

आभास - विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवनं नमस्यन्ति ज्ञानविज्ञाननिधयं इति,

आभासार्थः - विसर्ग लोग करते ब्रह्मस्वरूपं भगवान् को इस निम्न रूप में नमस्कार करती है।

श्लोकः - ज्ञानविज्ञाननिधे ब्रह्मणेनन्तन्तशक्त्येऽ ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेप्राकृताय च ॥ ४० ॥

श्लोकार्थः - ज्ञान तथा विज्ञान के निधि, ब्रह्मरूप अनन्त शक्ति, निर्गुण, निर्विकार और अप्राकृत बैसे आप को हम नमस्कार करती हैं। ॥ ४० ॥

सुभोधिनी - ज्ञान शास्त्रीय विज्ञानमुपयुक्तः, निश्चितत्वक विवेकम वा आत्ममूलं गुणमूलं च, तथोपन्तः प्रतीत्वात्, वत्सलस्वरूपः, ये केवल ज्ञानविज्ञानधिनसंत सर्वं तत् एव ज्ञात्यं भवन्ती, एवं सर्वमित्वमुप्यक्ष्यं, प्रत्येक दिनेवन ब्रह्मण इति, ननु ब्रह्मणः प्रत्येकात् जगत्तर्वत्सं च कथमुपपत्ति भवन्ति न तत्राहान्त्यक्ष्याक्षाः।

* अपने ऐसे तथ्यादि प्रयोगों को अपने स्वरूप में प्रकट करते हैं अतः भगवान् कहे जाते हैं।

** जिस में भूतों का निवास है।

१- मन्तर ।
व्याख्यार्थ - ज्ञान (जो शाख से होता है) विज्ञान (अनुभव से) यह ज्ञान तथा विज्ञान निर्विशेषक (किसी पदार्थ के सम्बन्ध वाला न हो) अथवा संविशेषक (पदार्थ के विषयों से सम्बन्ध वाला) हो, आत्मा के (किसी पदार्थ के अपने) हो, या गुणों के हो। इस प्रकार जो सब ज्ञान तथा विज्ञान है, उनकी निधि (उत्पत्ति होने का स्थान) आप हो। जो कोई ज्ञान तथा विज्ञान को समझना चाहते हैं उनको भी वे आप से ही प्राप्त होते हैं, कारण कि प्रत्येक पदार्थ वहाँ से प्राप्त किया जाता है जहाँ उन पदार्थों का भण्डार हो, तो ज्ञान तथा विज्ञान के भण्डार आप हैं जिससे इनके चाहने वाले, आपसे ही प्राप्त करने के लिए आपकी शरण लेते हैं।

इस प्रकार साधन का रूप बनाकर अब फल के रूप का वर्णन करती हैं। जगत्‌ का कर्ता फल रूप कैसे होगा? इस शंका के निर्वाण के लिए उतर में कहती हैं कि, आप अनन्त शक्ति-मान हैं शक्तिमान सब कुछ कर सकते हैं अत: आप जगत्‌ बना भी सकते हैं और फल रूप भी रह सकते हैं।

अनन्त शक्ति, गुणों के सम्बन्ध बिना, नहीं आती है, गुणों का सम्बन्ध, विकारों को पैदा करता है। इस शंका की निवृत्ति के लिए कहती है कि, गुणों का सम्बन्ध और उससे विकार का होना उम्मेद करते हैं जो प्राकृत होते हैं। आप अप्राकृत हैं, जिससे आपका गुण दोस्त नहीं है। अत: आप निर्गुण हैं एवं अप्राकृत होने के कारण निर्गुण हैं तो आपका निविकारी होना स्वतंत्र: सिद्ध है ही। अत: आप में जन्म मरणादि दोषों का अभाव है, इत्यादि उपपत्ति से आप जगत्‌ कर्ता होते हुए भी फल रूप भी है। इस में किरिक्तु मात संसार नहीं है। आप संसारित होने के कारण ही ‘अप्राकृत’ है। यह श्लोक में आए हुए ‘च’ शब्द का आशय है।

विसर्ग लोला में तो ‘ज्ञान’ शब्द अधिकारी का विषेशण है अर्थात्‌ जो ज्ञान से पूर्ण होगा वही सृष्टि को चन्दन कर सकेगा। अत: ब्रह्मा ज्ञान पूर्ण है। अनेक प्रकार का ज्ञान, सृष्टि के बनाने में उपयोगी होता है। इस प्रकार स्वरूप और कार्य के उपयोगी दोषों विशेषण कह कर अब विसर्ग रूप का वर्णन करते हुए कहती है, कि (ब्रह्मण) आपका ब्रह्मा रूप विसर्ग (करने) का है। यहाँ ‘ब्रह्मण’ शब्द से ‘अनुप्रोक्त’ ब्रह्मा कहा गया है। यह अनन्त शक्तिमान है क्योंकि, उस को स्वरूप प्रकार के सृष्टि के कार्य की उद्देश्य करती है। और सृष्टि कार्य करते हुए भी इस स्वरूप को बनाना नहीं है, कारण कि वह निर्गुण है। सृष्टि कार्य करते से आपके स्वरूप में कोई विकार (दोष) नहीं होता है। क्योंकि, आप निर्विकार हैं। अपनी इच्छा से सृष्टि कार्य बन्द कर देते हैं कारण कि आप ‘अप्राकृत’ हैं।
इससे विषय लीला में छः गुण ऊपर कहें हैं। तीन गुणों से, तीन दोषों (विकारों) का अभाव दिखाया है शेष तीन गुण, ज्ञन महत्व और सामर्थ्य गुण रूप से हैं।

आभास - जगद्दूष्टात सहेलुकामुक्त्वान नमस्यन्ति कालायायेति,

आभासार्थ - भगवान् को हेतु (कारण) सहित जगतु रूपन कह कर उस रूप को नमन करती है - जिसका वर्ण इस निम्न श्लोक में किया है।

श्लोक: - कालाय कालनाभाय कालाववसाशक्षिणः

विष्णु तदुपदास्ते तत्क्र्तेऽ तस्य हेतवे।

श्लोकार्थ - कालरूप, नाभि में काल को आश्रय देने वाले, काल के अवयवों के साधि, विश्व रूप, विश्व के द्र्दा विश्व के कर्ता और विश्व के कारण (हम आपको नमन करती है)।

सुभोधिनी - स्थानं हि दिविस्मुके, शारदमयादायं कालो नियमकः, अध्यमयादायं भूमितिः, तदप्याह जगेतौ मूलकारणं कालः, भगवच्चेदारपतावात् कालो नाभि् यस्येि सुमृि प्रयोगमनुकं, मृत्युः कालः, स स्वस्थेि तितिः, नाभि्स्त्य स्थानं, मृत्युः भक्षितं हि मृत्योऽविष्कृता मृत्युः मुन्तुर्मन्तरं वसुं 'मृत्युःविद्मामवतमसिद्धि' तथा विस्तृतं प्रपन्धं, तेन कालकेन क्रियाविकल्पकं, कालाभवेि सुष्ण्योऽजतिः कालाय्यवसाशक्षिणः इति, कालाय्यवानां विन्यासितसंभविताः साशक्षिणः, अनेन विश्वसृष्टि कलेशाभावोऽजुः, शारदमयादायं तु कालः सूर्यः कालनाभा: शाब्दः, सर्व एवं वेदः कालाववसाशक्षिणः कर्मकारः, सूर्यस्य कालामत्वं तृतीये प्रपन्धं, वर्णं हि मातामकः, तेन काल एव नाभि् येशामिति सर्वस्य कालाथेतः तेल्मेव 'काले कर्म हि चोदत्' इति कालाय्यवसाशक्षिणः।

व्याख्यार्थ - स्थानं दो प्रकार के हैं, इस नियम लीला में नियमकर दो हैं। 'शाब्दः' रूपमें।

†इवध, दूष और जड़ता ये तीन दोष (विकार)।

---

1 - नियमन, व्यवस्था, सासन। 2 - व्यवस्था करने वाले।
(बेद में कही हुई मर्यादा) में काल नियामक है। ‘अर्थ’ मर्यादा (अर्थ (स्थान जाम्बूद्वीप तौर पर आदि) की मर्यादा) में भूमि (शेषा क्षेत्र ब्रह्माण्ड भूमि) नियामक है। उसका वर्णन करती है कि, भगवान की चेष्टा रूप होने से काल ही जगत का मूल कारण है। काल मृत्यु रूप भी है, उस मृत्यु रूप काल से समस्त जगतू चिर* हुआ है, वह मृत्यु रूप काल, जगतू का भक्षण कर अपने स्थान भगवान की नाभि में जा कर निवास करता है। भगवान ने मृत्यु को अपनी नाभि में आश्रय दे कर रखा है उसका प्रयोजन यह है कि जब भगवान की सुषिक करने की इच्छा होते, तब मृत्यु रूप काल ने जिनका भक्षण किया है, उनको नाभि से बाहिर निकालते है। यह काल भगवान की क्रिया रूप शक्ति है। उस क्रिया शक्ति रूप काल के, जो अवयव, इस समय विश्व के पदार्थ मात्र के, उत्पत्ति होने के कारण है उनके आप साधी हो अंत: विश्व की सरकना में, आपको किंचित्मात्र भी, कलेश नहीं होता है, इस प्रकार ‘अर्थ’ मर्यादा को समझाकर अंत: ‘शब्द’ मर्यादा का वर्णन करती है।

‘शब्द’ मर्यादा (बेद में कही हुई मर्यादा) में सूर्यं काल का रूप है ‘शब्दं’ काल की नाभि है अर्थात् शब्दों में (बेदों में) रहता है।

काल के अवयव जिनके साथ है, वैसे सर्व बेद कर्म है। सूर्य का कालात्मक रूप, सूर्यवं नाम रूप है अंत: वर्ण में काल की अपेक्षा रहती है। काल में ही कर्म किए जाते है अंत: काल के अवयव उनके साथ है, क्योंकि यह रूप नित्य है। इस प्रकार आप (भगवान्) विश्व के कारण रूप है यह प्रतिपादन कर, अंत: ‘विश्वाय शब्द’ से कहती है कि, विश्व रूप भी आप हैं। वह विश्व आधिदेविक, आधात्मिक और आधिभौतिक रूप से तीन प्रकार का है। उस विश्व के उपन्यास आप, विश्व के आधिदेविक रूप हो यदि आप आधिदेविक रूप न होते तो, विश्व भी न होता अंत: प्रथम, आधिदेविक स्वरूप, आप को कहा है। अनन्त विश्व के ‘कर्ता’ आप आधात्मिक रूप हो, उसके बिना भी जगत् बने नहीं, अंत: द्वितीय आधात्मिक स्वरूप आपका वर्णन किया है। पश्चात् तीसरे आधिभौतिक विश्व के रूप का वर्णन करती हुई कहती है कि इस विश्व के हेतु (महाभूत आधिकारण) भी आप है। इस प्रकार इस चार (विश्वाय तुपुदेत्र तत्क्रां ओर तस्य हेतवे) पदों से अर्थ (पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष:) की मर्यादा का भी निरुपण हुआ। कैसे निरुपण हुआ उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ‘विश्व’ ही ‘अर्थ’ रूप है, उस विश्व का उपद्रव भी ‘मोक्ष रूप’ है, उसका कर्ता ‘कामरूप’ है और उसका हेतुधर्म ‘रूप’ है। ॥ ४९ ॥

* 'मृत्युन्त्रेवदाढात्रमासिते' ‘कारण शाखा के बृहदारण्यक’ के प्रारम्भ अर्थ मार्गण में यह बृहत है वहाँ इस विश्व का विश्लेष में वर्णन है।

† आधिभौतिक काल का रूप उपन्यास मूर्ख है।

‘योजना’

इसके बाद, यजु: और साम तीनी बेदों में कालात्मक मूर्ख है वह कालात्मक मूर्ख, बेदों में रहता है। उसके द्वारा बेद वर्ण (अक्षर शब्दों) की ज्योतिष कार्य करता है, अंत: बेद कालनाभि है।

‘प्रकाश’

1 -- इच्छा।
आभास - एवं विश्वरूपस्वरूपत्वमुक्तः तत्त्वोत्तरः - सत्त्वत्त्वस्वरूपत्वमाह, तत्र प्रथम सत्त्वानुरूपस्वरूपत्वात्रात्रताः निर्दिष्टमहाभूतात्माः।

आभासार्थः - इस प्रकार भगवान् के विश्व रूप का वर्णन कर, उस विश्व के भोक्ता सत्त्व और जीव रूप का वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - भूतात्मात्रेनिन्द्रियप्राणामोकुद्रधाश्चवायात्मने।
त्रिगुणोत्तमाभिमानेन गृहस्वत्मानुभूतये ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थः - पच महाभूतः, तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त, आत्मा (अहंकार रूप) तथा त्रिगुण रूप अभिमान से, अपने अंश रूप आत्माओं के अनुभव को आच्छादित कर दिया है। वैसे आपको, हम नमन करते हैं। ॥ ४२ ॥

मुब्रोधिनी - भूतात्मा मात्र इन्द्रियाणि प्राणां मनो,
बुद्धिर्भिज्ञात्यां भाववाचकाः, अर्थात् हि सत्त्वः, तत्त्वेऽपि,
जीवात्माः, त्रिगुणोपतिमानेन गृह ज्ञात्मानुभूतियते॥ ॥

व्याख्यार्थः - संप्रति और जीव रूप दोनों में से, प्रथम संप्रति रूप का वर्णन करती है, भूत (महाभूत) मात्रा (तन्मात्रा) इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा (अहंकार) ये संप्रति रूप हैं। ऐसे आप संप्रति रूप की, तथा जीव के रूप भी आप हैं, किन्तु त्रिगुण रूप अभिमान से अपनी आत्मा की अनुभूति गृह (गुह) की है, वैसे आपको, हम नमस्कार करते हैं।

यह ही आपका (भगवान् का) पुष्टि रूप है, जिसकी आपने नर्यादा के विरुद्ध स्थिति की है। कैसे ? वहाँ कहती हैं कि, आप संप्रति रूप तथा उसी समय जीव रूप भी होकर दोनों रूपों का अनुभव करते हैं, साथ में अपने आत्मरूप का भी आनंद लेते हैं, यह नर्यादा के विरुद्ध है। इसलिए यह ही आपका पुष्टि रूप है, केवल इसके, अन्य समझ न सके तत: अपनी आत्मा की अनुभूति को, गुहों के द्वारा गुह रखते हैं। ॥ ४२ ॥

आभासः - एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपस्वरूपत्वमुक्तः शब्दसृष्टिरूपस्वरूपत्वमाह नमोऽनन्तरयेति,
श्लोकः — नमोजन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते

नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्ति ये \( \text{॥ ४३ ॥} \)

श्लोकार्थ — अन्तः, सूक्ष्मः, कूटस्थः, सर्वज्ञः, अनेक वादों के अनुरोधवाले वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) दोनों में जिन की शक्ति है वैसे आपको हम प्रणाम करते हैं \( \text{॥ ४३ ॥} \)

सुवाड्यतिः — रूपयोगप्रयोगः नामसृष्टिविलक्षणः,
अन्तःसत्ता रूपसृष्टिः सूक्ष्मः
नामसृष्टिः, शब्दः रूपसृष्टिः सूक्ष्मः
नामसृष्टिः, वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
भगवानः सृष्टिप्रकाशः नामसृष्टिः
सूक्ष्मः, शब्दः, वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः, वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः, वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नानावादानुरोधाय वाच्यसृष्टिः कूटस्थाविकृतः सूक्ष्मः
नारायणतदाभ्यात्मायात्माः श्रीमानः

व्याख्यार्थ — नाम (शब्द)मृदु और रूप मृदु में चार प्रकार के भेद हैं, १-रूपमृदु उत्तरवाला है
और नाम मृदु अन्तः है। २-रूप सूक्ष्म है और नाम सूक्ष्म सूक्ष्म है। ३-रूप सूक्ष्म विकार वाली है
और नामसृष्टि विकार रहति है। ४-रूप सूक्ष्म जड़ रूप है। और नामसृष्टि ज्ञान रूप है यों रूप और
नाम सृष्टि की विलक्षणता का बताई।

यदि नामसृष्टि इस प्रकार ही होगी तो जगत् के विलय हो जाने की आपत्ति आ जाएगी अर्थात्
जगत् का असिस्तव ही नहीं रहेगा। इस शंका को मित्राने के लिए कहते हैं कि आपके अनेक प्रकार
के जो बाद प्रचलित है उनका अनुसरण करने वाले हैं।

जगत् में (१)-शाखाओं के अनुसार सिद्धान्त है (२)-शास्त्रीय सिद्धान्त से, मिलता जुलता, सिद्धान्ताभास
है, जैसे ब्राह्मण में, ब्राह्मण के धर्म पूर्ण न होने तो, उसको ब्राह्मणाभास कहा जाता है। वैसे ही
मायावादादि सिद्धान्त, पूर्ण शास्त्रीय सिद्धान्त, जो होने से सिद्धान्ताभास है। ३-‘पाणिनि रूप’ सिद्धान्त,
जो वैदिक विवेक सिद्धान्त है। इस प्रकार अनेक वाद है, जिनका आपको जिस प्रकार आपका
वर्णन करते हैं, आप उनके लिए जैसे ही बन जाते हैं, कारण कि, ‘शब्द’ और ‘अर्थ’ दोनों में आपकी
शक्तियां विविध हैं। अतः ‘शब्द’ का अर्थ जो जैसे करना चाहते हैं वैसे ही हो सकता है। क्योंकि
शब्द का अर्थ जैसा करना चाहे वैसी शक्ति उसमें विविधमान है। यह भगवान् की ऊँची लीला है,
ऊँचा करते हैं कर्म वासना को अत: जिस अधिकारी की जैसी वासना होती है वह उसके अनुकूल
अर्थ करता है। \( \text{॥ ४३ ॥} \)
आधारां - एवं सामान्यतो नामसृष्टिलिंगस्मतत्वा विशेषमाहि।

आधारार्थ - इस प्रकार सामान्य रूप से नाम सृष्टि की लीला को कह कर अब विशेष प्रकार से नाम (शब्द) सृष्टि लीला का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - नामः प्रमाणमूलाय कथ्ये शास्क्योनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नयो नामः। ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ - प्रमाण के आदि कारण, कवि, शास्क (वेद) के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति करने वाले, निगम (वेद) रूप आपको हम नमस्कर करती है। ॥ ४४ ॥

सुमोनिधि - नामः प्रमाणमूलायति, वेदायो हि प्रमाणः, ततः यत्र प्रामाण्यमाध्यमोऽवत् तदु भगवत्त्रितिपदः प्रवृत्तियोऽवत्तितं व। अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, निर्युत्तिति भगवद्व्यवस्थितस्य ध्रुवः प्रवृत्तियोऽवत्तितं च स्यात्, निर्युत्तिति च न स्यात्, अतः प्रमाणमूलूति भवनेति, कवि तदनिप्पितः, अनेन शब्दवक्ताः।

शब्दप्राप्तार्थिकारणशरणे शास्क्योनये इति, शास्क्यं वेदस्य योनि: कारणः, एवं निदानरूपः मुक्तवावङ्कररूपः प्रवृत्तियोऽवत्तिति, वेदोऽह हि इत्र सम्पाद्यमिति प्रवृत्तियोऽवत्तिति निर्युत्तिति च कुतिक्षिणिवर्त्तिति काचिदं प्रवृत्तियोऽवत्तिति, निगम आजारूपः भवनेति, एवाप्रकारण निगामरूपः वेदरूपः वा, अनेन सद्भाव्यः उक्तः। ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ - वेद आदि शास्को को हम प्रमाण इसीलिए मानते हैं और इसीलिए उनका आदि करते हैं कि वेदादि के प्रतिपाद विषय आप ही हैं और वेद आदि शास्को का प्रतिपादन आपने ही किया है, यदि यह न होते तो उनको कोई प्रमाण' न मानें, यदि नियत होते तो भी, भगवान् से पृथक्को होने के कारण, उसका प्रमाण कोई न माने तथा उसकी नित्यता भी न होगी, अतः प्रमाण मूल भूत कारण आप ही हैं और उस में जो रह सके, उसके स्वरूप को जानने के कारण तथा वक्ता एवं शब्द रूप न चाहे ही है। आप 'शब्द' के उपादान कारण रूप हो अतः आपको 'शास्क्योनिः' (वेद का कारण) कहा गया है। वेद के अवतार रूप (मध्य में रह हुआ रूप) का वर्णन करती है कि, वेद आजा रूप है, वह (निगम-वेद) दो कारणों का सम्पादन करता है (१) - प्रवृत्ति (२) निवृत्ति करता है। किसी कारण में प्रवृत्ति की आजा देकर प्रवृत्ति करता है किसी कारण के करने का निषेध कर उसने निवृत्ति करता है। इस प्रकार आप निगम रूप वा वेद रूप हैं इससे सद्भाव कहते हैं - जिससे सिद्ध है, कि यह सद्भाव मन्तव्य लीला है। ॥ ४४ ॥

1 - सच्चा, ज्ञान रूप।
आभास - एवं वैदिकप्रमाण प्रमेय रूप न पतामुक्ता तदनाविश्वसितयाविश्वूतं भगवतं चतुर्मृति तन्त्रप्रकारवरुक्त निरुपयित नमः कृष्णायेति,

आभासार्थ - इस तरह वैदिक प्रमाण वैदिक प्रमेय के रूप में भगवान् के वर्णन के पीछे अव तंत्र के प्रकार वाले चतुर्मृति भगवान् का वर्णन करते हैं क्योंकि यह भगवान् का आविष्कृत रूप है जब कि वैदिक रूप आविष्कृत नहीं है।

श्लोकः - नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवमुताय च ।
प्रभुमनायानिन्द्राय सत्वतां पत्यः नमः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थः - कृष्णरूप, रामरूप, वासुदेव पुत्र रूप प्रभुमन रूप और अनुरूप सात्त्विक के पति चतुर्मृति आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थः - कृष्ण नाम कहने से नागपतियों ने यह बताया है कि आप (भगवान) सदान्त हैं अतः आपका प्रधान स्वरूप सदान्त है। आपके दूसरे स्वरूप ये हैं- १-राम (संक्षिप्त) २-वसुदेवजी के पुत्र वासुदेव, (श्लोक में आए हुए 'च' 'चोर' शब्द से यह ध्यन प्रकट की है कि वसुदेव के पुत्र रूप प्रभुमन रूप भी है कारण कि वसुदेव शब्द से दो का संकेत है। १-वसुदेव से शुद्ध सत्त्वरूप पर और दूसरा वसुदेव नाम पर तथा ३-प्रभुमन एवं ४-अनुरूप हन चार व्यूहों के कारण आप चतुर्मृति भगवान् कहे जाते हैं। सदान्त श्रीकृष्ण भगवान् चतुर्मृति स्वरूप से जिनके लिए प्रकट हुए उनका वर्णन 'सात्त्विक पत्यः' पद से कहते हैं कि आप शुद्ध सत्त्व गुण वालों (परम वैष्णवों) के पति हैं। 'सात्त्विक' शब्द यहाँ दो अर्थों में दिया है १-सात्त्विक शब्द से 'वैष्णव'। (२)-सात्त्विक शब्द से वह

भगवान् को जब देखकर द्वारा प्रकट होना था, तब आप वासुदेव व्यूह रूप से वसुदेव के हदय में पार्थर अतः 'वसुदेव पुत्र' कहने से वासुदेव व्यूह समझना चाहिए। वंश वर्जित करने के लिए भगवान् प्रभुमन व्यूह रूप से' वसुदेव के यहाँ प्रकट है। इसलिए यह भी वसुदेव पुत्र होने से वासुदेव अर्थात् वसुदेवजी के पुत्र कहे जा सकते हैं।

‘अनुवाटः’
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय २

ज्ञान, जो भक्ति का भी फल रूप है, अतः आप भक्ति के फल रूप ज्ञान का स्वरूप हैं जिस का भाव यह है कि आप भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होते हैं और आप भक्ति के प्रवर्तक भी हो। अतः इससे ईशानु कथा (अर्थात् विष्णु की भक्ति) का निरूपण किया है। ॥ ४५ ॥

आभास - एवं तन्त्रयायेन भगवानं निरूप्या सार्धग्ययोगाविद्धिः। स्मार्तिनिरूपितं
भगवानं निर्ययेन निरूप्याऽति नमो गुणप्रदीपायेति।

आभासार्थः - इस प्रकार तन्त्र शास्त्रों में जिस भावित भगवान् के स्वरूपों का वर्णन किया गया
है वह निरूपण कर अब इस निम्न श्लोक में स्मार्तत्वालों (स्मृति शास्त्रों को मुख्य प्रमाण मानने
वालों) ने सांख्य तथा योगाधि शास्त्रों से, जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया है उसी प्रकार
के भगवान् के स्वरूप का वर्णन करती है।

श्लोकः - नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मक्षारद्यनाय च।
गुणवृत्तुपलक्ष्याय गुणदश्रेण यस्वाविदे ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थः - गुणों के प्रकाशक, गुणों से अपने स्वरूप के आच्छादकः गुणों की
वृत्तियों से बोध करने वाले, गुणों के दशक, स्वतः स्वयं ज्ञान वाले, वैसे आपको हम
नमन करती है। ॥ ४६ ॥

सुबोधिनी - 'भगवान् समुण' इत्यस्तावामथर्थः
गुणात्मकर्षण दीप्याः तत्कारणानार्थमेव गुणान्
स्वनिकटे स्थापति, ततो गुणान् प्रकाश्यन् गुणान्
माहात्म्यावाहाय गुणप्रत्यन्तत्त्वान्येव गुणप्रत्यत्त्वात्त्वान्येव
राजदयासः स्वरूपः भूत्यो तत्वस्य स्थिरोत्त्वा ज्ञात
इत्यर्थः। कैनौ संस्काराः गुणान् या वृत्तस्यश्रुषुषु
णानदयासः स्वरूपः भूत्यो तत्वस्य स्थिरोत्त्वा ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थः - भगवान् गुणों को प्रकाशितः करने के लिए अपने पास रखते हैं अतः आपको 'समुण'
कहते हैं। इस प्रकार गुणों को प्रकट करते हुए उनका महात्मार्थ प्रसिद्ध करने के लिए उन गुणों से अपना
आच्छादन कर देते हैं अर्थात् भगवान् अपना तेज गुणों को देकर आप तिरीक्षितः हो जाते हैं पश्चातः पुनः।
कौतुकः के लिए, गुणों की वृत्तियाँ (नेत्र आदि का ज्ञान, देखना आदि) से अपना सोच करते हैं। इस प्रकार सत्य, राज और तमोगुण के भाव इस प्रकार (गुणों का प्रकाशन, उनसे अपना आचरण और पुनः गुणों की वृत्तियाँ से अपना ज्ञान करना) भगवान् यों किस तरह करते हैं? इस के उदाहरण में कहते हैं कि भगवान् गुणों को देखते हुए, उन पर इस प्रकार उपकरण करते हैं। उन पर इसी भाव को उपकरण करते हैं, भगवान् का कुछ भी अपकार नहीं हुआ है कारण कि आप 'स्वतः' स्वयं ज्ञान वाले हैं उनका अन्य कोई न ज्ञान दाता है और उनके ज्ञान का कोई भी नाश कर सकता है, अतः जिन गुणों के 'सत्य', 'चित्र', और 'आनंद' रूप धर्म हैं, उन उन गुणों के रूप में स्वयं भगवान् स्वतः प्रकट होते हैं, प्रकट हो कर उन पर उपकरण करते हैं जिससे आप 'स्मृति' कहे जाते हैं।

आभास — एवं समृद्धिवर्द्धित्वमुक्तव ज्ञेयं रूपं भगवतमाहायायकृतेति,

आभासार्थ — इसी भाव भगवान् के समृद्धि रूप का वर्णन कर अभ इस नित्य श्लोक में भगवान् के जिस रूप को ज्ञाना चाहिए उस रूप का निरूपण करती है —

श्लोक: — अन्वयकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।

हुषीकेश नमस्तेषस्तु मुनये मौनशीलिने।

श्लोकार्थ — हे हुषीकेशं! जिस आपके विहारं को कोई नहीं ज्ञान सकता है, सर्व व्याकृतं की जिस आपसे सिद्धं होती है, मुनि और मौन स्वभाव वाले भी आप हैं, वैसे आपको हमारा प्रणाम हो।

सुबोधिनी — अन्वयकृते प्रकृतिपूरुपरूपमेव विहारं यस्य, अन्वयकृतो वा केनायता विहारं यस्य, अन्वयकृतत्वम् वा विहारं यस्य, कपयुपकः अर्थात् सम्पाद्यते यथा न कोपि ज्ञातिति, तस्यावग्रहस्ततस्य प्रामाणमाह सर्वव्याकृतसिद्धये।

स्यायं वत्स्याकृतस्तत्त्वानि विद्यया च वदनवत्तीति, अर्थात् अन्वयकृतस्तत्त्वात् स्यायं स्वप्नवाचाराय स्वप्नवाचाराय वेदेऽवेदं निरुपदिति हुषीकेश नमस्तेषस्तु मुनये मौनशीलिने।

प्रवृत्तिनिरापदिति इति साधणं तं नमस्तिति, तद्रूपीतातिरिप्राय, तद्भवत्याकृतस्य ज्ञान कथं भवित्तात्त्वकान्तियायायामाह मुनयं इति, मन्मवेव तत्त हेतुः मुनयभक्त्व द्रव्यं, तद्रूपी भगवान, किंतु साधनाबोधित्वावग्रहस्ततस्य भगवतो ज्ञाते निरूपदिति मौनशीलिनं इति, मौनेऽवेदं शैलं सहस्रः स्वभावाद्यस्य, "उपस्तायं सचि निरूपदिति" दितिप्रसन्न "अन्वयं पुरुष: स्वयंभूति" हिति "वचस्युपरमेत् प्रायों" हितायग्येत्वा तदेकं भगवत्ते एवावग्रहस्तस्य तत्त स्वयंमायं तस्य माहं मित्रादिवाचारायनसम्बन्धये॥ ४७॥
व्याकरणः—इस श्लोक में दो सिद्धान्त कहे हैं। एक ‘उत्पत्ति’ सिद्धान्त, अर्थात् उत्पत्ति कैसे एवं किससे हुई? और उत्पत्ति-कर्ता का स्वरूप कौन है? तथा दूसरा, ‘ज्ञान’ सिद्धान्त अर्थात् भगवान के मूल रूप का ज्ञान, हो जाए कि वह कैसे है?

श्लोक के पूर्वार्थ में, उत्पत्ति पक्ष (सिद्धान्त) कहते हैं—(१)—उत्पत्ति कर्ता (कारण रूप) के स्वरूप का वर्णन करते हैं—‘अव्यक्त विहारक’ वह कारण स्वरूप (२)—अव्यक्त होने से उसके विहार के कोई ज्ञान नहीं सकता है (३)—प्रकृति और पुरूष रूप में जो विहार करते हैं अर्थात् जिनका प्रकृति और पुरूष स्वरूप है उनमें वा उनके द्वारा, लीला कर रहे हैं (४)—कोई भी ज्ञान न सके इस लिए जिसका विहार है अतः आप आनन्द रक्षा हुई उस भी मनुष्य रूप का दिखावा करते हैं जिससे आपके आनन्द करके कोई नहीं ज्ञान सकता है। इस प्रकार आपका कारण रूप अव्यक्त है। यह कह कर उसकी तूढ़ सिद्धि के लिए कहती है कि ‘सर्वज्ञातसिद्धिः’ सब जो तव, ब्रह्माण्ड और उसके भीतर जो कुछ है उनकी उत्पत्ति और ज्ञान जिससे होता है वह आप है। गीता में इसी लिए कहा गया है कि इन भूतों को आदि अव्यक्त है। यदि वह अव्यक्त न होते तो उससे उत्पत्ति नहीं हो सके, कारण चि, व्यक्ति से उत्पत्ति नहीं होती है। व्यक्ति अर्थात् कार्य विकार वाला होता है। अतः कारण से कार्य का प्रकार पृथक् होता है, जब कार्य (व्यक्ति) विकार वाला है तब कारण का अव्यक्त होना निश्चित हो है।

इस प्रकार पूर्वार्थ में उत्पत्ति पक्ष का निरूपण कर, अब उत्तरार्थ में ‘ज्ञान’ पक्ष का निरूपण करती है। नागार्जुन भगवान के प्रत्यक्ष सामने नामस्कार करती हुई कहती है कि आप को हमारी नामस्कार हो कारण कि आप इन्द्रियों के ‘इंद्र’ हो अतः उनके प्रेक्षण हो, इस लीला में भी आप इस हिस्से का नाम के भाव को सिद्ध करते हुए इन्द्रियों को प्रकृति करते हुए इस लीला में उपस्थित हो। अथवा आप इसी अवस्था में दर्शन दो। यदि इस प्रकार प्रकट हो, तो अव्यक्त का ज्ञान फिर कैसे होगा? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि मनन करने से, उस अव्यक्त का ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि, आप ‘मूनि’ हो। ‘मूनि’ द्रव्य होते हैं। वही रूप आपका है। कुछ और कहती है कि, अव्यक्त, भगवान का ज्ञान, प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है, वाणी का शान्त होना। इससे कहा है कि, ‘मौनालंक’ मौन ही जिसका सहज स्वभाव है। अर्थात् जिव जब मौनवस्था सिद्ध करता है तब उसके पास सक्षम है। जब वाणी शान्त होती है तब कौन सी योगी है? ऐसे प्रसन के उत्तर में कहा है कि इस अवस्था में (जब वाणी शान्त हो जाती है) यह पुरूष स्वयं ज्योति स्वरूप है। वह एक भगवान का ही अव्यक्त, रूप है। जो कहता है कि मैंने नहीं जाना है उसने जान लिया है। जैसे चचनों की संगति भी यही इस भगवान के रूप में बैठ जाती है। ॥ ७७ ॥

—विकार रहित। २—लीला। ३—जिसको कोई ज्ञान न सकता है। ४—बिना विकार वाला।
5—स्वामी। ६—प्रेषण करने वाले।
आभास — शास्त्रार्थस्त्रूपस्योभगवानुपपितत्ववहार्यः, तमाह

आभासार्थ — इस निम्न श्लोक में भगवान् का जो शास्त्रार्थ रूप (शास्त्रों में जिस रूप का वर्णन) है जिसका पपित व्यवहार में लाते हैं उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः — परावर्ततिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्दृश्ये तस्य हेतुवे॥ ४८॥

श्लोकार्थ — छोटे और बड़े की गति को जानने वाले, सर्व के स्वामी, तथा विश्व से पृथक् और विश्वरूप उसके द्रश्य एवं उसके कारणरूप आपको हम नमन करती हैं॥ ४८॥

फलरूपोपिः, चकासुधंकुभयतः, अनेन केचन विश्वरूप
प्रतिपदविधिः केचन तद्विश्वरूपिः, केचनोभयुः, केचित्
पुंशकेशिते तिः, किंय तद्दृश्ये तस्य रूपस्य द्रश्य तरंगे,
अनेनाविश्वशे प्रमाणुनुलं, विश्वकेशिते प्रमाणापत्त तस्य हेतुवे
इति, तस्य विश्वय नारामुरूपिः, कारणात्मकतैव कार्यस्ये
तिः प्रमाणाः, एवं निरोधरूपप्त्राच्य: कृपादत्तवृत्तोऽवतः॥ ४८॥

व्याख्यार्थ — शास्त्रों में से यह ज्ञान होता है कि बड़े (ब्रह्मादिदेवता) तथा छोटे (हमारे जैसे) की गति को आप जानते हैं इस प्रकार शास्त्रों से होने वाले बाहिर के ज्ञान के रूप का वर्णन कर, भीतर के ज्ञान का कहती हैं कि आप सब के साक्षी रूप भी हो अतः ऐसे भगवान् के रूप की प्रत्यक्ष प्राप्त करती हैं।

अब उत्तरार्थ में शास्त्रों में कहे हुए रूपों को, संक्षेप में कहती हैं, कि आप विश्व से पृथक् तथा विश्वरूप भी हो वैसे दो रूप आपके कैसे हैं ? इसको आचार्यश्री दृष्टन्त देकर समझाते हैं कि जैसे वृक्ष का एक रूप शाखादिः है और एक रूप फल हो वे पृथक् भी कहे जाते हैं किन्तु वे दोनों ही रूप वृक्ष के ही हैं, वृक्ष उनसे अन्य नहीं और वे (शाखादिः एवं फल) उससे (वृक्ष से) अन्य नहीं वैसे ही आप भी दोनों रूप होते हुए भी एक ही है। श्लोक में आए हुए ‘च’ शब्द का आशय यह है कि दोनों रूप, दोनों स्थानों पर (विश्व में और विश्व से बाहर भी) है।
इस प्रकार का वर्णन शास्त्रों में होने से, कितने ही भगवान को केवल 'विश्वरूप' कहते हैं और कितने ही कहते हैं, कि विश्व से बाहर (पृथक) हैं और कितने ही कहते हैं कि भगवान तो विश्वरूप भी हैं और विश्व से बाहर भी हैं अतः एक ही भगवान दोनों रूप हैं एवं जो कहते हैं कि विश्व से बाहर का रूप और विश्व का भीतरी रूप दोनों अलग हैं वे एकदेशीय हैं।

किंतु (कुछ और कहते हैं कि) भगवान विश्व से बाहर हैं उसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के द्रश्य हैं। द्रश्य हर से बाहर हो रहता है, आप विश्व रूप हैं, इसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के कारण रूप हैं कार्य, कारण का ही रूप है उस से (कारण से) कार्य अन्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार इन ४६वें, ४७वें और ४८वें श्लोकों में क्रम से 'निरोध' 'मुक्ति' और 'आश्रय' के स्वरूपः कहे हैं॥ ४८॥

आभासम् — एवं सर्वरूपेण नत्तिव विज्ञापनार्थ प्रथमतोऽस्यापराधस्तथा नास्तीति वक्तू त्वमेव सर्ववभावानां बोधक इत्युपपतिमाहस्त्वं हस्येति,

आभासार्थ — इस प्रकार भगवान के दश लीला वाले सर्व स्वरूप को प्रणाम कर अव प्रारंभना करती हैं, जिसमें प्रथम कहती हैं, कि जैसे इसका अपराध कहा जाता है, वैसे इसका अपराध नहीं है। उसको इस श्लोक में युक्ति देकर सिद्ध करती हैं कि आप ही सर्व के स्वभावों को जगाते हों अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव बताते हो वह इस स्वभाव के अनुसार कार्य करता है अतः जैसा इसका स्वभाव आपने बताया है उसके अनुसार यह कार्य करता है—

श्लोक: — त्वं हस्य जन्मस्थितिसंयमानू प्रभो गुरौरनीहोस्कृत कालशिवक्तिसृष्ट ॥
	तत्तत्वभावानू प्रतिबोध्यानु सत: समीक्ष्यायोगविहार ईहसे ॥४९॥

"इस मत का ख्यातनात ३२-३२ वें ब्रह्मपूर्ण में आचार्य श्री ने किया है। "लेख"

४६ वें, ४७ वें और ४८ वें श्लोकों में 'निरोध', 'मुक्ति' और 'आश्रय' केसे कहे हैं उसको स्पष्ट कर समझाने के लिए कहते हैं कि ४६ वें श्लोक में भगवान ने गुणों के ऊपर अर्थात् समुदायान जीवों पर उपकार कर उनका प्रकाश दिया है। इससे उसका निरोध किया है। अत: इस श्लोक से 'निरोध' लीला कही है। ४७ वें श्लोक में भगवान अव्यक्ति, विश्व अब देखा है। जिसका तत्त्व है कि भगवान जीव स्वरूप में स्थिति करते हैं। जीव भगवान में स्थित हुआ, उसे मुक्ति कहते हैं, अत: वह मुक्ति लीला है। ४८ वें श्लोक में ज्ञान का तत्त्व क्रिया का आश्रय भगवान है वैसे कहा है, अत: इसमें आश्रय लीला कही गई है।

इस कहने से यह सिद्ध हो जाता है, कि भगवान की को हुई दलतीलाओं से भगवान के जो दस स्वरूप हुए हैं उनको नगपतियां प्रणाम करती हैं।
श्लोकार्थः — हे प्रभो! काल शक्ति धारण करने वाले आप इच्छा रहित होते हुए भी गुणों से इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय करते हो। आपकी लीला अमोघः है, अतः आप उन उन वस्तुओं को जैसे २ स्वाभाव हैं, वैसे २ ही, उन स्वाभावों को जागृत कर, सत्पुरुषों का पूर्ण ध्यान करते (खड़े) हुए लीला करते हैं। \( \text{॥ ४९।।} \)

व्याख्यार्थः — भगवान् ‘निरीक्ष’ कहे जाते हैं अर्थात् निरीक्ष होने से भगवान् को किसी प्रकार कुछ भी करने की इच्छा नहीं होती है, तो इस जगत का जन्म, स्थिति और लय, भगवान् ने कैसे किया? इस गंगा का समाधानः करते हुए इस श्लोक में इस विषय को समझते हैं कि भगवान् जब अपनी काल शक्ति को धारण कर उसका अधिकारः बनाते हैं, तब जैसे सिहासन पर धरी हुई पुतलियां, हवा के लगने से, चलते लगती हैं वैसे ही काल शक्ति को धारण करने पर, गुणों में श्रोधों होता है जिसके द्वारा जगत के सुस्थि आदि सर्व कार्य होते हैं। इन कार्यों के होने में ‘गुण’ उपदान कारण है। ‘काल’ निर्मल कारण है और ‘स्वाभाव’ नियमक है। उसको (तत्स्वाभावान् प्रतिवेद्यनः) पद से कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का जो स्वाभाव है वह उसका नियमक है और उनको (स्वाभावों-नियमकों को जागृत करने वाला काल ही है) वह काल, किस स्वरूप से जागृत करता है? जिस काल का स्वरूप स्वाभावों के भीतर स्थित है। इस प्रकार सत्पुरुषों की पालना करते हुए आप लीला करते हैं।

* स्वाभाव के भीतर स्थित स्वरूप कालका आधि दैविक स्वरूप है।

1-व्यर्थ नहीं किन्तु सत्य। 2-निवारण। 3-आधार। 4-हलचल। 5-नियम से चलाने वाले।
लीला के समय में आप के दो कार्य हैं। जब आप अवतार नहीं लेते हैं और ‘अक्षर’ पर आरूढ़ होते हैं तब अक्षर से, काल शक्ति, गुण और स्वभाव प्रकट हो जाते हैं। अन्ततः उनमें से जगत् की अनेक प्रकार (सदृश्य और निर्दोष) को उत्पन्न होती है। उस अनेक प्रकार वाले जगत् में, आप सब प्रकार के समारोह तथा सत्पुरुषों की पूरी तरह देख रेख से पालन करते हुए लीला करते हैं। इसी भौति लीला करने से उनके (सत्पुरुषों के) सर्व पुरुषर्थ सिद्ध हो जाते हैं तथा जगत् की भी रक्षा होती है। जिससे शोषण बार बार जगत् बनाना नहीं पड़ता है, वैसा होने का कारण कहती है, कि आपको, को हुई लीला सत्य होने से ध्यान नहीं जाती है। इससे स्वभाव को जाग्रत करने तथा सत् कार्य अथवा सत्पुरुषों की दक्ष दोनों कार्यों का कारण कहा॥ ४९॥

आभास – अस्त दृष्टिभाववले भगवत्तत्त्व शिक्षकते हेतुपुक्ता कार्यमाह तस्यैव
tेशभूरिति,

आभासार्थ – सर्प का स्वभाव दुष्ट क्यों है ? और भगवान् शिक्षक कैसे है ? उन दोनों के कारण बतलाकर अब भगवान् ने जो कार्य किया (सर्प को शिक्षा दी) उसका वर्णन करते हैं–

श्लोकः – तस्यैव तेस्मूतनवस्थ्वलोक्यायं शान्ता अशान्ता उत मूढ्योनयः।
शान्ता: प्रियास्ते ह्रद्युवावितुः सतातः स्थातुः ते धर्मपरीपस्येहतः॥ ५०॥

श्लोकार्थ – त्रिलोकोऽनाशेन शान्त, अशान्त तथा मूढ सातिवक, रजस और तामस, जितने शरीर हैं वे तब आपके क्रीडा के साधन रूप होने से आपके ही शरीर हैं। तो भी अब आपकी शान्तरूप प्रिय है, क्योंकि, सत्पुरुषों के धर्म पालन की इच्छा से, प्रवृत्ति करते हुए आपने उन्हों की रक्षा के लिए अवतार धारण किया है॥ ५०॥

सुवेदिती – यदा भगवान् स्वार्थवेश सब करते तदा सर्वभृत्य शारीरिक भगवानीपरिवेश भगवतन्यो भवन्ति, ते च विविधाः। शान्ता: सातिवक अशान्ता रजस चिकित्सा मूढ़ोनयस्तम्यस्तवेदव तनवः। द्वितीयसर्ग प्रकाशोऽस्यमुवितस्ते, दैत्याशान्तानं तत्सापोकारे इति, मूढ़ोनियोऽव तथायत्वमुपरिविविधात्वायस्य इत्यक्तं। तथा सति कर्थर्षिनी भगवद्वस्तास्तीला ? तत्रात्र शान्ता: प्रियास्ते ह्रद, अधुनावितुः पालकस्य धर्मपरीपस्य धर्मर्षेच्छया स्थात। स्थानेच्छे: शान्ता एव सातिवक एव प्रिया न त्वतिक्वा उप्यविधा:। ते वि नाशका उत्पादकाः। उत्पादकाः अप्यभिमाता:। अधिकम्भाजनकलात, नायनसमु वित्योधिनेऽत्र, अनेनोभयमयः कार्यमुक्तमपु॥ ५०॥

व्याख्यार्थ – जब भगवान् अपने लिए ही (क्रीडा करने के लिए ही) सब जगत् बनाते हैं, तब राधी प्रसन्नभगवान् की लीला में उपयोगी होने से, उनके ही शरीर होते हैं। वे शरीर तीन प्रकार के होते हैं। १- शान्त अर्थात् सातिवक २- अशान्त अर्थात् रजस और ३- मूढ यो वाले तामस, वे तीन प्रकार के
शरीर आपके ही शरीर है। यहाँ द्वितीय प्रकार की सृष्टि में यों होता है। उस हितीय प्रकार की सृष्टि में ही, देवताओं का उपकार होता है।

मूढ़ योनि वाले तामसों में भी भगवान् के शरीरों को मानना अनुचित है (योग्य नहीं है) इस प्रकार की शरीर होने से, उसकी मिटाने के लिए श्लोक में ऐसे शब्द देकर कहा है कि वे मूढ़ योनि वाले भी आपके शरीर हैं मूल में आए हुए ‘उत्’ का तात्पर्य भी यह है कि मूढ़ योनि वाले आपके शरीर हैं। यदि सब शरीर भगवान् के ही हैं तो अवतार की लीला कैसे बन सकेगी? इस रंग का निवारण श्लोक के उत्तरार्थ से करते हैं कि, इस समय आपको शान्ति ही प्राप्त है। कारण कि, आपने धर्म रक्षा की इच्छा से अवतार धारण किया है। इसे लिए आप सत्पुरुषों का पालन कर रहे हैं। शेष दो (रजस और तामस) प्रिय नहीं हैं, क्योंकि रजस सृष्टि बढ़ाकर पृथ्वी पर अधिक बोझ डालते हैं और तामस नाश करने वाले विरोधी है। इससे भगवान अवतार लेने के दोनों कार्य (दुःख का निग्रह करना और सत्पुरुषों का पालन करना) बता दिए।

आभास—तथाप्रायपराधः सोढ़व्य इत्यहुपराधः इति

आभासार्थः सर्प वैसा दुःख है, तो भी आपको इसका अपराध सहन करना चाहिए। इस प्रकार की प्रार्थना इस निम्न श्लोक में करती हैं।

श्लोक:—अपराधः सकृद्ध भर्त्र सोढ़व्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षत्तुमहसिः शान्तात्मनं मूढः स्वत्मांजानतः।

श्लोकार्थः पालन करता स्वामी को एक बार अपनी प्रजा का अपराध सहन करना चाहिए। हे शान्त स्वरूप! आपके स्वरूप से, अनजान इस मूर्ख पर, आपको क्षमा करनी चाहिए।

सुबोधिनी—यद्यपि साम्प्रदयनयामिविवेदयात्मादेवग्निवत्: व्ययदीनामपि भवनेव पतितोऽत्सर्वसे कर्मावियंति:।
सांपाशः सोढ़व्यः। स्वस्वयं प्रजाभः पालनायचिं कृत: इति, अनुया पालावतं न स्वातः, कर्मावियंति: च सकृद्धे सोढ़व्योऽप्राणः। स्वस्थ्यं प्रजाभः कृतः। पुनरावर्गो जातवा करणां मार्गामोक्षतः। निग्रहादिकालः अक्षेत्र्यात्मकः शान्तात्मकः।

सत्यधिभावाकार्यमिलावत् सर्वस्य शान्तात्मक: दण्डेन कार्याय निमित्तमिलावत:।
प्रतिवेद्यावत् भावनाय भावनाया सोढ़व्यः। नवजानातु कृत्तिमिल: कथमवागावत्यम्।
अतिरिक्तसि तु सकृद्धि न सोढ़व्यतः इत्यादिचुमुक्ष्यितेऽस्मिन्: स्वविदेशाय: जनसौनिलानजान:।
अज्ञातातु कृतत्मकप्रायम्।

व्याख्यार्थः यद्यपि आपका इस समय अनेकों को (सात्त्विकों को) रक्षा पालने में आयोग है, तो भी, हम लोगों के भी, इस समय आप ही पति हैं। इसको न समझ कर, समय का विचार भी न कर,
श्री सुबोधिनी की हिंदी दीका - तामस प्रकरण 'प्रेम' अवात्त प्रकरण - अध्याय २

लगभग, हमारे पाति सर्प ने अपराध किया है वह आपको सहन करना चाहिए। क्यों सहन करें? इसके उत्तर में कहती है कि यह अपराध जिसने किया है, वह आपकी प्रजा है। प्रजा पालने को योग्य ही होती है, यदि उसका अपराध सहन न कर, उसका नाश करोगे, तो, आपका पालकपन चला जाएगा।

अतः: कार्य चलता है, इसलिए प्रजा का अपराध एक बार सहन करना चाहिए। यदि दूसरी बार करे, तो, उसको मारना चाहिए। क्योंकि एक बार, श्रम मिलने पर यदि पुनः अपराध यह निश्चित करे तब वह दण्ड के योग्य है। अब तो आप क्षमा कर सहन करें हुए, आपने प्रजा पालन धर्म को सिद्ध करे।

आपको क्षमा इसलिए भी करनी चाहिए, कि आप शात आत्मा हो, जिससे आप सत्त के धाम हैं। इसी से, आप में श्रेष्ठ नहीं होता है इसके अतिरिक्त अपने इसको दण्ड दिया है जिससे ही कार्य सिद्ध होगा है। अब आप इससे किसी प्रकार विध आदि नहीं होंगे, अतः: अब एक बार अपराध सहन कीजिए।

इसने यह अपराध अनजन में किया है वैसा हम कैसे जाने? जान कर किया हो, तो एक बार भी सहन नहीं करना चाहिए, इस शंका को मिटाने के लिए उसको विशेषण 'मूढ़' दिया है, अर्थात् वह अज्ञात है, सर्प योनि तामस होने से, 'मूढ़' ही है, अत्: आपको स्वरूप का उसको परिचय नहीं है इस लिए जो अज्ञात से किया गया अपराध है वह नहीं किया हुए के समान है।

आभास - क्षमाया यतू कर्त्वेऽ तदाहुरुगृहूष्रेष्ठे।

आभासार्थ - क्षमा करते हुए, जो कुछ करता है उसको इस श्लोक में कहती है-

श्लोक: - अनुगृहुणिष्व भगवन् प्राणांस्त्रयजिति पञ्चग:।
स्त्रीणां न: साधुशोच्चानां पति: प्राण: प्रदीयताम्।

श्लोकार्थ - हे भगवान्! अनुग्रह कीजिए, यह सर्प मरता है, साधु पुरुषों के लिए शोचनीय हम स्त्रियों पर कृपा कर पति सूप प्राण दीजिए।

सुबोधिनी - अनुग्रह: कर्तव्य: , नन्दनग्रहे को हेतु:; त्राहं भगवान्तित, तवैव गुणो हेतुपूर्तान न वस्यः, तत्र सर्वाय वर्द्धे भवेदित्याविवृत्ताः नितिविर्याधुः: प्राणांस्त्रयजिति, कुपास्वशरोभ्य, यथा कुपायां भक्त्यादिहेतु: , एवं समयोपयि, अत्र एव यथायादिकले सेवाहितायायापि यथा दीयते तथा कृपा विद्येतेऽतः; पञ्चग इति, जीवार्त्तंतवल्पता दथायाः हेतुः; नवतल्पादेव किमेनेजीवितेन्तत्त्वास्वित्याःहु: स्त्रीणांस्वित्याः, स्त्रीणामस्यां परिष्कृताः प्राण: प्रकर्षण दीयताम्, स्त्रीणां प्राणश्च सर्वाय: कर्तव्यस्त; नन्दायोगिन: प्रतिष्ठित: श्रीवत्साः यात्र; 'शालापुकारण हदयानेत्र' इतिमूर्तित्वाविवृत्ताः: साधुशोच्चानामिति, सत्यं दुष्टः: स्त्रिय: परं स योनिदोष एव न तु जीवदोष: अतः:
साधवत्स जीवं शीघ्रति कथमयं तीरथस्रीयो पतित इति परिपरकः। अत्सवेयो शोकाभावस्यास्मातः प्राणियो यं साधृतेदा भयं पराधीनता मुक्त्यभावश्च वर्गांश साधृताः। इतिभवः ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थः — आप इस सर्प पर अनुग्रह कीजिए, इस पर अनुग्रह करने में, इसका (सर्पका) गुण कारण नहीं है, किन्तु अप्पा 'भगवान्' हो अतः अप्पा 'भगवत्' ही दया करने में कारण है। यदि भगवत्स्ता कारण है तो सर्वत्र सदा ही अनुग्रह करना चाहिए? इसके उत्तर में कहती हैं कि, अब अनुग्रह करने का समय है, क्योंकि यह मर रहा है। जैसे, कृपा करने में, भक्ति आदि, कारण हैं, वैसे ही 'समय' भी, एक प्रकार से है, इस कारण से ही ग्रहण आदि काल में, जो से स्वयं आदि नहीं करते हैं, उनको भी 'समय' के कारण, दान दिया जाता है वैसे ही अब भी कृपा करने का समय है, अतः कृपा कीजिए। इस पर दया करने में दूसरा कारण यह भी है कि यह पत्रमृत्यु अल्पः जीव है इस लिए भी अनुग्रह कीजिए। जब यह छोटा सा साधारण जीव हो, तो इसके जीवन से कभी लाभ है? इस शंका के उत्तर में कहती हैं कि हम सिंयाओं का यह पति रूप प्राण है। सिंयाओं की सत्का सर्प प्रकार से कार्य कीजिए।

सिंयाओं भी दुःख होती हैं जैसा कि श्रुति कहती है कि 'शालावृक्षान्त हरयानवेता' (सिंयाओं सिंगार के जैसे हरयानली होती है) अतः उनकी श्रम कैसे को जाए, इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं, कि सत्य है सिंयाओं दुःख हैं किन्तु वह दोष देख का दोष है न कि जीव का दोष है जीव का दोष न होने के कारण है, साधु पुरुष सिंयाओं पर दया कर, शोक करते हैं, कि ये जीव खींची में कैसे आ कर पड़े हैं? जिस शंके में सदा ही भय, पराधीनता और मुक्ति का अभाव है। आप साधुओं के पूर्ण रोग से पालन करने योग्य है अतः उनको (साधुओं के) शोक मिटाने के लिए हमारे ग्राणों की रक्षा कीजिए। ॥ ५२ ॥

आभासार्थः — नन्तु मुक्तिः सर्वोपक्षेपक्षायं प्राणक्षेपित्वा मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यते इत्याश्श्र्याहुविधेहि ते किङ्कीरणामिति।

आभासार्थः — सर्व जीव नात्र मुक्ति चाहते हैं अतः आप भी प्राणों की रक्षा मांगने से मुक्ति क्यों नहीं मांगती हो? इस का उत्तर निम्न श्लोक में देती है।

श्लोकः — विधेहि ते किङ्कीरणामनुष्ठेषयं तवाज्जया। यच्च्च्छुद्यानुसिद्धि वै मुच्यते सर्वतोभयातू। ॥ ५३ ॥
श्लोकार्थ — हम आपकी दासियां हैं, जो आज्ञा करनी हो वह करे, हम वैसे ही करेंगी आपकी आज्ञा के अनुसार जो श्रद्धा से वर्तमान करते हैं, वे सर्व प्रकार के भय से छूट जाते हैं।

व्याख्यार्थ — हम आपको आत्म निवेदन करते हैं, आपकी दासी बन चुकी हैं। इस लिए आपकी आज्ञा का पालन करना भारमें स्वर्धम हुआ है। जिससे आपकी दासियां को आपकी आज्ञा ही पालनी चाहिए। उसके पालने से क्या होगा? वह स्पष्ट कर बताती हैं कि जो आपकी आज्ञा का पालन श्रद्धा से करता है, वह सर्व प्रकार के भय से छूट जाता है। मुक्ति की प्राप्ति तो आपकी आज्ञा पालन करने से ही हो जाएगी। यदि यौं ही (आपकी आज्ञा के बिना) अब हम मुक्ति माँग लेंगे तो हमारे दास्य भाव तथा आत्म निवेदन हो तो, व्यर्थ हो जाएगी। मुक्ति प्राप्त करने पर, भक्ति च सा का जो अनुभव भी नहीं मिलेगा। अतः अब यह (पति रूप प्राण) दीजिए यह ही प्रार्थना है।

आभास — ततो यत्त कृत्वांततदात्मिति,

आभासार्थ — इस प्रकार नाग पलियों की प्रार्थना करने के अन्तर्गत जो, भगवान् ने किया उसका वर्णन, श्री शुकदेवजी इस निम्न श्लोक में करते हैं—

॥ आशुक उवाच ॥

श्लोक: — इतयं स नागपतनीभिर्यागवान् समभिध्यतु।
मूर्च्छतं भरसिस्संस विस्वसर्जांघ्रीकृत्यु:॥ ५४॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार नागपतनियों से स्तुति किए हुए भगवान् ने भगन शिर बाले तथा मूर्च्छत सर्व को अपने चरणों के प्रहार से दूर फेंक दिया॥ ५४॥

शुकदेव — एवमेवकेतृ सिद्धमापिततो मूर्च्छतमन:।
खिं भरसिस्संस वाहिक्षमाग्रीकृत्यु विस्वसम्भव:॥ ५४॥
व्याख्यार्थ — इस प्रकार जब नाग पतियों ने भगवान की, स्तुति की, तब भगवान ने मूर्ख को प्राप्त (अन्तःकरण में खेद वाले) दूः हुए शिर वाले (शिरों के टूटने से बाहिर भी खेद वाले) सर्प को, जहाँ उसकी शिरां थी, वहाँ पाठ प्रहार से फेंक दिया। आपने जल में विहार करते हुए ही उसके फेंकने की यह क्रीड़ा की || ५४ ||

आभास — ततो यजू जातं तदाह प्रतिलभ्येति।

आभासार्थ — इसी भांति सर्प को फेंकने से जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — प्रतिलभ्येन्द्रियप्राणः कालीयः शनकैहरिम्।
कृष्णात् समुच्चवसन्नै देव: कृष्णं प्राह कृताञ्जलि: || ५५ ||

श्लोकार्थ — जिसको इन्रियां और प्राण मिले हैं, वैसा कालीय, देव बन, धीरे धीरे कष्ट से स्वास लेता हुआ हाथ जोड़ भगवान की प्रार्थना करने लगा || ५५ ||

सुवेदिनी — प्रतिलभ्यान्द्रियप्राणः प्राणः येन, प्राणाप्रहणं बलाथं, भूमिः स्वार्थसम्पत्तिः इन्द्रियाणां प्राणान्तः पुनः सम्पर्कम्, अतः प्रतिलम्भः, कालीयः इति प्रसिद्धः सदुद्भितः, शनकैहरिस्त्री।
स्वतः जीवनाशा च, अतो जानविन्नारायणः कृष्णात् कषेत्र सम्पुच्चवसन्नै यथाशङ्क मेधवृं पृष्ठैः कृताञ्जलि: सतः || ५५ ||

व्याख्यार्थ — व्यासजी ने ‘मुखे स द्वी सम्पति: परिशोषां’ ब्रह्म सूत्र ३-२-१० में कहा है कि जो मृदुत हो जाता है उसमें आधी सम्पति होती है अतः यह सर्प मृदुत होने से प्राण और इन्रियां की शक्ति का आधा भाग खोके बैठा था, किन्तु भगवान के चरण स्पर्श कर फेंक देने से गई हुई इन्रियां और प्राणां की आधी शक्ति, पुनः उसके लोह बन कर आ गई, जिससे वह बोलने की सामर्थ्य वाला हुआ। नीः ती || वह नाम से कालीय है, उसको अव सदुद्ध आई है जिससे उसकी प्रसिद्ध हो गई, इसलिए श्लोक में इसका विशेषण ‘देव’ शब्द दिया है। सदुद्ध होने में, हाथ जोड़ हरिय (पाप भय आदि को हरण करने वाले) श्री कृष्ण को धीरे धीरे स्तुति करने लगा। धीरे धीरे का भाव है कि वह अब भगवान हरि हैं दुःख हरते वाले हैं, वह जान गया था, अतः में अब मरना नहीं उसको निश्चय हो गया था इसलिए स्तुति, प्रेम से धीरे धीरे निर्भय हो कर करने लगा। स्तुति के समय जब शब्द बोलता था तब उसके शरास्त्रों को कष्ट होता था तो भी स्तुति करने से रुका नहीं || ५५ ||
आभास — स्वापराध निवेदयति कृपार्थ,

आभासार्थ — अभ निम्न श्लोक में कालीय भगवान् के आगे अपना किया हुआ अपराध स्वीकार कर तदर्थ श्रम मांग कर कृपा की याचना करता है—

|| कालीय उवाच ||

श्लोक: — वयं खला: सहोत्स्त्या तामसा दीर्घमयवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसदुःग्रह: ॥ ५६ ॥

श्लोक — कालीय बोला — हे नाथ! हम जन्म से ही खल, तमोगुणी, बहुत क्रोधी है, लोगों का जो मिथ्या आग्रह हो जाता है, जिससे स्वभाव का बदलना कठिन होता है ॥ ५६ ॥

सुबोधिनी — वयं स्वभावत एव खला: पणेपदकारणो दुस्त्यजो, तदुपस्थ्यच सह, उपस्थितिशिष्ययं दोषों न ल्यानुनुकः; अत: शिष्य व्यर्थ, अनिवर्थदेशवत, सर्वत्रा मारणपक्ष उपादनमेव व्यर्थ स्थान, तथापि शिष्यवा कर्मन गुणों भविष्यतीस्त्याक्रमयां तामसा इति, तामसास्तु।

ज्ञानरहितः, अनुस्माने विद्यमाने हि शिखरमुपकाराय भवति, तामसानो तु नानुस्माने, किष्ठ प्रत्युत्पकार एव भवति यतो वयं दीर्घमयवः; अनेनाय ज्ञापितं मन-नारोणेण मदिरोऽयोऽपकरिष्ठति तत्स्थवेकथा: पद्धता, तसमायत्रीकार्यैं—दुःष्ट वयमिति ॥ ५६ ॥

व्याकरणार्थ — हम स्वभाव से ही अन्यों के लिए उपद्रवः करने वाले तथा दुःख स्वभाव वाले है यह दोष आग्रहतुकः नहीं है किन्तु सहजः है। अत: इसके लिए शिष्यः देनी व्यर्थ है। क्योंकि यह दोष मिटने का नहीं है। यदि सर्वश्री के लिए नाश कर दिया जाए तो उपनयोग करने व्यर्थ है। मारे नहीं, किन्तु शिष्या से कुछ तो गुण होगा, यों कहा जाय तो वह भी नहीं होगा, कारण कि हम तामस प्रकृति के जीव हैं। जिन में कुछ समझ हो, विचार कर सकें, उनके लिए शिष्या, उपकार कर सकती है। तामसों में विचार करने की कोई बुद्धि नहीं है, अत: उनको शिष्या देने से उपकार के स्थान पर उलटी शिष्या देने वाले को हानि होती है। क्योंकि हम बहुत क्रोधी हैं—कहने से यह बताया गया कि यदि हम को मारेंगे तो दूसरे मेरे सम्पन्नों आपको सेवकों का अपकारः करेंगे, अत: हम दुःख होते हैं, किसी को उपयोग से, सर्वथा दुःख नहीं छोड़ सकते हैं। ॥ ५६ ॥

1-दुःख। 2-पीछे आया हुआ। 3-स्वभाव से ही, देह से ही। 4-दण्ड। 5-हानि पहुंचाएँगे।
आभास — अस्माकमेवभूपते भवानेव हेतुरित्याह

आभासार्थ — हम ऐसे दुष्कर्म किये हुए, उसका कारण भी आप ही है इसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः — व्ययं सुष्मिदं विषं धातुगुणाविसर्जनम्।
नाना स्वभाववीर्यं जो योनिबीजाज्ञायकृति। ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ — हे धाता! गुणों से विविध प्रकार का यह विश्व आपने रचा है जिसके, स्वभाव, शक्ति, बल, योनि, बीज, आशय और आकृति ये सब पृथक पृथक हैं। ॥ ५७ ॥

सुवोधिनी — त्यया सुष्मितं समुद्रावजननानून न देष। ब्रह्मण शृश्मिद्वाष्टर्याय हातारिति, त्यमेव विधाता, नदु भवत्कर्म करवेतादतुशं ? तब्रह गुणानां विशेषं सर्वजयं यत्र, तत्वेश्च सर्वेष समयस्तिः इति भेदातु गणयति, नाना विधाया:
स्वभावदयो यथार्थाति, स्वभावः प्रकृतियमेव जीवनातः।

व्याख्यार्थ — यह विविध विश्व आपने बनाया है, तो भी, इसके विविध प्रकार के होने में, आपका देश नहीं है, कारण फिर, आपने सकल विश्व गुणों के द्वारा एक साथ में ही बनाया है, पृथक पृथक बना कर उसमें कुछ फ्रंट फार करते हो आपका देश माना जाय। अब आप का कोई देश नहीं हैं। जगत् का श्रीमान् जो ब्रह्म कहा जाता है वह भी आप ही हैं। गुणों के द्वारा सृजन करने से गुणों का त्रिविधमण शब्द में विद्यमान है जिससे उनमें स्वभाविक भेद रहता है। जैसे कि जीव में, जो प्रकृति का धर्म रहता है, उसके स्वभाव कहते हैं। इसी प्रकार बीज, इन्द्रियों का धर्म है और बल प्राणों का धर्म है योनि (कारण) जीवों का तर्क-उत्पत्ति स्थान माता का धर्म है, बीज पिता का धर्म है आशय (कर्म से उपजी हुई वासना रूप संस्कार) अन्तः करण का धर्म है। ये सब ही प्रत्येक के और समुदायों के भिन्न २ अनेक होते हैं। अतः इनमें नाना प्रकार और विविधत्व प्रदेखने में आता है। ॥ ५७ ॥

— बनानेवाला।
आभास — अस्पष्ट तु सर्वभूत प्रस्तुतिमयाय वचनमिति,

आभासार्थ — हम सर्वां का तो, ऊपर कहे हुए, स्वभाव आदि सब तमो गुण चाले हैं जिसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोकः — चयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युस्मन्यवः। कथं त्यजामस्तवम्यायं दुस्यजां मोहितः स्वयम्।।५८।।

श्लोकार्थः — हे भगवन् ! उस (सृष्टि) में, हम तो जन्म ही से, बड़े क्रोधी सर्प है, स्वयं मोह को प्राप्त हुए हैं, वह आपकी माया जो छोड़ी नहीं जा सकती है उसको कैसे छोड़ें।।५८।।

सुषुभोधिनी — चतुर्वेदी भौतिकायादित्योपनिमपि सत्यार्थं चं, तत्र सृष्टि, भगवानसत्सम्योपदेव ज्ञात्यानं, सर्वाः जात्युस्मन्यवः, ज्ञात्युस्मन्यवः। त्रिदेशम् गुणाः गुणाश्रयं सार्वत्कार्यायाः वा मायापरमायो भवति, सर्वाः क्रोधाश्च च न तत् संभवति, अतः कथं त्यजामस्तवम्यायं दुस्यजां मोहितः स्वयम्।।

त्यजाम् — ननु दैवपरिवर्तन कथं न त्यम्। तत्राः दुस्यजां मोहितात्यम्, त्रिदेशा मायाप्रकृतितेत्रायायं: सर्वाः

व्याख्यार्थः — श्लोक में आए हुए ‘च’ शब्द का अर्थ १—'तो' है 'और' २—भौतिक अयो आति का स्थान करना है। सृष्टि में हम सर्प, जाति से, बहुत क्रोधी हैं जिसको आप जानते हैं हैं, क्योंकि आप भगवान् हैं। हम क्रोधी हैं जिससे न केवल, जाति से दुःख हैं, किंतु क्रोध होने से स्वभाव से भी दुःख हैं। आपकी माया का त्याग हम कैसे करे ? माया का त्याग तो गुणातीत अवस्था में, जब गुणों का प्रभाव मिट जावे उस अवस्था में, जब गुणों का प्रभाव मिट जावे उस अवस्था में, जब रोगों का गुण और तमो गुण दोनों नष्ट हो जावे, केवल अत्यंत अवस्था में सती गुण का प्रभाव रहे, उस अवस्था में हो सकता है, अन्यथा नहीं। हम तो क्रोध के अधीन हैं, वे तो छोड़ें में सर्वभूत असम्भव हैं। आपकी माया दुस्यजां हैं। यदि कहो कि मेरी माया छोड़नी कठीण है तो उसको छोड़ने के लिए भगवान् की प्रार्थना छोड़ लें हैं। वह प्रयत्न भी हम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपने आप मोह में पड़े हुए हैं, तथा हमारी ‘आत्मा’ ही मोहित हैं। जिससे, हमारा क्षमाश्रय किस कार्य के करने में है, इसका परिणामेऽ नहीं है, अतः त्याग के लिए भी प्रयत्न नहीं करते हैं।।५८।।

—अपने आप। २—छोड़ें में कठिन। ३—समझ।
आभास – तर्कवशयं भवान् दोषोपत्थिसम्भवान् मार्गीयः एव भवन् इति चेत्
तन्नः भवान् हि कारणमिति,

आभासार्थ – यदि यो मे, तो आप लोगों से दोषों की (जीव मात्र के दुखों की) उत्पत्ति होगी?
इस लिए आपको नाश कर देना ही अच्छा है इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहता है–

श्लोकः – भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीशः.
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्द विधेहि न:।। ५९ ।।

श्लोकार्थ – इस प्रकार (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) जिसमें भी कारण
आप सर्वज्ञ जगदीश हैं। फिर भी, हम पर अनुग्रह वा निग्रह जो आप योग्य समझते
है वह करें।। ५९ ।।

सुबोधिनी – अस्माकमेवभावे भवानेव कारणं
“बुद्धिज्ञानसम्मोह” इत्यदिवित्यं न्यायं प्रमाणमिति हिशाबं
आह, एवं सति तत्रानुग्रहं निग्रहं वा यदुविवं तत्त्रोत्तमं
विधेहि, अपराधः कृत इति निग्रहं। कर्तव्यस्वत्या कारति
इत्युतः: कर्तव्यः, नन्द विरोधे शास्तार्थः को वा भवेत्?

व्याख्याभः – वद्येन दण्डः कृतः: स्थातुः स्वारुपः: कर्तव्यं इति तृस्वतं,
अथ भवानेव सर्वसङ्गस्वतदा निग्रहस्य कृत्वाचारानुग्रहः
कर्तव्यः; अथ निग्रहोऽनुग्रहं कृत्वाचारस्विच्छ कृत्वाचारुत्तमं
सर्वज्ञानाद् भवानेव जानाति, अतः यत् मन्यसे तद्द विधेहि,
शक्तिप्राप्तसु तत् नासोभाय जगदीशः इति।। ५९ ।।

व्याख्यार्थ – हम (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) वैसे जो हुए हैं उसका कारण भी आप
ही है । मैं उसका कारण हूँ इसमें प्रमाण क्या है? उसमें आपकी कहीं हुई गीता का वाक्य
’बुद्धिज्ञानसम्मोह’ प्रमाण है। वैसे होने पर भी, अब, आप चाहे ‘अनुग्रह’ करो वा ‘निग्रह’ करो।
जैसे भी कस्ता आपको योग्य ध्यान में आवे, वह करो। मैंने अपराध किया है यदि यो सत्य समझो
तो निग्रहं करो, यदि वह अपराध आपने मुझे से करया है तो अनुग्रहं करो।

जो इस दोष के कारण से, दण्ड करना हो, तो भी आपको तो, अनुग्रह ही कस्ता उचित है। कारण
कि जब आप ही सर्व रूप हो, तब आप को निग्रह से अनुग्रह करना चाहिए। निग्रह वा अनुग्रह किया
जाए इन को आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो, अन्य कोई नहीं जानता है, अतः आप जो कुछ कस्ता
उचित समझ है वह कीजिए, आप जगदीश हैं, अतः शक्ति का अभाव तो है ही नहीं, ज्ञाओं चाहे, सो
कर सकते हैं।। ५९ ।।
आभास — एवं श्रुत्या यत् कृतं भगवता तदाहृतायाकर्षणः

आभासार्थ — इस प्रकार कालीय ने जो कहा, वह सुनकर, भगवान् ने जो कुछ किया, उसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं—

॥ श्रीशुकु उचाच ॥

श्लोक: — इत्याकर्षण वचः प्राह भगवानं कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेरं त्वं यथा सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वजातिपत्यदाराधः गोर्णिल्लिङ्गस्तानं नदी ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे — कि कार्य के लिए मनुष्याकृति धारण किए हुए भगवान् ने कालीय के ये वचन सुन कर, कहा कि — हे सर्प ! तुम यहाँ पर मत रहो, श्रीप्रयोग अपने साथ अपने परिवार को लेकर समुद्र को चले जाओ, इस (श्रीयमुनाजी) का सेवन गौ और मनुष्य करें। ॥ ६० ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने कालीय के वचन ही सुने उनका अर्थ तो पहले ही जानते थे। क्योंकि इस (सर्प) का पूर्व भाव अर्थात क्रोध आदि दोष वाला स्वाभाव आपने ही किया है तथा सर्प ने स्वृति भी की है अतः इस पर अनुग्रह करना चाहिए, तो भी, समय के अनुसार, अन्य प्रकार से अनुग्रह करना है, कारण कि, आपने जब कार्य करने के लिए, अपना ईश्वर भाव छिपाकर, अन्यथा भाव (मनुष्य भाव) किया है, तो इस भक्ति सर्प पर, अन्य प्रकार से अनुग्रह करे तो क्या है ? अन्य प्रकार से अनुग्रह इसलिए नहीं करते हैं, कि वह दुःख देता है, किन्तु यह भक्ति है अतः मैं आज्ञा मानेगा। भगवान् तीन आज्ञा करते हैं कि हे सर्प ! यहाँ से दूसरे स्थान को जाने में समर्थ यहाँ तुम न रहो श्रीप्रयोग समुद्र को जाओ।

किस प्रकार जाओ, वह प्रकार बताते हैं—अपनी ज्ञाति, पुत्र और स्विन्य आदि को अपने साथ लेकर
आभास — “सर्पजात्युरुमन्यव” इतिवाक्यातू कदाचिद्र वैश्णवान् पीड़ित्यप्रति भगवानाज्ञानतरमाह ये एततू संस्मरेदिति,

आभासार्थ — ‘सर्पजात्युरुमन्यव:’ सर्प को जाति बहुत क्रोधी होती है। इस वाक्य के अनुसार कदाचिद्र (कभी) वैश्णवों को दुःख देगा, अतः भगवान् अन्य आज्ञा करते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है—

श्लोक: — य एततं संस्मरेन्मयवस्तुध्यं मदनुशासनम्।
कीर्तियुपन्ययोऽसन्ध्यो युष्मद्रयमानुवात्। ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ — जो मदनुष्य, इसे मेरी आज्ञा को, जो मैंने तुझसे कही है, उनका दोनों सन्ध्या के समय स्मरण करेगा या कीर्तन करेगा उसको तुम्हारा भय नहीं होगा। ॥ ६४ ॥

व्याख्यार्थ — सर्प वैश्णवों को तो दंगेगा (काटेगा) ही नहीं किन्तु जो अन्य (अवैश्णव) भी यदि आपकी दी हुई, इस आज्ञा का अच्छी तरह स्मरण करेगा अथवा दोनों सन्ध्याओं में (प्रात: और सारं काल में) इसका ध्यान पूर्वक स्मरण तथा पाठ करेगा, वह आपसे कभी भी भयभीत नहीं होवेगा। यह ‘आपनुष्ठा’ क्रिया विधि लिंड्लकार होने से पूर्ण आज्ञा अर्थ में है जिसका तत्त्व है कि इस प्रकार करने वाले को सर्प कुछ नहीं करेगा वैसी मेरी आज्ञा सर्प को है। ॥ ६४ ॥

आभास — ननु सर्पभक्ष्णानिमित्तपपे विद्यमाने कथं न सर्पं भक्षयेत्? तत्राह, असिनु न्तालेति,
आभासार्थ - किसी प्राणी ने पूर्ण जन्म में वैसा पाप किया है, जिससे उसको सर्प से दर्शित होना हो, तो उसको सर्प क्यों न भक्षण कर। इस शंका के निवारण के लिए निम्नलिखित कहते हैं-

श्लोकः - अमलाम मना स्मरणजले।

उपोष्य मा स्मरणनाथ सर्वपापः प्रमुखते ॥ ६२ ॥

श्लोकार्थ - मेरे इस क्रीड़ा स्थान में स्नान कर, जो मनुष्य जलों से देवादिकों का तर्पण करेंगा तथा उपवास कर मेरे स्मरण करता हुआ, पूजन करेंगा वह सब पापों से छूट जाएगा ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ - यह कालीय देह, जिसमें मेरे क्रीड़ा की है, वह मेरे क्रीड़ा करने से, अन्य स्थानों से विशेष है, विशेषता बताते हुए कहते हैं कि, इसमें केवल स्नान करने से ही, उसके देह से सम्बन्ध वाले सब पाप नाश हो जाते हैं। उपवास करने से प्राण से सम्बन्ध रखने वाले पाप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार मेरे स्मरण से, अन्त:करण के पाप तथा अर्धन करने से, इंद्रियों के पाप जाते हैं।

पाप करने के समय, देश, काल और कर्म के साक्षी तथा अभिमानी देव पिता, वंश के पिता और ऋषि उन पापों को देखते हैं, जिससे वे क्रोध युक्त हो जाते हैं कारण कि, पापी पाप करने से वेद की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं, जिसको वे सहन नहीं कर सकते हैं। अतः उन सब को प्रसन्न करने के लिए, इस कालीय देह के जल से उनका तर्पण करे, जिससे, वे प्रसन्न हो कर, आशीर्वाद देंगे और क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि मेरे क्रीड़ा करने से एवं चरित्रों से वह जल अमृत के समान हो गया है उसको ही से वे तुम्हें जाएँगे (तृषि से उनका) क्रोध शान्त हो जाएगा और हद्द प्रसन्न हैं। जिससे आशीर्वाद ही देंगे।

नूतन श्लोक में 'अमलाम' छा है किन्तु आचार्य श्री इसका दूसरा पाठ 'योमस्मन' अन्य पुस्तकों में है, उसको भी विकल्प से स्वीकार करते हैं।
जिस दिन उपवास करे, उसी दिन स्नान तथा तर्पण दोनों करे, तथा दूसरे दिन अर्चन स्मरणादि करे, उस दिन भी स्नान तर्पण करे। अथवा यह स्नान पूर्वक है क्योंकि काम्य है कामना से (सर्प के भय निवृत्ति के लिए), किया जाता है। ॥ ६२ ॥

आभास — नवन्यत्र गते गरुड़ो भक्षयिन्यतीति ते चेत् तत्राह दीर्गमिति,

आभासार्थ — सर्प के मन में यह शंका (वा भय) उत्पन्न होते कि मैं यदि दूसरे स्थान पर आऊँगा तो मेरा गरुड़ भक्षण करेगा — इस भय के निवारणार्थ निम्न श्लोक में कहते हैं —

श्लोक: —ढीपं रमणं हिता हदमेतदुपाधित:।
यज्ञवादू स सुपर्णस्तवं नादायनमत्यपाललाभिषतः ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ — जिस गरुड़ के भय से, रमण ढीप को छोड़ कर (तुमने) इस कालीय देह का आश्रय लिया है, वह गरुड़ अब तेरा भक्षण नहीं करेगा, कारण कि (अब) तूँ मेरे चरणों के चिह्न से चिह्नित हो गया है। ॥ ६३ ॥

सुबोधिनी — सर्पः के स पूर्व स्थितः, ततो गरुड़ः— नादायनमत्य, यज्ञवादांदुपाधित: स सुपर्णस्तव française: विश्वासार्थ हेत्वतस्माह मत्यपाललाभिषतमिति ॥ ६३ ॥

व्याख्यार्थ — यह कालीय सर्प पहले रमण ढीप में रहता था, गरुड़ के भय से यहाँ आकर रहा है। भगवान् आज्ञा करते हैं कि, अब तूँ उसका भय मत कर, वह दुखे मारेगा नहीं, इस आज्ञा से ही निर्णय हो जाता है, तो भी, सर्प को ढूँढ़ निश्चय करने के लिए कहते हैं कि, देख तेरे पीठ पर मेरे चरण चिन्ह है, जिनकी देख, वह तेरा भक्षण नहीं करेगा। ॥ ६३ ॥

आभास — अवमुक्तो भगवता स भयानू मुक्तो जात:,

आभासार्थ — भगवान् ने जब इस प्रकार कहा, तब सर्प का डर भित्त गया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं —

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक: —मुक्तो भगवता राजनू कृष्णोनादुतकर्मणा।
तं पूजयामास मुदा नागपत्यश्र सादसम्। ॥ ६४ ॥

१. मियाने के लिए।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रेम' अवान्त प्रकरण - अध्याय २

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी ने कहा है राजन् ! अदृश्य कर्म करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने, इस प्रकार कह कर, जब सर्प को निर्धार नियम, तब सर्प और उसकी पलियों ने आदर पूर्वक प्रसन्नता से भगवान् की पूजा की || ६४ ||

श्री सुभोधिनी - भगवान् नूतनकम्बर निग्रह कृतवन्नागँ समाधान। अन्वयायस्य समाधान कथा वा कविपी नातित कदिचिदं वा गहड़ि भस्मियत, अनेन यथाकथाखिंचिद भगवतसम्बन्धः सर्वथा मोचक इत्यंक, राजमीतिसम्बन्धं सर्पभयाभाबार्थः

ततो भगवन् पुजयामास, दिवयनि पुष्याणि वलधन्दनादीति न जलन विलक्षिति भवनित, गहड़विन्य निर्वर्तितमित महान् प्रमोदज्जातं इति मुद्देत्तुकं, नागपत्थेश्वर सादरं पूजयामासुः। यमणके तु न प्रेषितः पुनः पूर्वदेशसम्भवात् || ६४ ||

व्याख्यार्थ - भगवान् अदृश्य कर्म रहे हैं। अतः निग्रह के साथ सर्प पर अनुप्याय भी किया है। भगवान् ने इस पर यह अनुप्याय किया है जो सर्प किसी भी स्थान पर जाने से डलता था, वह डर उसका निकल गया अब वह कहीं भी जा सकता है। कदाचित् गहड़ भक्षण करे, तो उस भक्षण का भय भी नहीं रहे। किसी प्रकार भी, भगवान् से सम्बन्ध होने पर, प्राणी भय से 'छूट' जाता है, क्योंकि, भगवान् का सम्बन्ध सर्प प्रकार के भय से 'छुड़ाने' वाला है।

हे राजन्! ये सम्बोधन देकर, परिशिष्ट को भी, यह संकेत किया कि, आपका भगवान् से सम्बन्ध हुआ हैं। अतः आप भी सर्प से डोर मत, दिवय पुष्य वस्त्र चन्दन आदि से सर्प तथा उसकी किंसियों ने प्रसन्नता से आदर से भगवान् का पूजन किया, गहड़ का भय निश्चय न किया इसलिए आनन्दमण हो गए थे। जब में पुष्य, वस्त्र, चन्दन से पूजन करते से ये तो भीज (गीतक हो) जाएंगे और धूल जाएंगे। ऐसी किसी की शक्ति होरे उसको मिलने के लिए इसका विशेषण 'दिवय' दिया है। अथात् ये तीनों पदार्थ अत्यंतिकर्थे अतः ये न भीजे और न धूल गई। रमणक द्वार में न भेजकर अन्य (दूसरे) स्थान पर भेजने का आशय यह है कि यदि रमणक में भेजते तो सर्प में पुनः वे पूर्व के दोष आ जाते, अतः नहीं भेजा। || ६५ ||

आधारसार्थ - पुजासाधनानायं दिवयंति,

आधारार्थ - निम्न दो श्लोकों में जिस सामग्री (सावन वस्तुओं) से सर्प ने भगवान् को पूजन से प्रसन्न कर समुद्र के द्वीप में गया उसका वर्णन करते हैं -

श्लोक: - दिवयाम्बरस्त्राध्यायपक्ष: पराध्येष्वरी प्रुषणोः।
     दिवयनं-धानुलेपैश्च महत्योत्तप्तमालया || ६५ ||

-अध्याय २
पूजयित्वा जगानाथ प्रसाद गरुडवजनम्
तत: प्रीतोभ्युजाति परिक्रमायाभिवन्द्य च
सकलत्रस्मुहत्पुत्रों द्वियमथेर्जगाम ह || ६६ ||

प्रलोकार्थः — दिव्य (अलौकिक) वस्त्र, माला, रत्न, अमूल्य आभारण, दिव्य चन्दन का लेपन और बड़ी कमलों की माला से गरुडवजन, जगनाथ भगवान् की पूजा की, जिससे, उनको प्रसन कर और उनकी आज्ञा ले तथा परिक्रमा कर, एवं प्रणाम कर, खी, पुत्र और बालकों को साथ लेकर समुद्र के द्वीप में गया || ६६ ||

सुवोधिनी — दिव्यान्यायारणी सजो माला मणिशक्ति
सप्तशङ्करलानि पराश्चाल्यान्त्यानि भूपणानि मुकुटकक
कंपूर्दीनि, दिव्यो गन्धो येदा, एतापुरा अनुपायेना
महती चुल्लानि माला, एकमलद्वारान्त्यानि कृत्वान् || ६५ || तत: पूजयित्वा प्रसादाध्येक्षीप्रेम
जगामातसमवन्ने, ननु पृविद्वि, कथं पुजां कृत्वान्? तताह
जगानाथंति, स हि सर्वस्थिये प्रतापि रक्षक: स एवंति
युक्तमेव तदाधारणा, तत: प्राध्यतानु प्रस्तो प्रभवति, तत

व्याख्यार्थः — अलौकिक वस्त्र, माला और सर्प के शिर के रंग (मणि) और अमूल्य, मुकुट, कड़े तथा बाजूबद्व आदि आभूषण, दिव्य गन्ध बाले लेपन जिसमें कुंसर, कस्तूरी, चन्दन आराग्जा चार समान डाले गए हैं तथा बड़ी कमलों की माला आदि से (इस प्रकार चार तरह से ) अलंकृत कर अन्तर भगवान् का पूजन किया। जिसने इतनी पीढ़ी दो उसका पूजन कैसे किया? इस रंगो को मिटाने के लिए कहते हैं कि वह जगत् का नाम है और रक्षक भी वही है, अत: उसने जो आज्ञा की है, वह योग ही है। पश्चात् प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभो! प्रसन हो (कृपा करें) यों कहने का कारण कहते हैं कि आप की ध्वजा में गरुड बिराज हा है, आप प्रसन होगे तो गरुड नहीं खाएगा यदि गरुड की यह पत्ता तो कि भगवान् इस (सर्प) पर प्रसन नहीं है, तो वह खा जाएगा। अत: आप कृपा कर प्रसन हो जाओ।

पहले तो सर्प को, भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था, जिससे भगवान् का अपराध किया, जब भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब भगवान् का पूजन कर उनको प्रार्थना करते लगा, कि आप प्रसन हो जाओ, इस प्रकार पूजन तथा प्रार्थना करते से, भगवान् प्रसन हुए, जिससे सर्प को भी आनंद हुआ पश्चात् भगवान् ने भी जाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाने के अन्तर भगवान् की परिक्रमा कर, उनका नमस्कार करने लगा, फिर जाने की तैयारी की, अर्थात्, अपने पुत्र खी आदि बालकों को सहायता के लिए साथ में लिया, उनके लेकर समुद्र के द्वीप में ऐसे स्थान पर गया जहाँ कोई न
आ सके, मूल श्लोक में ह' आश्रय कहने का भाव यह है, कि जिसने भगवान् का अपराध किया, उस पर आपने अनुग्रह किया है।

आभास — तस्मान्निगत एव तदेव भगवतकृपया सा यमुना मित्रोदीकाभवत,

आभासार्थ — जब वह (सर्ष) निकल गया, उस समय ही भगवान् की कृपा से, श्री यमुनाजी का जल, मीठा तथा विश रहित हो गया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं —

श्लोक: — तदेव सामृत्तज्जला यमुना निर्विषाभवत्।
अनुग्रहाद्वारंबः क्रीडामानुषरूपिणः।

श्लोकार्थ — क्रीड़ा के लिए मनुष्याकृति धारण करने वाले भगवान् के अनुग्रह से, उसी समय वह श्री यमुनाजी का जल विश रहित तथा अमृत के समान हो गया।

सुबोधिनी — निरंजन च, न केवलमानुषकतम मित्रमानवरं किन्तु मरणविनिर्विषाभवत, सहजांश्रय यमुनायाः यो दोषो विषयादि स्थित: सोविपुरुष: तत्त्वेन भगवत: निरंजन: क्रीडायाः करिष्टायाः तत्त्वामृतः, ततानिदंतः

इति श्रीमद्भागवतमुन्नीयाः श्रीमद्भागवतमभविनिर्विषाभितायाः

व्याख्यार्थ — श्री यमुनाजी का जल केवल मीठा ही नहीं हो गया, किंतु मुक्ति दाता भी बन गया।

श्री यमुनाजी में कालिये के कारण, जो सहज विश आदि दोष उत्पन्न हुआ था, वह भी निवृत्त हो गया।

कारण कि, भगवान् उस पर (यमुनाजी पर) भी अनुग्रह किया है। केवल कालिये के चले जाने से वैसा जल नहीं हुआ, किन्तु, भगवान् ने क्रीडा कराने के लिए जो अनुग्रह किया, जिससे वैसा जल हो गया।

इस प्रकार यमुनाजी की निर्दोष करने का कारण यह है, कि भगवान् को इसमें क्रीडा करती है।

इनको यह (क्रीडा करने का) ज्ञान तो था क्योंकि भगवान् है। यमुनाजी में किस लिए क्रीडा करती है? इसके उत्तर में कहते हैं, कि 'क्रीडा मानुष रूपिण।' क्रीडा के लिए ही मनुष्य रूप धारण किया है।

अत: श्री यमुनाजी में अवश्य ही क्रीडा करती है इसलिए पहले ही, 'प्रसाद' (अनुग्रह-कृपा) किया है इससे श्री यमुनाजी के निरोध होने से बाधक सर्व दोषों की निवृत्ति लटाई।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमक्तम पूर्वार्थ के १३ अध्याय की श्रीमद्भागवतचर्चरणकृत
श्री सुबोधिनी "संस्कृत ठीक" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का दीर्घ निर्धार
तेशबाँ अध्याय (हिंदी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।
इस अध्याय में वर्णित लीला का भाव शिरोमणि सुरदासजी ने निम्न पदों में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

राग: बिलावल

उस लियो हरि को लपटाई। गर्व वचन कहि कहि मुख भावन मोको नहीं जानत अहिराई।
लियो लपेंट चरण ते सिखलो अति यह मोको करी ठिठाई।
चांपि पूंछ लुकान अपनी युवतिन को नहीं सकत दिखाई।
प्रभु अवर्जिमय सब्ज जानत अवगय्रें यह सचुचि पिठाई।
सुरदास प्रभु तन विस्तारे काली विचल भयो तब जाई।

राग: कान्हरो

जब ही प्रयाम तन अति विस्तारयो।
चटपटात दूलं अंग जान्यो, शरण शरण अहिराज पुकारयो।
यह वाणि सुनत ही कत्वानिधि, तुत गए सकुचाई।
यही वचन सुन दुपद सुता के दीनो मोर जदाई।
यही वचन गजराज पुकारयो गर्द ह्याग तहां धाए।
यही वचन सुन लक्षाग्रह में पंडव जरत बचाए।
यह वाणि प्रभु सह न सकत हैं ऐसे पस्र कुपाल।
सुरदास प्रभु अंग सकौत्यो व्याकुल जान्यो ब्याल।

बहुत कृपा यह करी गुस्साई।
इतनी कृपा करी नहीं काहू जिनते लिये रखि शाणाई।
कृपा करी प्रहलाद भक्त को दुपद सुता पति रखी।
ग्रह मुखिह गजराज बुड़ह्ये, वेद पुन म भाख।
जो कुछ कृपा करी काली से सो काहू नहीं कीनो।
कोहि ब्रह्माण्ड अंग प्रति रेमनि ते पग फनि प्रति दीनो।
प्रहरी फरि आंग आंग गर्व करी यह भरि अधिक संभाखो।
पूरन कृपा करी सुरज प्रभु फन प्रति पंगु धरियो।

सुनहु कृपा निधि जिंदी कृपा तुम या काली को कीनी।
हती बढ़ह्र दबहुँ, कैसो नहीं काहू कों दोनी।
जिन पद कमल सुकृत जल परस्य अजहुँ धरि फिर सिर शीश।
ते पद प्रगाट धोरे फन पन प्रति धन्य कृपा जगदीश।
एक अंड को भार बहुत हैं गर्व धरि जिय शोष।
यह भर अधिक सह्यो अपने सिर आमित अंड पर घेर॥
सुर नर अपमुर कोट पशु पक्षि सब सेवक प्रभु तेरे।
सूर श्याम अपराध क्षमहु अनि या अपने जन करो।
श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
श्रीमद्भागवतमहापुराणम् विचित सुबोधिनी दीक्षा के हिन्दी अनुवाद सहित
दशमः स्कन्धः (पूर्वार्थः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'तृतीयोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १४वां अध्याय
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १७वां अध्याय

कारिका - चतुर्दशे भगवतो दर्शनानिवृत्तो वृजः।
अनेकों संस्कृतिक: पश्चात् प्रासंगिकमिहोच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ - चौहदवें अध्याय में भगवान् के दर्शन से आनन्द मनन वृजवासियों का, अग्नि से संस्करणं किया है तथा प्रसंगः वाली कथा भी कही है ॥ १ ॥

२ - क्वचयः
व्याख्यार्थ - इस अध्याय में 1-अग्नि से जोवासियों की रक्षा, 2-कालीय की कथा, 3-गरुड़ को सौभारि ऋषि ने शाप देकर यमुनाजी से निकाल दिया है ये दो प्रासंगिक कथाएँ भी हैं ॥ 1 ॥

कारिका – इन्द्रियप्राणायोरोद्धो निवार्यस्तु सहैव हि ।
अत: कालीयकथा दाहभाारो निरूप्यते ॥ 2 ॥

कारिकार्थ - इस अध्याय में इन्द्रिय और प्राण के दोषों को साथ में मिटाते हैं इसलिए कालीय की कथा के साथ दाह के अभाव का निरूपण किया है ॥ 2 ॥

व्याख्यार्थ - कालीय इन्द्रिय रूप है। उसके (कालीय के) भय को मिटाने से, इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। अत: कालीय को, यहाँ से बाहर भेज दिया है। इसी प्रकार प्राण के दोष अग्नि को, (शुधा को) निवृत्त करने के लिए अग्नि के भय को मिटाया गया है। अत: भगवान् ने दाहभाारि का पान किया है।

इन्द्रिय तथा प्राण का पस्पर इसी प्रकार सम्बन्ध मिला जुला हुआ है, कि एक का दोष निवृत्त भी हो जाए तो दूसरे का दोष उसका (मिटे हुए का) कार्य कर देता है अतः दोनों के दोष साथ में मिटाए गए हैं।

गरुड़, प्राण के दोष (शुधा) के कारण, यमुनाजी में मत्स्यों को खाता था, इसलिए सौभारि ऋषि ने उसको शाप दिया, जिससे वह यमुनाजी छोड़ कर चला गया। इस कथा से, प्रत्येक को यह शिक्षा लेनी है, कि इस दोष को मिटाना आवश्यक है। यह ज्ञान करने के लिए यह प्रासंगिक कथा यहाँ कही गई है।

जिम्बा इन्द्रिय का धर्म, रूचि है, भोजन जब रूचि से किया जाता है, तो प्राणों के धर्म, बल की वृद्धि होती है। इस प्रकार इन्द्रिय और प्राण का पस्पर सम्बन्ध है। जिससे दोनों के दोषों की साथ निवृत्ति करना आवश्यक है।

कारिका – प्रासंगिककथा त्वत्र हिरेशुतकर्मताम।
वक्तूं युक्ता सर्वदोषा नायन्याय यात्नि हृति च ॥ 3 ॥
कारिकार्थ – यहाँ हरि के अद्भुत कर्म को कहने के लिए प्रासंगिक कथा कहनी योग्य है, यदि न कही जाती, तो सब के दोष निश्चय से मिलते नहीं। ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय यमुनाजी के जिस देह में आकर रहा था, वह उसके लिए निर्भय स्थान था, क्योंकि कालीय, जिस गरुड़ से डरकर, रमण के भाग था, वह (गरुड) सौभारि ऋषि के शाप से, यहाँ आ नहीं सकता था। सौभारि ऋषि ने मत्स्यों के भय मिटाने के लिए उनके काल, गरुड़ को शाप देकर यहाँ से निकाल दिया, किन्तु वहाँ पुनः मत्स्यों का अन्य काल, कालीय आकर रहा, जिससे जाना जाता है कि भगवान् अद्भुत कर्म है, जिनके आगे, जीव की कृति कुछ नहीं कर सकती है।

भगवान् ने उस स्थान पर क्रीड़ा कर, उसको, सबके लिए शाप रहित (मत्स्य आदि सर्व प्राणी मात्र के लिए) निर्भय स्थान बना दिया, सौभारि ऋषि के शाप से, वह (स्थान) पूरा निर्भय न हो सका था, क्योंकि, वहाँ कालीय आकर रह गया, जिसका कारण सौभारि का शाप था, भगवान् ने उसको निकाल दिया। सौभारि ने भक्त गरुड़ को शाप देकर अपशाध किया था।

भगवान् ने इस लीला से सब के दोष मिटाए, जैसे कि प्राणियों को, प्राण जाने का भय था वह मिट गया, सौभारि का अपशाध नष्ट हुआ, और श्री यमुनाजी निर्विष्ट हो अमृत जल बाली हुई। तथा भगवान् के क्रीड़ा की स्थली बनने के योग्य हुई। अतः इसको बताने के लिए ही यहाँ यह प्रासंगिक कथा कही गई है। ॥ ३ ॥

आधारस् – प्रथमं प्रासंगिकं पृष्ठलिं नागालयमिति

आधारसार्थ – इस अध्याय में प्राम्ब से राजा प्रासंगिकः कथा पूछता है।

॥ राजोवाच ॥

श्लोकः – नागालयं रमणकं कस्मात् तत्याज्य कालियः।

कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनाकेनासमाः। ॥ १ ॥

श्लोकार्थ – राजा परीक्षित ने कहा कि – कालीय ने अपना (नागों का) निवास स्थान रमणीक द्वीप क्यों छोड़ दिया? इस अंकले नाग ने गरुड़ का क्या अपशाध किया था। ॥ १ ॥

1. प्रसंग से होने वाली।
श्रीमद्भगवतं - (सुभोधिनी) दशम स्कन्धः - चतुर्दश अध्यायः

सुभोधिनी - ‘ढोंग सम्रणकह महले’ ‘तदु भगवानोऽधि
तस्य परिमाणे हेतुवक्त्यः, नापि तत् स्थानं गहन्त्यति
शाङ्किनौं, यत: सहारं नागामावेश, तदात् नागालयानिनितं,
कव्यात्मेनेतरितं, यद्यपि भवं युक्तुक्तं तद्व भवं
साधारण वाकसाधारणं? साधारण चेत्त कथमचरणं त्वक्षानितेन
त्वक्षानितिः भवति विशेषज्ञाः, विशेषभयं चेतुं तत्
हेतु वृद्धिः कृतमिति, तेनेवेकेन सुपर्णिः किं
वास्मधुंसं कृत्तम्? सुपर्णलादकलितकर्मम्, एको बा
कथमपयधी॥ १ ॥

व्याख्यार्थः - राजा पूछता है कि, यह जो भगवान् ने कहा है कि ‘सम्रणकह ढोंग कर कालीय
यहाँ आकर रहा है’ तो बताइए कि उसका क्या कारण है? वह ढोंग तो नापि के रामे का सहारं
स्थान है, गरुडः का तो नहीं है। तो भी इसने उसको क्यों ढोंगः? यदि भवं से ढोंगः है तो भव
वह साधारण भव था, या असाधारण? अर्थात् सर्व सर्पं के लिए भव उत्पत्त हुआ था वा इस अकेले
को भव हुआ था इसलिए यह आकेला ढोंगः आया, तो बताइए, कि इस एक ने ही गरुडः का क्या
अपरिधि किया था? जिससे इसको भव हुआ और भागना पडः। यहाँ गरुडः को ‘सुपर्णः’ इसलिए कहा
कि वह (गरुडः) जो कुछ कर्म करता है उसमें उसको परिश्रम नहीं होता है॥ १ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः - उपर्यायः: सर्पजनेर्मासि मासीह यो बलि:।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्रायो निरूपितः।॥ २ ॥

श्लोकार्थः - श्रीशुकदेवजी ने कहा कि - भेत करने वाले सर्प जनों ने, पहले महहीने
में गरुडः के निमंत्र वृक्ष के मूल में बलि रख आने का उपाय किया था।॥ २ ॥

सुभोधिनी - तदोपायः उपायः, उपायस्तैत्युपायः.
उपायः: सम्पर्यं वैशाल उपायः उपायसम्पर्यका इत्यथः। ते
सर्वं एव सर्पना: साधारणपूर्व:। सर्पाणि च जना: सेवकः
अत्लादिवासिनस्ते:। सर्वेऽन्ति सर्पेऽमासि मासि बलि:
क्रुद्: य दृश्य प्रसिद्धः। एवं श्राव्याविधा:। गरुडः सर्वना
सर्पाणि भक्ष्यति सर्वदा मारणि च कालश: वृक्षेऽभु
मातुरैः मुनुरैः। ततो वासुकिप्रमुखः गरुडः भीता ब्रह्माः
शरण गता:.. ततो ब्रह्मा गरुडः सम्माहुः सर्पः कुलम् दण्डः
बलि कर्यावितान। अमावायाः। वृक्षमूले नागालोकेऽधिः
भवेऽ एकास्मन् दिभैः तावदेवक भ्रापनाः हि ततो हि
गरुदसत्सम्प्रद भुक्तः नैव चीमः।' दितिब्यायस्थायाः
सर्पाऽ मासि मासि बलि ददुः।' तदात्स वासुकिः मासीह यो
बलिति, वानस्पतिः वस्त्रायाः देयः। महाबाहो तत्र
साधारण यथा स्वर्णः:। कथे गृहात एवं गरुदोपि
गृहातित्सूचार्थः, आयो न केवलः कथा:। किंतु दण्डः
अपि, तत: किंम? अत आदि नागानां सम्बन्धी प्राणः दण्डः
देवविद्यो निरूपितः॥ २ ॥

१. - जन्मं संह, जन्मं सिद्ध।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अथाय अनुवादक

व्याख्यार्थ - भेट करने वाले अतल आदि लोकों में रहने वाले, साधारण सर्प अथवा उनके सेवक आदि ने यह ठहराव किया था कि हम हर मास में गरुड़ के लिए रमणक द्वीप में बलिदान करें।

यह आधारित है। इस प्रकार है। गरुड़ माता के वैर को स्मरण करता हुआ, नित्य जो भी सर्प हाथ लगता था उसका भक्षण करता था किसी को तो बृहस्पति पूजा मात्र था।

इस प्रकार अपने कुटुंब का क्षण देखने के अन्तर्वासुकि आदि प्रमुख सर्प गरुड़ से डर कर, ब्रह्मा के शरण गए। ब्रह्मा ने गरुड़ की बुलाकर दोनों की सन्नाटे कराई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि 'अमावस्या' के तिन नागों में से एक की बलि वृक्ष के मूल में रखी जाए, गरुड़ वहां जाकर उसका भक्षण करे उसके अतिरिक्त किसी भी सर्प को नहीं पीड़ित करेगा। इस ठहराव के अनुसार सर्प हर महीने वृक्ष के मूल में बलि छोड़ लेते थे।

राजा को 'महाबली' यह विशेषण देकर समझाया कि आप भी राजा हो, सब से 'कर' लेते हो वैसे ही गरुड़ भी लेता है, इससे यह भी बताया है कि राजा शत्रुओं का केवल वध नहीं करे किन्तु उनको दण्ड भी दें। अतः कहा है कि नागों को इस प्रकार दण्ड दिया गया जिसका वर्णन पहले किया है।

श्लोक: — स्वं स्वं भागं प्रयत्नस्ति नागा: पर्वतिण पर्वतिण।
गोपीथायात्मन: सर्वं सुपर्णाय महात्मने।

श्लोकार्थ — सर्व सर्प अपनी रक्षा के लिए हर एक अमावस्या को अपना अपना भाग महात्मा सुपर्ण (गरुड़जी) को देते थे।

सुबोधिनी — ततः स्वं स्वं भागं सर्वं एव नागा: पर्वतिण पर्वतिण।
चोपा नित्यार्थः। आत्मानो गोपीथाय रसार्थ, नन्नु वैषी कथं दण्डं
अपकुलपरिमता सर्वं एव कादेवा: पर्वतिणपर्वतवादयाया।
द्वेषपि विमुक्तिपरिवार्तयः सुपर्णाय महात्मन इति।

ईंपेट भर जाने के बाद भी जो सर्प सामने मिल जाता तो उसको मार देता था।

'अनुवादक'

1- प्रसिद्ध कहानी। 2- व्यर्थ। 3- मेल।
श्रीमद्भगवतः (सुबोधिनी) दशम स्त्रिय - चतुर्दश अध्यायः

व्याख्यार्थः - नामों के आठ कुल हैं, वे सर्व कदृश की सत्तान हैं। वे अपना अपना भाग अमावस्या को गुरुः के नित्य आहारार्थ व्यक्ति के मूल में रख आते थे। वे समझते थे यों करने से हमारी रक्षा होगी। गर्भु अकार से, दशं देने पर भी मार देता है, किंतु गर्भु महानु आत्मा है अतः वह ऐसा कार्य नहीं करेगा ऐसा उनको निश्चय था || 3 ||

श्लोकः - विषवीर्यमदाविषः: काद्रेवायस्तु कालियः।
कदृश्कृत्य गर्भुं स्वयं तं बुधुजे बली || 4 ||

श्लोकार्थः - कदृश का पुत्र कालिय विष रूप वीर्य से अभिमान में आ गया, जिससे गर्भु को तुच्छ समझ कर उसकी बली स्वयं खाने लगा || 4 ||

सुबोधिनी - तन्त्रयं कालियः स्वदेवोपासको जात:, कदृश्कृत्य दूषित्वा गर्भुसेवकानु मारित्वा तं बली
विषवीर्य: जातं, तस्य मदेनाविषः: काद्रेवायः,
कदृश्कृत्यायुपस्मानः: कालाधिभौतिकरूपेष्टिपरिवर्तिताः
कालियः।

व्याख्यार्थः - कालिय का देवता विष है अतः उसने उसकी (विष रूप देवता की) उपासना की, जिससे वह विष रूप देवता के प्रभाव से विष वीर्यवाला हो गया। उस (विषवीर्य) के मद से अभिमान में आ गया और माता कदृश के दोष से भी, इसमें प्रवेश किया तथा कालिय शरीर का आधिभौतिक रूप भी है, गर्भु को तुच्छ जानकर वहाँ बली की रक्षा के लिए जो गर्भु के सेवक थे उनको मारकर, स्वयं उस बली को खा जाता था, कारण वह, यह कालिय महानु बलवान था || 3 ||

श्लोकः - तच्चुल्वा कुपितो राजनू भगवानू भगवतिमयः।
विजिघांसुमःहावेगः: कालियः समुपाद्यवत् || 5 ||

श्लोकार्थः - हे राजनू! यह बात सुनकर, भगवानू के प्यारे, गर्भु भगवानू कृपोधित हुए, अतः कालिय को मारने की इच्छा से बड़े बेग से उसके (कालिय के) समीप आए || 5 ||

सुबोधिनी - तद् संकेतिनिवेदितो गर्भुः: श्रुत्वा
कुपितो जात:, राजनिति राजस्थिरितायुःसीति जायते,
असामाध्य तु तस्य नास्तोत्साह भगवानिति, भगवतिमयः
भगवानू, यतो भगवतोऽय ग्राहाय वाहनरूपः, अतत्त्वस्य
दशंस्कृत्यविमोहिता विशेषेण जितांसुमेह कालियः प्रति सम्पर्कः
महायोपस्मेषपूवकमुष सम्पीय एव शीप्रायावतः || 5 ||
व्याख्यार्थ — गरुड़ के सेवकों ने जाकर अपने स्वामी को ये सारे समाचार सुनाए जिनको सुनकर वे कृद्द हुए । रजनौ ! यह संबोधन देकर यह बताया है कि रजय को स्थिरति ऐसी ही होती है । गरुड़ राक्षस में कम नहीं है इसको जताने के लिए गरुड़ को ‘भगवान्’ कहा है । पश्ची होकर भगवान् कैसे । इसका स्पष्टेकरण आचार्य स्री करते हैं, कि भगवान् की कृपा से गरुड़ में ऐश्वर्य आदि छः गुण उद्भव हो गए थे अतः उनको राक्षस में भगवान् कहा है । भगवान् ने कृपा इससिद्ध की है, कि वह भगवान् का प्राप्त बाहन है । गरुड़ कालिय को दण्ड देना भी स्वीकार न कर, उसको नाश ही करता है, ऐसी इच्छा से कालिय के पास ही बड़े वेग से ध्वनि करते हुए शीघ्र आकर पहुँचे ॥ ५ ॥

आभास — आराधितो विषाणु हद्दये प्रविच्छ इति तस्यापि सम्पुन्थो जात इत्याह तमापतन्त्वमिति,

आभासार्थ — कालिय ने अपने देवता विष की आराधना की थी, जिससे वह विषाणु उसके (कालिय के) हृदय में प्रविच्छ हुआ, अतः गरुड़ के सामने युग्म के लिए तैयार हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तमापतन्त्र तस्ता नखायुधं प्रत्यभ्यावदुल्थितनैकमस्थतःः ।
दीर्घः सुपृण व्यदशादृ रदायुधः क्षालजिह्वोच्छृसितोग्रलोचनः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — वेग से उड़कर आते हुए उस नखायुध (गरुड़) के सामने, अनेक मस्तकों को ऊँचा कर यह (कालिय) आया । भयंकर जीभ तथा उग्र नेत्र वाले एवं दान रूप शक्ति वाले कालिय ने गरुड़ को दानों से डसा ॥ ६ ॥

सुवर्णीनी — नक्षत्र तथा योधयोजनात्वाशादक क्षयं नवायुधभिमिति, तं प्रतिकृतत्वभावात् सम्पुन्थं गंतः, उत्तिनायुक्तकानि मस्तकानि यथा, अयुक्तकानि बहुरूपः इति जापियतु, ततः सुपृणं दीर्घं दायुधोपेनः यथा यदायुधे रदा दन्ता आवुधानि यथा, न केवलं दंसमात्रेण तं

| त्वकुपुमिच्छिति किंतु भक्षयित्वात्वाभ हस्तलिङ्ग इति, | कलाल जिह्वा यथा, कलाल ग्रसनसम्बन्धः क्रूः, उच्चुः- | बसितायुग्माणि लोचनानि यथा, अनेन तस्य जानास्थितः: | कृपितोत्तमेऽहुः, उच्चोऽवसितायुग्माणाः, उग्रहादः | विपरीतत्वम् ॥ ६ ॥ |

व्याख्यार्थ — कालिय, बिना शक्ति वाले गरुड़ से लड़ने के लिए कैसे गया । इस शक्ति को ।

? सवारी।
धर्म द्वारा गढ़ द्वारा
श्रीमद्भागवत (सुबोधिनी) दशम स्त्रोत - चतुर्दश अध्याय

मिटने के लिए कहा है, कि गरुड़ शत्रु से हीन नहीं था किन्तु गरुड़ के पास उसके नख ही आयुर्ध थे। इसको जान कर कालीय लड़ने के बारे सामने गया। कालीय ने अपने अनेक मस्तकों को ऊँचा उठाकर गरुड़ को यह बताया कि तुम एक रूपवाला है मेरे बहुत रूप है। पश्चातृ के अपने विष से भरे हुए दानों से उसको (गरुड़ को) डूंढ़ा। डूंढ़ कर उसको छोटे दूसरे कालीय की इच्छा नहीं थी, किन्तु उग्र जिह्वा के कारण खा भी जाते, क्योंकि उसके लोचन स्तम्भित हो गए थे। जिससे उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गई थी। इन दोषों से उसने (कालीय ने) मर्यादा का भ्रष्ट किया, विपरीत कर्म किया।

आभास - एताहशमिपि गरुडो मार्तिवानित्याह तमिति, तं प्रसिद्धं, तुल्यतायामः
कालीयाः च हेतुमाह ताष्ट्रपुत्र इति,

आभासार्थ - वैसे को भी गरुड ने तोड़ना की - जिसका वर्णन इस श्लोक में है।

श्लोक: - तं ताष्ट्रपुत्र: स निस्सय मनुष्या प्रचण्डवेगो मधुमूलनासन:।
पक्ष्ण सम्येन हिरण्योर्चिशा जयान कदूरूपुत्रमृतविक्रमः।।

श्लोकार्थ - (जब कालीय ने यों डूंसने आदि, क्रिया की तब तो) भगवान के आसन, उग्र पराक्रम उस गरुड ने बहुत नौर में आकर इस (कालीय) को दूर पेंक कर बड़े वेग से सुवर्ण के सदृश चमकते हुए अपने सव्य पांख से कदूरू के पुत्र पर प्रहार किया।

सुबोधिनी - ताष्ट्र: कश्यपो भावानसमापि, रूपा-नारे चतुर्विंशा विवाहः कृत इत्या सूत्रपि कालीय किति तुल्यवात, स इति पूर्वशु: कोपितक्ष, निस्सय नितापमुः, क्रियाकर्मः,' दूराबिधि विश्वास स्रत्क्रृतेत्यायः, नवयाहिति निविडणेन समागच्छति कधित तिस्तकारशु: ।

इति, अतः सम्वेन पक्ष्ण वृहदपुष्पेण तद्व ब्रह्मतेषु केदिति
तन, स निस्सय, तद्व पक्ष्ण वृहद्याब्धिविलयविजीतितव्याम, इतिहासौत्कितेति, इतिहासरूपेन भावाद्वर्मः,।नन्दोऽपि
कालीयपुत्र: कधित तं मार्तिवानित्याय त्याह कदूरूपुत्राय, नन्दोऽपि
राजस्थिकान्तित्या नवीयुक्तम्, मातृप्राणायात्रात वीज्युक्तम्,।नन्दोऽपि इतिहासकालीयपुत्रतितितितम्, तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही
प्राणहर्षोप्तिपूर्णमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही तद्धिकुरुपुत्रमुक्तमही

† गरुड ने किया हुआ बलिदान का नियम लोडकर मर्यादा भ्रष्ट किया।

'योजना'

* जो गरुड कालीय को मारने में सक्षम था उसकी मारने की चेष्टा* करना विपरीत कर्म है वह किया।

'योजना'

1- शत्रु । 2- वास । 3- स्तिथ (जड़) । 4- इच्छा।
व्याख्यार्थ - 'तास्त्र' (क्रस्त्र) ने चार रूप धारण कर चार से विवाह किया था। कालिया 'कड़ू' नाम वाली नीची से उत्पत्ति हुआ था उसके दोष इस (कालिया) में आए थे। पिता के बीज को मुख्तार इस कालीय में नहीं थी किन्तु विनता के पुत्र गहरू में पिता के बीज की मुख्तार थी। अतः क्रस्त्र के पुत्र होने से, दोनों यद्यपि समान थे। तो भी उपर्युक्त कारण से दोनों को शक्ति में अन्तर था।

सर्प ने बलि खाकर गरुड़ को अपना श्रुति बना लिया था। जिससे गरुड ने क्रृष्ण उत्पत्ति हुआ। अतः उसको दूर फेंक दिया अर्थात् उसका अपमान किया। यद्यपि सर्प आधिदेविक बल से, सामने लड़ने के लिए आ गया था, तो भी क्रृष्ण के आने पर शक्ति की वृद्धि हो जाती है। अतः उससे क्रृष्ण के द्वारा इसका (कालिया का) तिरस्कार किया।

कालीय से गहरू में क्रियाशक्ति विशेष थी क्योंकि भगवान् ने आसन था। कहीं भी भगवान् को शीत्रा जाना हो तो गहरू को आसन ने बनाते थे। अतः भगवान् ने उसको क्रियाशक्ति दी थी इसलिए इसमें (गहरू में) देवी क्रिया शक्ति थी जिससे कालीय से बलवान् था। इस बल के कारण अक्षर रूप सत्य पाँख के प्रहार से वह (सर्प) निष्ठा हो गया। वह सत्य पंख सुवर्ण जैसी कांतिय वाला था। अर्थात् भगवन्दर्म वाला था क्योंकि यह सुवर्ण जैसी कांति भगवान् का धर्म है।

यद्यपि सर्प भी क्रस्त्र का पुत्र था तो भी उसको गहरू इसलिए मार सका, क्योंकि उसमें कडू के दोष आ गए थे।

देश से प्रहार का बल अल्प है, तो प्रहार से इस (गहरू) की जीत कैसे हुई? इस शाला के गिराने के लिए कहा है कि साधारण शैली से, प्रहार देश से अल्प है किन्तु गहरू उग्र विक्रम है, अतः उसका प्रहार अल्पन बलवान् है, जिस प्रहार से मरण भी हो सकता है। 

आभास - ततो यजु जात्म तदाद्य सुपर्णपक्षाभिहत इति,

आभासार्थ - उसको अनन्त जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं -

श्लोक: - सुपर्णपक्षाभिहत: कालियोपतीव विवज्ञः ।
हदं विवेश कालिन्दास्तदभागम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥

२० सवारी । २२ - तेज, चमक।
श्लोकार्थ— गरुडः के पंख के प्रहार से, बहुत घबराए हुए कालिया ने कालिन्दी के इंद्र में प्रवेश किया, जहाँ गरुडः आ नहीं सकता था और अगाध जल के कारण वहाँ जाना भी कठिन था ॥ ८ ॥

सुबोधिनी— सुपूर्णस्य गरुडस्य पशोषणाभिहतस्ता— तत्त्वत्त्वमयः गरुडस्य ॥ ८ ॥
विधि: कालिया विहंलो जातस्त: कालिन्दा इंद्र विवेषः

व्याख्यार्थ— सुपूर्ण के पंख से ताड़ित होने से, घबराया हुआ कालिया, कालिन्दी के इंद्र में चला गया, क्योऽकि गरुडः वहाँ नहीं जा सकते थे ॥ ८ ॥

आभास ।— तत्र हेतु वक्तुमुपाभ्यामनम तत्रैकदेति,

आभासार्थ— गरुडः क्यों नहीं जा सकता था वह बताने के लिए उपाख्यान कहते हैं—

श्लोकः— तत्रैकदा जलरच गर्सो भक्षयमीपितम् ।
निवारितः सौभरिणाः प्रसहा शुधितोहस्तः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ— किसी समय वहाँ गरुडः आया, उसने सौभरि ऋषि के निवेश करने पर भी शुभों भोग नहीं लिया उन्होंने अपने प्रिय भक्ष्य मन्त्र को बलात्कार से खाया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी— यदास्य न भगवद्गात, सौभर्युपट्यानां सम्बन्ध मीनसङ्गः। प्रसीदं हि मीनहितकारी भवति, पुरुर्गरुडः देवगत्या तस्येव समीप इश्वितं भक्ष्यं जलचरविशेषं योपाविभाजनं निवारितां सौभरिणा शुधितां बहुमुखवस्तः।

व्याख्यार्थ— सौभरि ऋषि के उपाख्यान से जाना जाता है कि उसके मन्त्र का सहु था, इसलिए वह उनका हित चाहता था। मीन सहु के कारण उस समय, उसमें (सौभरि में) भगवद्गात्र भी नहीं था। ऐसे समय गरुडः देव गति से उसके (सौभरि के) समीप गया और उसके सामने अपने प्रिय भक्ष्य सहित आदि मन्त्र को खाने के लिए पकड़े लगा, तब ऋषि ने गरुडः को यों करने से

† गोपुरथॉपतिमजी प्रकाश में— सुबोधिनीजी के अ. १४, श्लोक ९ की 'अस्त्र न भगवद्गातः' का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—'सौभरि में भगवद्गात्र नहीं था।'
अभास - नन्तु भगवतिरिमितेऽथ कथं मुनेसङ्रः। तत्राह मीनानृ सुदुःखितानू दृष्ट्वेति।

अभासार्थ - भगवान् ने गरुड़ के लिए जो खाद्य पदार्थ बनाया है उसके लिए सौभारि ने इस प्रकार निषेध का आग्रह किया जाता है। उसका कारण बताने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं -

श्लोकः - मीनानू सुदुःखितानू दृष्ट्वा दीनानू मीनपत्तौ हृते।
कृपया सौभारि: प्राह तत्रत्यक्षोमाचरन। ॥ १० ॥

प्रलोकार्थ - मत्स्यपति को गरुड़ ले गया जिससे अन्य दीन मत्स्य अत्यन्त दुःखी हुए, उनको दुःखी देखकर उनके कल्याण के लिए दयाल्य हुए सौभारि ने जो कहा वह निम्न श्लोक में है ॥ १० ॥

वायुक्तर्थ - भगवान् ने वैदिक और लौकिक दो प्रकार की मयादानें बनाई हैं। वैदिक मयादा के अनुसार सर्व प्राणियों पर दया करनी चाहिए। जो दया नहीं करता है, दीनों की उपेक्षा करता है, उसके हद्द तक ब्रह्म चला जाता है। जैसे फूटे हुए बर्तन में से दूध निकल जाता है। गरुड़जी ने लौकिक मयादा के अनुसार अपने भक्ष्य मत्स्य का भक्षण किया था, जिससे मत्स्य पति के जाने से, दीन मत्स्य दुःखी होने लगे क्योंकि उनका रक्षक तथा उनका नियम से चलने वाला कोई नहीं रहा। इससे मत्स्य अपने कुल के रक्षक होने से, परस्पर मित्र बान्धवों को खाने लग गए। ऐसी दशा देख कर सौभारि
ने उन पर दया करने के लिए मर्यादा का उद्देश्य किया। यदापि, मत्स्यों को दुःख अन्तर्गत के कारण था तो भी दीन थे, जिससे उनकी रक्षा करने का यल सांभरि ने निम्न प्रकार से किया। किन्तु वह परमार्थ भी अन्यथा हो गया क्योंकि, गरुड़ के न आने से वहाँ कलिय आकर रहा जिसके विष से, सर्व मत्स्यों का नाश हो गया। उस प्रस्तुत से अन्य जीव भी नष्ट हुए। इससे यह सिद्धांत निश्चय हुआ कि भगवान् की मर्यादा (इच्छा) के विरूद्ध जो कुछ करता है वह अन्यथा ही है। उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। ॥ १० ॥

आभास — शापवाक्यमहात्र प्रविष्टेन, आभासार्थ — सांभरि ने जो शाप दिया वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक: — अन्त्र प्रविष्ट गरुड़ो यदि मत्स्यानू स खादिति।
सद्यः प्राणोक्षुध्येत सत्यमेतद्र ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — यहाँ गरुड आवेगा और जो वह मत्स्यों का भक्षण करेगा तो, उसके उसी समय प्राण चले जाएँगे, मैं यह सत्य कहता हूँ। ॥ ११ ॥

सुबोधिनी — अन्त्र हेतु प्रविष्ट, जलता तथा भवेदिलेकः
शापः, त्रापि यदि मत्स्यानू, त्रापि स एव गरुड़ो न तन्नम्: पक्षी, तत्: सद्य एव प्राणोक्षुध्येतंत्यत्;
तेजांश्चत: च एव प्राणोक्षुध्येतंत्यत्, क्षणं निपिङ्ग, तथा च न विशिष्टोऽशापः: अति एव कालिकाष्ट रक्षा, अन्यथा मत्स्यान्तः।

व्याख्यार्थ — सांभरि ने गरुड़ को दो प्रकार से शाप दिया, एक यमुना के हेतु में प्रवेश करेगा तो, उसी समय प्राण से रहित हो जाएगा। दूसरा मत्स्यों को खाएगा तो भी तेरे प्राण शीघ्र निकल जाएँगे। इस शाप से यह भी दिखाई है कि गरुड़ के अतिरिक्त अन्य पक्षी के लिए यह शाप नहीं है। इस शाप के कारण कालिय की भी रक्षा हो गई क्योंकि यदि यह शाप विशिष्ट (हेतु में प्रवेश तथा मत्स्य भक्षण दोनों का मिलन) शाप न होता तो गरुड़ हेतु में प्रवेश कर, कालिय को दुःख देता। इस प्रकार शाप न होता तो उसकी (कलाय की) रक्षा न होती। इसीलिए ही तस्माद श्लोक में ‘स’ ‘वह’ गरुड़ शब्द फिर दिया है। ब्रह्माण्ड का वचन आज्ञा रूप है। यह सांभरि का कहना
श्लोक: —तं कालिय: परं वेद नाय्य: कक्षन लेलिह: ।
अवासीदु गस्सादू भीत: कृष्णोन च विवासित: ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — इस बात को केवल कालिय ही जानता था दूसरा कोई सर्प नहीं जानता था, इसलिए गरुड़ से भयभीत हो यहाँ आकर रहा, और श्रीकृष्ण ने उसे निकाल दिया ॥ १२ ॥

सुबोधिनी — तमथ कालिय एवं परं वेद, गरुड़न मह विवेधं चिकसुङ्क्तंङ्गस्मथं विचारितवान्, अन्येषंलेवमर्यायस्पातान्त्यो लेलिह: सर्पं जानाति, अतो गस्सादू भीतत्वावासीदु कृष्णोन च विवासितत्ततो दूरीकृत: ॥ १२ ॥

व्याख्या — उस अर्थ अर्थात् गरुड़ सौभारि के शाप से इस ह्रद में नहीं आ सकेगा इस को केवल कालिय ही पूरी तरह जानता था। गरुड़ के साथ विवेध करने की इच्छा वाले कालीय ने यह विचार किया कि यदि इससे विवेध करना तो यहाँ से भागना तो पड़ेगा क्योंकि यह बलवान् है, फिर कहाँ जाकर रहूँगा, वह स्थान ऐसा हो जो गरुड़ नहीं आ सके। वह गुरुजनी का ह्रद ही है जहाँ वह जा नहीं सकता है वहाँ जाकर रहूँगा, दूसरे सर्प को तो गरुड़ से वैर करने की इच्छा ही नहीं थी और उनको इसका पता भी नहीं था। अतः गरुड़ से डरा हुआ (कालिय) वहाँ जाकर रहा और भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे वहाँ से दूर किया ॥ १२ ॥

आभास — एवं प्रासंगिक परिस्थित प्रस्तुतमाह कृष्णं ह्रदादिति,
आभासार्थ — इस प्रकार प्रासंगिक विषयों को छोड़ अब चालू विषय को कहते हैं।

श्री सुबोधिनी को हिन्दी टीका — तामस प्रकरण 'प्रसंग' अवासं प्रकरण — अध्याय ३

यदि सौभारि इस प्रकार शाप नहीं देता तो कालीय इस ह्रद में विवेध न होता। 'प्राकार'
गरुड़ ह्रद में आते तो सर्प के विष में उसका मरण नहीं होता, किन्तु शाप के कारण मृत्यु हो सकता अतः
सौभारि का वचन प्रमाण है जिससे गरुड़ ह्रद में नहीं आता था। 'टिप्पणी'

१ - सिद्ध वात को दीर्घाना।
श्लोकः - कृष्णं हदादू विभिन्नां दिव्यस्त्रगन्धवाससम्म।
महामणिगणाकौशलं जाम्बूनदपरिष्कृतं। ॥ १३ ॥
उपलभ्योधितम्: सर्वं लघुप्राणं इव प्रजा:।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपा: प्रीत्याभिरेभिरे। ॥ १४ ॥

श्लोकार्थः - दिव्यमाला, चन्दन, वस्त्र पहिरे, अमूर्त्य मणि-मालाओं से व्यात, सुवर्ण से अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्र हद से बाहर निकले, तब भगवान् को पाकर सवा गोप, जैसे इन्द्रियों प्राण आने पर सवेत हो जाती है वैसे ही आश्विन से पूर्ण चित्त वाले होकर प्रेम से उनके (श्रीकृष्ण के) साथ मिले। ॥ १३-१४ ॥

सुवृद्धि - विशेषण निभाते भगवानं दृष्टविधितः।
सर्वभूमिर्मित्वं हद इव: सम्बन्धः; हदादू प्रदमानयति, विशेषणे
निभायमणकम्पस्त्रायत्वत्वं, पूर्वमात्रे वैलक्षण्यार्थ रूप
चरणतिः, दिव्यार्थ सर्वधारायत्व चरणति, अनेन
सामान्यतः: पूजा निरूपिताः; महामणिगणोपकौशलिस्मिति
विशेषपूजा: जाम्बूनदवसं परिष्कृतं, अनेन लोकायत्वपादः
पूजित उक्तंत:; तत्र दिव्यार्थ यस्त: गण:; पातालस्थः।

सुवर्ण भूमिपुर, अकस्मादुपलभ्य भगवात्सनिहितमार्गं
लघुप्राणं जातं: प्रजा वालका इवविधितः; वथा वालका
उचिततः वं लघुप्राणं जातं वहे महानोपुनिधितः। परस्मारणं-
रहितः: प्रजा लोकिकाः वथा श्री गृहावतसारं यथा
कृष्ण समागम रहितः; ततो धरी प्रभुवत्सारिधिये
प्रमोदन निभात: पूर्ण आत्मानं। करणे पेषां, आदि पुरुषात्मकः
पुरुषोपत्तमपि प्रीत्याभिरेभिरेभिरेभिरेभिरेभिरे। ॥ १३-१४ ॥

व्याख्यार्थः - यहाँ दो श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध है अन्ततः उनका तात्त्विक साथ में ही समझा गया है।

हद के बीच से अचानक प्रकट हुए भगवान् को देखकर सब उनसे मिले। भगवान् पहले से (जब यमुना जी में कूदे थे तब से) अब विलक्षण दर्शन दे रहे थे, अतः उस विलक्षण रूप का वर्णन करते हैं।

सुवर्ण के दिव्य चन्दन माला वस्त्र आदि से, भगवान् की वहाँ सामान्य पूजा हुई है ऐसा प्रतीत होता था, पाताल के पदार्थ महान मणियों को मालायों से व्यात देखने से समझा गया कि इनकी विशेष पूजा हुई है, और पूजा के उत्तर में पदार्थ सुवार्ण के आभूषणों से सुशोभित हुआ देखकर, सब ने निश्चय किया, कि भगवान् की तीन लोकों के पदार्थों से सब प्रकार पूजा हुई है।

पूजा से सुशोभित विलक्षण रूप वाले वैसे भगवान् को अचानक आविष्कृत हुए देखकर, उनके
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकाश 'प्रमेय' अवात क्रकण - अध्याय ३

सन्निधि मात्र से उसमें (गोपाल में) प्राण आ गए। बालकों की तरह वे उठ कर खड़े हो गए। जैसे बालक खड़े होते हैं वैसे ही प्राण मिलने से वृद्ध भी उठ कर खड़े हो गए। प्रजा (बालक) अथवा लौकिक मनुष्य की परसप पहचान न होते हुए भी जैसे प्राणों के (प्रमी सुन्दर पुरुषों के) आने पर उठते हैं, उसी प्रकार, ये गोपाल भी श्री कृष्णचन्द्रजी के आने पर, उठ कर खड़े हुए। पश्चात समीप होने पर, आनंद से पूर्ण, अन्तःकरण वाले, पहले, उन तरुण पुरुषों ने पुरुषोत्म को भी प्रेम से आलिङ्गन किया॥ १३- १४॥

श्लोक: - यशोदा रोहिणी नन्दो गोपयो गावश्र कौरव।
कृष्णां समेत्य लब्धेहा आसङ्क्यभद्यमोर्थया: ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ - हे कौरव! यशोदा, रोहिणी, नन्दराथजी, गोपियाँ, और गोप ये सब श्रीकृष्ण को पाकर चेश्च वाले हुए और इनका मनोरथ पूर्ण हुआ॥ १५॥

सुभोधिनी - ततो यशोदा रोहिणी, स्रीयो हल्लुकास्त: ततो नन्दो रोहिणीसप्तभगात, ततो गोपोऽ\\nनद्भाग, ततो गावश्रमी. हे कौरवेशस्मोर्धं विक्षमारः। ॥ १५॥

व्याख्यार्थ - स्रीयो में उत्सुकता (प्रिय के मिलने की चाह) विशेष होती है इसलिए पहले यशोदा और रोहिणी भगवान् से मिली, रोहिणी से स्पर्श न हो जाए, इस भय से, नन्दजी पश्चात मिले, नन्दजी के भय से गोपियाँ पीछे मिली, उसके अनंतर गए। भी मिली। परीक्षित को यह जलने के लिए कि यह प्रस्फोट यों हो आए है इस पर तूं विश्वास कर, संशय न कर, क्योंकि तूं कृष्ण के कुल में उपन्यास हुआ है अतः परीक्षित को “कौरव” विशेषण देकर सावधान किया है। सब कृष्ण को प्राप्त कर चेश्च वाले हुए अर्थात उनमें क्रिया शक्ति आ गई और उनका मनोरथ भी पूर्ण हुआ जिससे ज्ञान शक्ति भी उनमें प्रकट हो गई। इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति का परसप सम्बन्ध दिखाया है कि जहाँ क्रिया शक्ति आती है वहाँ ज्ञान शक्ति अवश्य उत्पन्न होती है॥ १५॥

श्लोक: - समश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभावविद् ।
नर नायों स्रोत वत्सा लेनप्रेरे परमा मुद्रोः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ - बलरामजी ने अच्छत (श्री कृष्णजी) का आलिङ्गन किया उनके
प्रभाव को जानने से हैसने लगे। पुरूष, खियाँ, वृक्ष और बच्चे अत्यन्त प्रसन्न हुए। १६। 

व्याख्यार्थः - राम ने भी अन्यों के समान भगवान का आलिङ्ग किया। राम ने जब आलिङ्ग किया, तब हैस नहीं। आलिङ्ग के अनन्त हैं, जिसका कारण यह है, कि बलरामजी में पहले, भगवान का अंश नहीं था, भगवान से आलिङ्ग करने से वह भगवद्वर्ण बलरामजी में आ गया तब समानता होने से हैसने लगे। हैस कर, श्रीकृष्ण को जताने लगे कि आपने इनकी (गोपालिका की) पूर्ण परिश्रम कैसी है। कृतीय को निकाला इसमें कोई कुछ भी आक्षर्य नहीं है, कारण कि भगवान के प्रभाव को जानने थे, जो विश्व को क्षण में उलट सकते हैं उनका यह कार्य आक्षर्यजनक नहीं है।

पुरूष, खियाँ, वृक्ष और बच्चे इन चारों को सुख के साथ दुःख भी हुआ होगा? इसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि नहीं। वे बहुत आनंद को प्राप्त हुए (दुःख लेशमात्र भी न था)। १६। 

आभासः - नन्देतावत् कालं ब्राह्मणं: कथमेते नोपदिष्टा इदानीं ब्राह्मणं: कथं तत्सान्तवं कृत्वतत्त्वं इत्यादिक्यांह नद्यमिति,

आभासार्थः - ब्राह्मण इतने समय तक तो शान्त रहे, किसी प्रकार उपदेश द्वारा सान्त्वना नहीं दी, अब नन्दराजजी को सान्त्वना करने के लिए कंसे आए? इस शब्द को मिटाने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं -

श्लोकः - नन्दं विप्रं: समागमत्व गुरुः: सकलत्रकाः।

उच्चस्ते कालियास्तो दिश्या मुक्तस्वात्मजः। १७।

श्लोकार्थः - पतियों समेत कर्म करने, वा गुरु ब्राह्मण नन्दजी के पास आकर
कहने लगे, कि 'बधाई है' प्रसन्नता की बात है कि कालीय का पकड़ा हुआ, आपका पुत्र सकुशल छूटकर आ गया। ॥ १७ ॥

यदी सवाल में नहीं आये कि साधक के ज्ञान तथा ज्ञान से कारण के दोनों ही कष्ट निवारित किए गए हैं। तथा गुरू का यह साधन लोकों के साथ उपयोग किया जा सके।

श्री सुबोधिनी की हिंदी टिका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवार्त प्रकरण - अध्याय ३

श्लोक: - देहि दानं द्विजातीनं क्रृष्णानिमुक्तिं हेतु।

नन्द: प्रीतमना राजनो गा: सुवर्णं तदादिशात्। ॥ १७ अ।।

श्लोकार्थ - हे राजन! क्रृष्ण सकुशल छूट आए। अतः उनके निमित्त ब्राह्मणों को दान दीजिए। नन्दजी ने प्रसन्न चित्र से ब्राह्मणों को गौं और सुवर्ण दान में दिए। ॥ १७ अ।।

श्लोकार्थ - इस आशय को समझकर नन्दजी ने प्रसन्नता से ब्राह्मणों को गौं और सुवर्ण बधाई के रूप में दिया। ॥ १७ अ।।

यह १७ वाँ श्लोक और इसकी टिका प्रायः बहुत पुस्तकों में देखने में नहीं आती है। किन्तु दोनों का सम्बन्ध होने से कहीं कहीं लिखा है।

1 - याचना।
श्रीमद्भगवतः (सुभोधिनी) दशम स्कन्धः - चतुर्दश अध्यायः

आभासः - यशोदाया विशेषमाह यशोदा च तैरुऽकटा,

आभासार्थः - यशोदा ने जो विशेष किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - यशोदा च महाभागा नमःलङ्क्रजः सती।
परिष्कर्यः ज्ञानोपययः मुमोचाश्रुकलः मुहः। ॥ १८ ॥

श्लोकार्थः - सती यशोदा, महा भाग्यवाली है, क्योंकि, अदृश्य (जो गुम होने से देखने में नहीं आता है वैसा) पुत्र चौड़े (बादमें) मिल गया है, उसने पहले पुत्र का आलिङ्कन किया पश्चात् गोद में बिटाया उस समय उसके (यशोदा के) नेत्रों से (प्रेम के कारण) आँखें बहने लगे। ॥ १८ ॥

सुभोधिनी - महाभागोति, तेष्वो दित्सत्त्वातिः, क्षणोपज्जनादू वा तस्य भागयमभननंदति, नन्दाय नु- लयाव ग्रामास्म प्रजा यथा, ततथाते हेतुर्धम् - सतीति, अतो।

व्याख्यार्थः - ब्राह्मणों ने यशोदा को महाभाग वाली कही है, उसके दो कारण हैं। एक ब्राह्मणों को बहुत दान मिला था और दूसरे यशोदा ने कृष्ण के लिए सब से विशेष प्रेम दिखाया है। जैसे कि, सब से प्रथम, कृष्ण के आने पर, उसका आलिङ्कन कर गोद में बिटाया, जिससे प्रेम बढ़ कर आँखें से अश्रु वह निकले। ॥ १८ ॥

आभासः - एतत्वार्थतारात्रिज्ञाताः, तस्मिन् दिवसे न केनापि भुक्तं, गावः पूर्वः शुष्कस्तना एवाधुना तु सत्यसहिता अपि दोहसाधनाभावात्र दुष्टहदा जाता:। भगवदगमनप्रमोदेनैव च निर्वृतात्स्त्रैव सिथ्या इत्याभ तां सारिरितमिति,

आभासार्थः - निम्न श्लोक में कहते हैं कि, इस समस्त कार्य में आधी रात्रि बित गई, उस दिन किसी ने भी खाया नहीं था, जिससे गोदों के स्तन सूख गए थे। अर्थात् उनमें दूध नहीं था, किन्तु भगवान के पदार्थों की प्रस्तता में वे ही स्तन दूध से पुर्ण हो गए। किन्तु दोहने के रात्रि न होते से, गोदों से दूध दुहा नहीं गया। वे सर्व आनद मगन होने से वहाँ ही रात्रि भर रहे।

___

1 - भर गए।
श्लोक: — तां सार्थं तत्र राजेन्द्र श्रुतीइयां श्रमकार्षिताः।
ऊषुर्धीकसो गावः कालिन्दा उपकूलतः। ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — हे राजेन्द्र! व्रजवासी और गो, भूख तथा प्यास एवं श्रम से कम शक्ति चाले हो गए थे, अतः वहाँ ही कालिन्दी के किनारे के निकट ही सो गए। ॥ १९ ॥

सुध्रोधित्री — श्रम आगमनश्रमकार्षितश्रमौ वा मथो
वा मरणश्रमः श्रमः, तेनापि कार्षितः। श्रुतीइयां सहिता।
श्रमस्य कार्यः कृत्वा गतविषादः कार्यमिव निरूपितं श्रुतृष्णः।

व्याख्यार्थ — गोप गो आदि सव का, गोकुल से यहाँ आने से दैनिक श्रम, भगवान का कालिय के साथ युद्ध देखने से चित का श्रम और उससे मरण के विचार करने का श्रम इत्यादि श्रम से हुवल तो हो गए थे, फिर श्रुति तथा तुषा (व्यास) से विशेष रूप से निर्भर हो गए। श्रम तो निर्भरता देकर चले गए, किन्तु श्रुति और तुषा तो शरीर के साथ ही रही इसलिए उनके स्वरूप को बताया। वे ‘गोवाड़ों’ में रहने चाले होने से, अनाह थे, इस कारण से कालिन्दी के किनारे से शोड़ा दूर अर्थात किनारे को छोड़ कर निकट ही वन के मध्य में सो गए। ॥ १९ ॥

आभास — तदा कालीयविशोै दैत्यो दोषाभिमानी सर्वभक्षणार्थ स्थितो पृथ्वीश्रीकृष्ण वहिनभूतः गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्रूगः इत्याह तदेति,

आभासार्थ — कालीय में जो अहृत्तर दोष रूप दैत्य था, वह और श्रुता तथा तुषा रूप जो मृत्यु था, उन दोनों ने मिलकर आतिस का रूप धारण किया, अनन्त्र वह आतिस दाहकन रूप से गोकुलवासियों को जलाने के लिए प्रकट हुई जिसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं —

श्लोक: — तदा शु विपि�नोऽवृत्तो दाहार्थ: सर्वो ब्रजः।
सुम सिन्धीश्च आवृत्य प्रदधुमुचकः भूतः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ — वन में उपनाथ दाहार्थ ने, सोते हुए व्रज को शीघ्र ही पहुँचे और से, चरे कर आधी रात को जलाना प्रारम्भ किया। ॥ २० ॥

सुध्रोधित्री — आशु प्रतिक्रियायाः — करणार्थ विपिने
स्वयंवेद्वृत्तो दाहार्थ्यंजनो वा दाहार्थसंदिग्धवन्तः
सर्वाहरात्मकाकृं जनालात्, सर्वत्र एव व्रजः वृत्तार्थार्थसमम्
वृत्तार्थार्थसमम् प्रदधुमुक्षावानि, पूर्ण हि तं स्मरहे
परिभाषितस्तथा स्मरे प्रथायंसमस्मवथितां दृष्ट्री करिग्राम्
महात्म्यं प्रदश्यविता, अन्यथा, लोकिक एव स्मरे:
व्याख्यार्थ — श्लोक के ‘आशू’ पद का भावार्थ बताते हैं कि वैर लेने के लिए अग्नि शीघ्र ही वन में अपने आप ही उत्पन्न हुई। अग्नि तथा पैदा की लकड़ियों के आपस में वर्षण से उद्भूत हुई। अग्नि जिसको दाँविनः कहते हैं, उसके सब पदार्थों को इक्कुटा कर जलाने से, सोए हुए ब्रज को चारों तरफ पेश कर, आदि रहत में जलाने लगी।

भगवान् ने कालीय दह में कृदकर तथा कालीय से युद्ध लीला दृश्य दिखाकर, ब्रजवासियों के प्रेम की परीक्षा की। अब उस स्नेह का स्थापन करते हुए, उनमें जो देह सम्बन्ध से उद्धृत हो, उसको दूर करने के साथ, अपना माहात्म्य ज्ञान भी, विशेष प्रकार से करते हैं। यदि इस प्रकार, देह सम्बन्ध दूर न करेंगे तो स्नेह लौकिक हो जाएगा। अभी तक, ये स्नेह के कारण, भगवान् के लिए उँची होंगे, किन्तु, इनका देहाभिमान नहीं गया था। वह बताने के लिए यह कहा जाता है। यदि इनमें देहाभिमान नहीं होता तो, ये ज्ञान के अधिकारी हो जाते, स्नेह के अधिकारी नहीं होते।

आभास — अत्सैवं व्याकुलतां प्रार्थनां चाह तत्ति उत्साहेऽति।

आभासार्थ — दांविन से, जब जलने लगे, तब देहाभिमान होने के कारण व्याकुल हुए और भगवान् की प्रार्थना करने लगे जिसका वर्णन निम्न तीन श्लोकों में करते हैं। इस श्लोक में उनकी व्याकुलता और प्रार्थना का वर्णन करते हैं:

श्लोकः — तत्ति उठाय भास्मान दहमान ब्रजीकः।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामानुषमिश्रस्मृ॥ २१॥

श्लोकार्थ — तब ब्रजवासी जलते हुए, उठे और घबराकर, माया से मनुष्य में बदले, परमेश्वर श्रीकृष्ण की शरण में गए। यह संदर्भ है।

सुवोधिनी — सम्पथ भ्रान्ता जाता अतिरिक्तः। ब्रजीकः कालियेन पूजितं भगवनतं दुह्यं कृष्णमेव ते शरणं दिगं देशां कालज्ञानरहितः। अस्प स्वभावातं स ययुः॥ २१॥

1- सवबेन य चितुवसि। 2 - पैदा। 3 - वन की अग्नि। 4 - देह की ममता।
व्याख्यार्थ — बहुत घबराए और विशेष निद्रा आ जाने से तथा घबराहट के कारण, देश, दिशा और समय का भी ज्ञान उनको नहीं रहा। और स्वभाव से भी, वे क्रजवासी थे जिससे अनपढ़ तथा ज्ञान शून्य थे। कालीय ने भगवानु का पूजन किया है वह देख कर वे भी श्रीकृष्ण की शरण गए।

आभास — न तु कृष्णरक्षार्थ यतं कृतवतः: प्रत्यूत स्वरक्षामेवः कृष्णं प्राधितवतं इत्याह कृष्ण कृष्णेरीत,

आभासार्थ — श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए तो उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया किन्तु अपनी रक्षा के लिए ही श्रीकृष्ण की प्रार्थना करते लगे।

श्लोक: — कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम।
एष घोरतमो वहितस्वकानू ग्रस्ते हि न:।। २२ ॥

श्लोकार्थ — हे कृष्ण! हे महान् भाग्य वाले कृष्ण! हे असीम पराक्रम वाले राम! यह महा घोर अग्नि आपके सेवक जो हम हैं उनको खा जाती है (भस्म कर रही है)।। २२ ॥

सुबोधिनी — भयाद वीप्सा, महाभागोति तव शरण+लेवस्मक्र शरणगतने न हु:।। साधारण: सत्व इति सममय्यहुः गर्भति, अभितं नोक्रमो वस्तेति, ततलवने। जः त, एकवदेवाद्वर्ष योगस्त: शीप्रशक्षकस्तवकानू वेगावानु नोक्रमो ग्रस्ते, ग्रस्ते सदेहाभावादृ हिषवः, नात:परम्पा जीवनस्वर्तेयः।। २२ ॥

व्याख्यार्थ — कृष्ण! कृष्ण! दो बार नाम भय से घबराने के कारण कहें है। हम आपके शरण आए हैं, क्योंकि आप उनकी अवश्य रक्षा करते हैं, जो आप की शरण लेते हैं; इसलिए आप शरण होने से, महाभाग कहें जाते हैं। प्रार्थना करने वाले, सर्व साधारण थे, अत: राम को भी प्रार्थना करते हुए कहते हैं, कि आप का पराक्रम तालवन में हमने देखा है, अत: आपका पराक्रम असीम है। राम और कृष्ण में भेदभाव न रखकर, प्रार्थना करते हैं कि, यह अग्नि बहुत भयानक है, अत: शीघ्र ही भक्षण करने वाली है। आपके जो हम हैं, उनको निगम रही है, इसमें किसी प्रकार का संसार नहीं है। इसलिए मूल श्लोक में (हि) शब्द दिया है। इस दशा में जीने की आशा नहीं रही है।। २२ ॥

— निक्षेप से।
आभास — ताहि कि कर्त्त्वयमित्याकादः क्षायामाहुः सुदुस्तराद्विदिति,

आभासार्थ — ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए? इसके उत्तर में, निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक: — सुदुस्तरानु न: स्वानु पाहिः कालाग्ने: सुद: प्रभो।
   न शक्नुमस्तवच्छरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम्।। २३ ॥

श्लोकार्थ — हे प्रभु! इस महादुस्तर, काल रूप अग्नि से, आपके भक्ति और मित्रों
की रक्षा कीजिए, किसी प्रकार का भी जिन को भय नहीं है, वैसे आपके चरणों का
त्याग करने में हम सर्वथा अशक्त हैं।। २३ ॥

व्याख्यार्थ — यह अग्नि काल रूप है, अतः प्रत्य करने वाली (अग्नि) है जिससे बचना कठिन है
अथवा सहन करना भी अशक्त है। इसलिए अपने भक्ति और शुद्ध हृदय वाले सम्बन्धियों की
रक्षा करो। कारण कि, भगवान्च्छाश्रय के विचार से, भवतों की रक्षा करना और लोकिक शास्त्र
के विचार से, सन्त्यक्तुमकुतो शक्नुमस्तवच्छरणमिति,
न हि मरणोपनामं विचारितं किंतु तव चरणवियोगोऽपि

व्याख्यार्थ — यह अग्नि काल रूप है, अतः प्रत्य करने वाली (अग्नि) है जिससे बचना कठिन है
अथवा सहन करना भी अशक्त है। इसलिए अपने भक्ति और शुद्ध हृदय वाले सम्बन्धियों की
रक्षा करो। कारण कि, भगवान्च्छाश्रय के विचार से, भवतों की रक्षा करना और लोकिक शास्त्र
के विचार से, सन्त्यक्तुमकुतो शक्नुमस्तवच्छरणमिति,
न हि मरणोपनामं विचारितं किंतु तव चरणवियोगोऽपि

व्याख्यार्थ — यह अग्नि काल रूप है, अतः प्रत्य करने वाली (अग्नि) है जिससे बचना कठिन है
अथवा सहन करना भी अशक्त है। इसलिए अपने भक्ति और शुद्ध हृदय वाले सम्बन्धियों की
रक्षा करो। कारण कि, भगवान्च्छाश्रय के विचार से, भवतों की रक्षा करना और लोकिक शास्त्र
के विचार से, सन्त्यक्तुमकुतो शक्नुमस्तवच्छरणमिति,
न हि मरणोपनामं विचारितं किंतु तव चरणवियोगोऽपि
आभास — एवं प्रारंभायां यत्कर्त्तयं ततौ कृत्तावानित्यहत्यमिति।

आभासार्थस — इस प्रकार प्रारंभ करने पर जो कुछ योग्य कर्त्तयं करना था वह भगवान ने किया है जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — इत्यथ स्वजनवैकल्यं निरीक्ष्यं जगदीशः।
तपगानमपिपबिच्छीद्रकमंनोजनातशक्तिश्रृङ्खलू। ॥ २४ ॥

श्लोकार्थस — अपने भक्तों की इस प्रकार घबराहट देख, अनतं शक्ति वाले, अनतं जगदीश ने उस अग्नि का शीघ्र पान किया ॥ २४ ॥

सुवोधिनी — समागमस्य वहेनिरापि एतथापि चालयं नयं तदवद्वित विलम्बं न सहतः इत्यतः कालीमांस्थः चक्ताद्यां दानार्थ तपमिश्यत्, मुखमाध्यमिश्यति। "नानेहां तपः," ननु किमितेवं कृतवान? तत्राह स्वजनवैकल्यं निरीक्ष्येत्, स हि स्वरूपान्याऽषुद्धाप्रवृत्तिः स्यापीकृतिः नथा कालान्तर्युपदेशं कृयात्, कालकृत्तकालं जाताशक्तिः महादेवस्य गर्भविनारायणः देहदशार्यजितांगार्णिविनारायणः च।

द्वाहं तपमिश्यत्, शीघ्रमिश्यति, तेषां प्रतितजजितस्यभायावायु, स्वतर्मु भायावायुः, अनंत इति ग्राहा विद्यामयवेदययम्। उत्तरादायनस्थितिभूतिः, अनन्ता एव शक्तिविभूति, गंदा जायुरुपः भोधेत् तथापि पिवेदृ यदिः जलरूपः प्रेमेतु तथापि शाम्बेदृ यदिः मुखः वा मुद्रयेत् तथापि पिवेदृं सर्वमुखरूपः तत्रेत्र वा मुखः प्रसारंयेत् तथापि पिवेदृं नात्र कृत्यान्त्यान्त्यान्त्यामित्यः। ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्गदाद्रातसुवोधिन्यायाः श्रीमहाभदर्शिकितिवर्णिताः दशामस्य-विविधविराजचतुर्दशाभ्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थस — दाह के लिए आ रही अग्नि को बुझा दे, अथवा इन ज्ञातियों को दूसरे स्थान पर ले जाये तो विलम्ब होगा। इतना विलम्ब भी यो शहन नहीं कर सकते इसलिए और कालीय शेर के सम्बन्ध से हुए दुष्पदार्थ, जो आगों की भीतर रहे हैं, उनको जला कर नष्ट करने के लिए भी, उस अग्नि का भगवान ने पान किया। अग्नि के पान करने में अन्तिम कारण थे, भगवान एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध करते हैं जैसे कि (१) भजालियों की घबराहट दूर की, (२) दुष्पदार्थों का नाश किया, (३) कल्पनाकृति के भक्षण करने से महादेव को गर्व हुआ था उसके गर्भ को भी दवानिश पान कर नाश किया, (४) यह सिद्ध कर दिखा दिया कि मेरा मुख अग्निरूप है। इसी कारण से अग्नि पान से मेरा मुख जला नहीं है ॥

= १ संदेह ॥
भगवान् स्वयं अभय रूप हैं ही, किन्तु अभिन पान करते देख कर, ब्रजजनों को भय की प्रतीति भी नहीं हो, इसलिए मूल में ‘शीघ्र’ शब्द दिया है, अर्थात् शीघ्र ही पी गए जैसे उन्होंने देखा ही नहीं।

भगवान् अनन्त अतः अनन्त शक्तिमान भी हैं। जिससे अभिन का पान एक प्रकार से नहीं, बहुत प्रकार से कर सकते हैं—जैसे कि बायू रूप होकर भी पान कर सकते हैं, यदि जल रूप धारण करें तो उस रूप से बुझा सकते हैं, सर्वत्र मुख होने से मुख बंद कर लेते हैं तो भी उसका पान कर सकते हैं जहाँ ही मुख खोल दें तो भी पान कर सकते हैं, अतः भगवान् की इस लीला करने में कोई आकर्षण नहीं है। ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वीं केतादीं १४ वें अध्याय की श्रीमद्भागवतप्राचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी ‘संस्कृत दीक्षा’ के तामस प्रणय अवास्त भाषण का या निकलक तीसरा अध्याय (हिंदी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

इस अध्याय में भगवान् कृष्णचन्द्र अनन्तकन्द की वर्णित लीला के आधार पर भक्त श्रीमती श्रीमृद्दासजी द्वारा रचित निम्न पद का पाठ कर आनन्दमय हृदये।

रगः कल्याण

जै जै धूमि अभिनि नभ कीनो।
धन्य धन्य जगदीश गुलाई अपनीं करि अहि लीनो।
अभय कियों फन चिन्ह चरण धरि जानि आपनां दासः।
जलें काण्डः कृपा करिं पठि मेरि गुरूं को त्रसः।
अस्तुति करिं अहि पति कुटुंब से चल्यो आपने ओकः।
सूर रश्मि मिलि मात पिता को दूरि कियों तन शांकः।

रगः बिहायरो

चक्रः देखि यह कहि नर नारि।
धर्मि अकाश भरवर ज्ञाला झप्पी लप्पि करारि।
नाहि बरथो नाहि छिरतो कहूँ कहाँ भो गयो बिलाई।
अति आयात करत बन भीतर क्येसे गयो बुझाई।
तृण की आमि बलत नाहि बुझाई हिंस हिंस कहत गोपाल।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभू के ख्याल।
श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
श्रीमहल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी ठीका के हिंदी अनुवाद सहित
दशम: स्कन्धः (पूर्वांचः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणो

'चतुर्थोद्धारः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १५वां अध्याय
श्रीमद्भागवत-स्कन्धअनुसार १८वां अध्याय

कारिका - उक्तः पञ्चदशोद्धारः प्रलम्बस्य वधशो महान्।
आवेशिष्यचरितं वाच्यं बलभद्रकृतं ततः। १ । ॥

कारिकार्थ - पंद्रहवें अध्याय में प्रलम्ब के वध का महान चरित्र कहा है। भगवान्
के आवेश युक्त बलभद्र का किया हुआ यह चरित्र भी भगवान् का किया हुआ ही
समझना चाहिए।

व्याख्यार्थ - जब राजा परिशिष्ट ने दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक में श्रीकृष्ण
चरित्र का प्रश्न किया है तो यहाँ श्री शुकदेवजी ने बलदेवजी का चरित्र क्यों कहा ? इस श्लोक को
भगवान् ने स्वतः प्रलम्ब वध न कर, बलदेव में प्रवेश कर क्यों किया? इस प्रकार की लीला करने का कारण यह है कि भगवान् को शिक्षा देनी थी, कि जिसमें (भक्त में अंश रूप में) मेरा आवेश होता है उस भगवतीय के संग से अन्तःकरण का दोष निवृत्त हो जाता है।

कारिका - ब्रजे गतस्य क्रीड़ा च सर्वथा कनगोष्ठयोः।
अन्तःकरणादोषश्च महानाथं निवर्त्यते॥ २ ॥

carikā - bṛjaṁ gataśy ca kriyā ca sarvātha kanagosthayoः।
antarākarana-adosh śc mahānāthaṁ nirvartyaṁ ॥ २ ॥

carikārtha - bṛjaṁ maṇḍapāt hūre bhagavān kā vaṁ ogasārojāṁ jīṁ līlāṁ cakalinaiḥṁ
aṁ sametaṁ mahānāthaṁ anantarākarana dōṣaṁ naśaṁ kīyaṁ geyaṁ hāṁ
caritārtha - १५वें अध्याय में वन लीला का वर्णन है और गोश्लीला का वर्णन १६वें अध्याय में है, तो भी, कारिका में दोनों लीलाएँ, एक ही दिन भगवान् ने की हैं, इसलिए कारिका में दोनों लीलाएँ साथ में दी हैं।

lokaṁ maṁ lakṣitakau gurūṁ bhī kriyāṁ maṁ yadī apanaṁ se vadhāṁ paścaraṁ karaṁi paḍhitī hoto to, vē nāṁ karaṁ hāṁ kaṁpānāṁ yati esaśīṣṭaṁ karatā hāṁ, kintu gosāṇāṁ kā bhagavānṁ maṁ saṁhitā hāṁ tō bhī, khetāṁ, saṁvarī karaṁ kā abhāsam ayyaṁ, tō bhagavānṁ kau upara saṁvarī karaṁ maṁ, anantarākaranaṁ pravṛttiṁ hūiṁ, ēs pākaraṁ, sīṣṭaṁ karaṁ kau tyāgam kā karaṇaṁ, abhāsam koṁhāṁ hōna chahitē, vah karaṇaṁ thā, anantarākaranaṁ kā doṣaṁ, jisāṁ bhagavānṁ me pralambhaṁ (anantarākarana kā doṣaṁ rūpāṁ) kā vadhāṁ kar niwṛtiṁ kīyaṁ hāṁ pralambhaṁ kau vadhāṁ se unakaṁ anantarākaranaṁ kā doṣaṁ niwṛtiṁ hūaṁ, jisāṁ, unakāṁ bhagavānṁ ke liyā śīrṣap prem bhadhaṁ, ēsāṁ bhagavānṁ ko anusmṛntaṁ diye ॥

abhāsā - evam pūrvaśāstrānāṁ daivānmaṁchitaṁ ityuktaṁ, tat: svasthānaṁ kṛtyamaṅghēti
bhūtvākamṣaṁ,

abhāsārtha - ics prākaraṁ १५वें अध्याय के अन्त में की हुई लीला से ब्रजवासियों की खस्ता को! उसके अन्ततः अपने स्थान में की हुई लीला का वर्णन, पृथक्क्रम से करते हैं।
श्लोक: — अथ कृष्णः परिवर्तो बन्धुभिनुविदितात्मभिः।
अनुगीयमानो व्यविष्ठः ब्रजं गोकुलमपितामहः॥ १ ॥

श्लोकार्थः — श्री शुकदेवजी ने कहा कि प्रसन अन्तःकरण वाले, बान्धवों से घिरे हुए और स्तुति किये हुए श्री कृष्णचन्द्रजी ने गोपों के समूह से सुशोभित ब्रज में प्रवेश किया।

सुबोधिनी — प्रातःकाले जान सत्यं सह भगवान् क्रोडार्धं में विविधत्वं: सर्वं रेव बन्धुभिनुविदितात्मभिः सत्यं सत्यं बन्धुभिनुविदितात्मभिः सत्यं सत्यं गोकुलमपितामहः तस्मिन् दिवमस्त गोविंदवं गोकुल एव समानीता न तु कथितं॥

चारणार्थः गतं: एततः पूर्वः गाः स्वस्थानस्थिता: कार्यिन्यं पाध्यत् स्वर्यं प्रविष्टं इति ज्ञाते: एवमथेन प्रवाहिततत्त्वः। अन्यथा दोषाधारे दोषाणाः नियत्थपर्मतवाद् धर्मांपि गच्छेत्॥ १ ॥

व्याख्यार्थः — प्रातःकाल होते ही, सर्व ब्रजवासियों के साथ क्रृष्ण करने के लिए ही, भगवान् प्रकट हुए, सब बान्धवों से घिरे हुए थे और अत्यन्त प्रसन उन से स्तुति किये हुए थे, वैसे भगवान् गोपों के समूह से सुशोभित ब्रज में प्रविष्ट हुए। उस दिन गोपों को चराने के लिए कोई भी बाहर न गया था। सब गोपों भी गोकुल में लाई गई थीं, इससे प्रथम, सकल गोपों को अपने-अपने स्थान पर खड़ी करवाने के पश्चात् आपने प्रवेश किया।

इस प्रकार, एक ही श्लोक से, यह कह दिया कि सब लोग ब्रज में लौट कर आ गए। यदि लौट कर न आते तो नियतः धर्म वाले दोषों का अभाव होने से उनके धर्मी (शरीर) के भी नाश हो जाने की आशा होती। ॥ १ ॥

† पिछले अध्याय में कालीय दमन और द्राविनी पान से, हृदय तथा प्राण के दोष निवृत्त किए, उससे हृदय और प्राण भी नाश होने चाहिए, क्योंकि उनके धर्मों का नाश हो गया है, धर्मनाश से धर्म नाश हो जाता है, किन्तु यह इस प्रकार नहीं हुआ है यह दिखाए ने लिए वे ब्रजवासियों भगवान् के साथ ब्रज में लौट कर आ गए हैं। धर्मों का नाश क्यों न हुआ उसका कारण यह है कि शरीर नाश तब होता है जब अध्याय को निवृत्त होता है ब्रजवासियों के लोक दोष धर्मांस निवृत्त हो गया, किन्तु अलौकिक भगवस्कर्षी अध्याय निवृत्त नहीं हुआ था, जब धर्मांस का नाश नहीं हुआ उससे तो ब्रजवासियों को भगवान् के साथ क्रृष्ण कर सस पान करना था।

ऱ-निश्चित — पक्षः। २-नाश।
आभास — अर्थ सवृद्धि दोष: कालकृत इति ज्ञापितुं ग्रीष्मोपदेव वर्ण्यति भूमिगुणेन च स्वसानिध्यकृतेन तद्विषपरिहार इति कालकृतोऽनः करणदोष: स्वसानिधिसहितपदार्थस्तिनिर्विश्वासत्तिविश्वसतीति सूचयति ब्रजे विक्रीडातोरवामिति,

आभासार्थ — पूर्व अध्याय में कहे हुए दोष, काल के कारण उत्पन्न हुए हैं यह जताने के लिए ग्रीष्म ऋतु के उपद्रवों का वर्णन करते हैं।

भगवान् की सत्तिधि से, जो गुण, भूमि में आ गए उन गुणों से उन दोषों का नाश हुआ। इस प्रकार, काल ने जो अन्तःकरण दोष उत्पन्न किए, उनका भी भगवान् के सानिध्य वाले पदार्थों से नाश होगा। जिसका वर्णन दो निम्न श्लोकों से करते हैं।

श्लोक: — ब्रजे विक्रीडातोरेवं गोपालच्छवास्पिणोऽ ।
\[ ग्रीष्मो नामतृभवन्नू नातिप्रेयाज्जूर्सीरिणाम् \] ॥ ॥

श्लोकार्थ — जिस समय छल से, गोप रूप धारी (श्रीकृष्ण और बलराम) ब्रज में क्रीडा कर रहे थे। उस समय शरीरधारियों को विशेष रुचिकर नहीं, ऐसी ग्रीष्म नाम वाली ऋतु उत्पन्न हुई। ॥ ॥

पुबोधिनी — ब्रजे गोपानावानों निवेशस्थाने प्रसिद्धं अनुसरणो शतोः ग्रीष्मो नामतृभवविदितासमस्याः
ननु नि भगवान् विद्यामाने कायमनभित्रेः ग्रीष्मस्ततोगत इत्यय आह गोपालेव, गोपाल इत्च्छाय कपपूर्तम् यः।\n
आयतार्थ — जहाँ गोप और गैंडों का प्रसिद्ध निवास स्थान है, जो ब्रज कहलाता है उसमें दोनों (श्रीकृष्णजी और बलरामजी) खेल रहे थे उस समय ग्रीष्म ऋतु आ गई, साक्षात् भगवान् के विराजमान होते हुए अस्तिल्कार ग्रीष्म ऋतु आई है, यदि एक को भी पहचान जाती, तो न आती। ग्रीष्म ऋतु दोष वाली है, इसको बताने के लिए ही कहा है कि शरीरधारियों को यह बहुत प्रिय नहीं है। बहुतों को यह प्रिय नहीं है, किन्तु शीतों से जो धरते हैं केवल उनको प्रिय है। ॥ ॥

आभास — ताहि तत्त्रिवृत्त्वर्थं भगवानाविभावम् कुण्डयित्याशुद्धक्य तस्य दोष्यायायः—

---

1-सरो + ठंड।
- थैव निवृत्तिमाह स चेति,

आभासार्थ - इस प्रकार दोष वाली ऋतु की निवृत्ति करने के लिए भगवान् को प्रकट होना चाहिए, इस रात्रि के उत्तर में कहते हैं कि उस ऋतु के दोष की निवृत्ति, अन्य प्रकार से हुई हैः जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः - स च वृद्धवानगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।
यत्रास्ते भगवानु साक्षादू गमणेन सह केशवः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ - वह (ग्रीष्म ऋतु) वृद्धवान के गुणों के कारण वस्त्र के समान देखने में आई, जिस (वृद्धवान) में बलरामजी के साथ भगवान् केशव साक्षात् विराजते थे।

सुबोधिनी - चक्कराद्येशपि दोषा बलादयो
वृद्धवानस्य ये गुणा वशमाणस्यात्: कृत्वा बसन्त इव
tतर्लतीलस्यो जगः: वसन्ते श्रीतोषणयो: समता, गीतादिकृ
श्रीताधिक्यं श्रीप्राधिकृ तापाधिक्यं च, ससो देशः
श्रीतनकः सवात्श्र, तदुपकाले श्रीतनको देशः
समस्तामापादविति, अतो वसन्तव्य, स्वाभाविकाः। एव
वृद्धवानगुणा आधिभौतिकवसन्तव्य वसमायणविता
आध्यात्मिकवसन्तव्य भगवत्सहित आध्यात्मिकवसन्तव्यमिति,
अत: सर्वधेन वसन्तव्य दृष्टि, तद्दह वृद्धवानगुणैर्वसन्त
इव लक्षितः इति, देशार्थे श्रीप्राधिकाः

व्याख्यार्थ - मूल श्लोक में 'न' शब्द देने का आशय यह है कि ग्रीष्म के ताप आदि दोष के अतिरिक्त अन्य वाषु आदि के दोष भी निवृत्त हो गए।

वृद्धवान के गुणों का वर्णन जो आगे किया जाएगा, उन गुणों के कारण, ब्रजसिद्धों ने 'इस (ग्रीष्म) ऋतु' को वसन्त ऋतु के समान समझा। वसन्त ऋतु में शीत व ग्रीष्म दोनों समान होते हैं। हम ऋतु में ठंड विशेष होती है और ग्रीष्म में ताप अधिक होता है।

１-ठंड। 2-ताप या गरमी।
प्राकाश — वृद्धावनगुणानां यत्रेति त्रिभिः।

काल व्यापक (सर्व स्थल से रहने वाला) होने से बलवान है। "प्रकाश"
आभासार्थ – निम्न तीन श्लोकों से वृद्धावन के गुणों का वर्णन करते हैं।

श्लोक: – यत्र निःशिरमनिर्दृशीमतिभव्यस्वुच्युति श्यामति
श्रवणत्यत्रनीच्चिकर्जीर्जुर्मण्डलमण्डलमण्डलतमम। ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – जहाँ ज्ञान के शब्द से, ज्ञानीं का शब्द सुनने में नहीं आता है और निरंतर ज्ञान की बूढ़ों से युक्त सार रहित छाल वाले वृक्षों का समूह शोभा दे रहा था। ॥ ४ ॥

कारिका – राजस्: सात्विकश्रृेष्ठ तामसश्रापि कीर्त्यते। ॥

कारिकार्थ – वृद्धावन के रजस, सात्विक और तामस गुणों का वर्णन (क्रमशः निम्न तीन श्लोक में) किया जाता है।

सुव्रोधोनी – तत्र रजसं गुणानाह, यत्र वृद्धावनानि निःशिरमनिर्दृशीमतिभव्यस्वुच्युति श्यामति। तत्र निःशिरस्मृतिः सर्वदा तत्त्वभूतसंविधियोऽक्षरे श्रवणते मण्डलमण्डलमण्डलमण्डलात्मकः। ॥

सहितमृत्वश्रः तत्त्वातु दुमाभवन्तत्त्वादि भवति तेऽरूपं मण्डलात्मकः च। निःशिरमात्राय श्रवणात्मकः। ॥

व्याख्यार्थ – इस श्लोक में रजस गुण का वर्णन करते हैं। यह वृद्धावन में, ज्ञानों के शब्द से ज्ञानीं का शब्द सुनने में नहीं आता है, वैसा ही वह बन सदा ही ज्ञानों के बिन्दुओं से युक्त, सार रहित छाल वाले सज्जातीयों और ज्ञानीं बूढ़ों से मिलकर एक ही मण्डल होकर शोभा दे रहा था।

जैसे ज्ञानों के सुंदर शब्दों ने ज्ञानी के ऊपर शब्द को कम कर दिया अर्थात् वह (बुरा शब्द) सुनने में नहीं आता। वैसा ही यह हरण करने वाली प्रीतम श्रावकों ने तथा ज्ञानी ने वृक्षों का रस शुक्र कर अथवा चूसकर, वृक्षों का भी बन दिया था, उनके ज्ञानों की बूढ़ों ने रस प्रदान कर, पूर्व ज्ञानों, वा चसना जेसा, हरा-भरा बना दिया। अतः कहा है कि अनिष्ट शब्द का सु शब्द वापस कर और रस करने वाले का रस दाता बाधक है। ॥ ४ ॥
आभास — तपविवारक वायुमाह सरिदित,
आभासार्थ — तप को मिलने वाले वायु का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — सरितसः प्रमवाणोर्मिवायुना कहारकोत्पलेनुपहरिणा।

न विद्यते यत्र वर्णक्षे दवो निदायत्वहयर्कभवोज्वतिशाङ्खले।॥ ५ ॥

श्लोकार्थः — जहाँ नदी, तलाबों तथा झरने की लहरों से मिश्रित, कलहर, कमल और उत्पत की जल को हरने वाला वायु चल रहा है, जिससे वह भूमि, हरित तुष वाली ठंडी हो गई थी, अतः उस वन में रहने वालों पर ग्रीष्म, अग्नि और सूर्य से होने वाले तप का प्रभाव कुछ नहीं हुआ।॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः — राजस नदी, सत्त्वक तलाब और तामस झरने इन तीनों की लहरों से उतपन्न हुआ पवन, शीत तथा मन्द था। और वह पवन, सत्त्वा में विकसित होंने वाले कलहर के पुष्प, दिन में विकसित होनेवाले कमल तथा शहत्र को प्रभावित होने वाले उत्पत, इन तीनों की रेत को हरण करने से सर्वदा सुगन्धित वाला रहता था, जिसके बन में रहने वालों को जो गर्मी के कारण अग्नि और सूर्य से होने वाला तप था वह कुछ भी दुःखदर्शी न हो सका अर्थात शीत, मन्द और सुगन्धि युक्त वायु से तप लगा नहीं करता। इस कहने से यह भी चलता है कि पितादिसे भी तप होता है। वह भी नहीं हुआ। तथा भूमि हरित चास वाली शीत होने से भूमि कृत तप भी न हुआ। तत्त्वेऽ यह है कि ग्रीष्म, वसन्त समान हो जाने से उसका कोई प्रभाव किसी पर भी न हुआ।॥ ५ ॥

आभास — शिर्पनिपुण गुणानाहारां तर्यं यत्र,
आभासार्थः — ग्रीष्म को वसन्त बनाने वाले गुणों से अन्य जो गुण वृद्धावन में है, जिन गुणों में रस जागृत होता है उन गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।
श्लोकः — अगाधतोया हिदिनितोर्मिभिर्वतुप्रीया: पुलिनः समनतः।

न यत्र चण्डांशुकरा विषोत्ल्वना भुवो रसं शाहवल्लं च गृहणते ॥ ६ ॥

श्लोकार्थः — जहाँ अगाध जलवाले सरोवरों के तट की उर्मियों से तीर की मिट्टी चारों तरफ दबीभूतको हो रही है, वैसी भूमि के रसः तथा हरियाली को, सूर्य की विष से भी तेज़ किरणें चूसने में समर्थ नहीं ॥ ६ ॥

श्लोकार्थः — जहाँ अगाध जलवाले सरोवरों के तट की उर्मियों से तीर की मिट्टी चारों तरफ दबीभूतको हो रही है, वैसी भूमि के रसः तथा हरियाली को, सूर्य की विष से भी तेज़ किरणें चूसने में समर्थ नहीं ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः — अगाध जलवाले सरोवरों के समीप होने वाली लहरों से, चारों और गली हुई मृतिका वाली, रस भरत तथा हरित भूमि के रस को एवं हरियाली को विष से भी प्रचंड सूर्य की किरण ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः वृद्धावन की भूमि सदैव रस वाली रहती है । इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि, वृद्धावन के चारों ओर सरोवरों के किनारों की लहरों से पुलिनः ॥ भीगे हुए रहते हैं जिससे वहाँ सदा ही मध्य में तथा बाहर शीतलता रहती है । मूल में तथा ऊपर के भाग में, अधिक रस होने से, शुष्कता का अभाव रहता है जिससे पृथ्वी पर रस तथा हरियाली का, कभी भी अभाव न होने से, वृद्धावन की सरस्ता का निरूपण किया है ॥ ६ ॥

आभासः — अन्यानूर्व वनधर्मानाह वनमिति,

आभासार्थः — इस निम्न श्लोक में वन के अन्य धर्मों का वर्णन करते हैं—

श्लोकः — वनं कुसुमितं श्रीमतदच्चित्रमृगद्विजम्।

गायनमयूरभ्रमं कृजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थः — पुष्पों से समृद्धत तथा सुन्दर, सुशोभित वन, जिसमें विचित्र पशु तथा
पश्ची नाद कर रहे हैं, मयूर और भौंरे गा रहे हैं एवं कोयल तथा सारस कूजने कर रहे हैं।

व्याख्यार्थ — प्रीमा त्र्युत्तम में प्राय: पुष्प उत्पन नहीं होते हैं, किन्तु यहाँ पुष्पों की समृद्धि थी, जिससे वन सुशोभित था रजोगुण शोभा बढ़ता है, पुष्प रजस है, अतः उन के कारण, वन सुशोभित था। वन का रजस भाव बताकर अव सात्तिक भाव बताता है, मृग और पक्षी सात्तिक होते हैं, वे वहाँ नाद कर रहे थे एवं कोयल तथा सारस कूजन करते थे। इस प्रकार नाद तथा गान से, जब रस प्रकट होता, तब कूजन प्रारम्भ होने लगता। अतः तीनों का वर्णन किया है। सब में दो-दो कहने का तात्पर्य यह है कि एक से कारण की पूर्णता नहीं होती है। ध्यान ही तब उसकी पूर्णता के लिए अन्य की अपेक्षा होती है इसलिए नाद कर्ता मृगों के साथ पक्षी कहे हैं। इस प्रकार गान में नृत्य चाहिए, नहीं तो गान पूर्ण न होए अतः गान करने वाले भ्रमरों के साथ मयूर शूलिम किए गए हैं। कूजन है पर पुष्प की अपेक्षा है अतः सारसों के साथ कोयल कही है। तात्पर्य यह है कि बन में भगवान का क्रीड़ा करना है अतः बन के गुणों का वर्णन किया है।

आभास — एवं वनगुणानुक्त्वा तत्र भगवत: क्रीड़ा वक्तुमादौं भगवत: प्रवेशामाह क्रीडिगमाण इति,

आभासीर्थ — इस प्रकार वन के गुणों का वर्णन कर, अर्थ भगवान को जो क्रीड़ा करनी है, उसको कहने से पहले, क्रीड़ा कर्ता भगवान का, निम्न श्लोक में, प्रवेश का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — क्रीडिगमाणस्ततु कृष्णो भगवानूं बलसंयुत:।
वेणुं विरंगनं गौरैगौरधने: संवृतोविशिष्ट।।

श्लोकार्थ — क्रीड़ा करने की इच्छा वाले गोप और गोधन से घिे हुए भगवान् कृष्ण ने बलदेवजी के साथ वैसे सुन्दर वन में प्रवेश किया।

---
1 मयूर ध्यान। 2-पशुओं। 3-अस्म्य मयूर ध्यान। 4-दूसरे से पुष्प होने।
व्याख्यार्थ - झन्म जो इतने गुणों का प्रादुर्भाव किया, जिसका कारण, भगवान्को यहाँ क्रिड़�रने की इच्छा थी। झन्म, इस प्रकार, गुणों को प्रकट कर, क्रिकृष्ण क्रिड़�े के लिए भगवान लले को साथ ले कर वहाँ आत्मविवेक हुए। इस प्रकार तारं अपना धर्मे एवं सातवाँ बल, इस सात स्वरूपों से क्रिड़ करनें, अत: उसका वर्णन सात शलोकों से कहेंगे। झन्म में प्रवेश करने के समय, वेणु बजाने का आशय यह था कि वहाँ के देव जगृत हो जाएं। गोपों को सेवा के लिए और गोधन, धर्म तथा अर्थ के लिए साथ में लेकर पढ़ते हैं। इस प्रकार पढ़ते से रस का प्रारम्भ हुआ, यह कहा।

आभास - सामान्यत: प्रथमत: क्रिक्रियामह सर्वेषां प्रवालयति,

आभासार्थ - इस निम्न श्लोक में सब की सामान्य क्रिड़ा का वर्णन करते हैं-

श्लोक: - प्रवालबह्स्तकस्रग्धातुकृत्वभूषणः।
कृष्णरामायाद्यो गोप नन्तृत्युयुधुर्जुः। प्रीति

श्लोकार्थ: - क्रिकृष्ण, राम आदि सब गोपों ने प्रवाल, मोरपिंछु, पुछों के गुंडे माला और धातु इनके आभूषण धारण कर, परस्पर सामान्य क्रिड़ा की, जैसे कि कभी नृत्य करते थे, कभी गुढ़ करते थे और कभी गाते थे।

सुबोधिनी - प्रवालानि पल्लानि बह्स्तकासानि मुरुगुथानि सजः पुष्पमाना धातों गंगिकादर्शः क्रिकृष्ण भूषणानि वै: परन्तु हि वनभूषणानीति गणितानि,

साधनार्थकृष्णातू कृष्णरामोऽथलाजी बाद्दलेः ते सर्वे गोपा नन्तृत्युयुधोविवि विवि विवि।

व्याख्यार्थ - कृष्ण राम आदि सब गोपों ने पाँच प्रकार के आभूषण धारण किए, 1-पल्लाव के, 2-मुरुगुथाव के, 3-पुष्पों के गुंडे से, 4-पुष्पों के मालाओं से, 5-गर्मिके धातुओं से। इस प्रकार

1-क्रिया साधित । 2-प्रकट । 3-गुण ।
पाँच तरह के आभूषणों से भूषित हो, गोपों क्रीड़ा करने लगे। १-नाच करते हुए मनोविलासः करते लगे, २-युद्ध करते हुए, देह का विलासः लेने लगे, ३-गान करते हुए वाणी का विलासः प्राण करते लगे।

आभास — भगवतो लीलामाह कृष्णस्येंति,

आभासार्थ — २च श्लोक में गोपों की लीला कही अब इस निम्न श्लोक में भगवान् की लीला कहते हैं।

श्लोक: — कृष्णस्य नृत्यः केचिजु जगुः केचिदवादयन्।
बेणुपाणिणिदलः: श्रुति: प्रशशांसुरर्याय्ये ॥ १० ॥

श्लोकार्थ — श्रीकृष्णचन्द्रजि के नृत्य करने पर, कई गाते थे, कतिपय बंशी करताल और सींग बजाते थे और अन्य प्रशंसा करते थे ॥ १० ॥

सुमोधीनी — शिक्षार्थ लोकों नृत्यप्रमिदयथं च भगवतो
नृत्यः: सतो नृत्यायत्रैः कीत्वात् अयं कृतवत्:, केचिजुः
जगु: केचिदवादयत्रिति, बेणु: श्रुतिपुरुषः पाणिः: शब्दंचार्यः
करोति, दलान्यश्यथपन्तोदिनि गोमुखचन्द्रयं कुर्विन्। शुद्धाणि
चारायन्य, अथापेपे प्रशशांसुरर्याय्ये, कुर्विन्। नृत्यसम्बन्धप्रशशास्तः: 
स्वतं-प्रशशास्ता भिषाः ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् नृत्य विद्या की शिक्षा के लिए तथा लोक में नृत्य की प्रसिद्धि के हेतु नृत्य करते थे, तब अन्य नृत्य में सस को उपन करने के लिए उसके अज्ञातः गायन तथा वादन करने लगे, बेणु ‘श्रुतिपुरुषः’ है यथा से शब्द के समान ध्वनि हो रही थी, पीपल के पते गी के मुख के शब्द के समान शब्द करते थे और सींग बजाए गए, तथा अन्य नृत्य सामान्य शब्दं प्रशंसा पृथक प्रकार से कर रहे थे ॥ १० ॥

इस ९ वे श्लोक में कही हुई क्रीड़ा कंगल गोपों ने की है, भगवान् की क्रीड़ा का वर्णन १० वे श्लोक में है।

लेखः

इस श्लोक का तात्पर्य श्रीकृष्ण का नृत्य ही है, गान और वादन का वर्णन नृत्य के अंतः के रूप में कहे गए है।

लेखः

—अन्तः को प्रशंसः अन्यायाप्ताः कृष्णायाः पुण्यः 
—शब्दः को पृयृतः करस्त्वाति ।
आभास - नवने कथन प्रश्नान्दिक वृत्तवादोज्ञाने प्रश्नान्दिकम्भवाज्ञाने महतो
लोकमहाप्रश्नान्पपतितरत्याशैक्षाय गोपजातिप्रतिच्छेद्याः इति,

आभासार्थ - गोपों को यह ज्ञान था कि, श्रीकृष्ण भगवान है, महापुरुष सब कुछ कर सकते
है तब प्रश्नां करने योग्य नहीं, इस शंका के उत्तर में यह निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोकः - गोपजातिप्रतिच्छेद्यास्मा देवा गोपालसिपिणः।
ईवंद्रे कृष्णारामो च नता इव नतं नृप। ॥ ९॥

श्लोकार्थः - महाराज! देवगण गोप जाति से अपने को गुप्त बना कर, कृष्ण
और राम को वैसे स्तुति करने लगे, जैसे नत, नत की बढ़ई करते हैं। ॥ ९॥

सुवर्णिनी - यथा भगवान प्रतिच्छेद्यं वन्मुक्तसेवकां
अथ गोपजातिप्रतिच्छेद्याः जातः, इदं विवेचनानी गोपालसिपिणः
संमागता इत्याशंकोऽवत्तयते गोपालसिपिणः इति,
गोपपुम्पुक्तस्वासेवकान्त्र्यप्राविष्टश्चक्ति तथानां स्वासेवकाने
तथांस्वपनां कथमेवं धार्मिकं आह नताः। इव नतं
नृपति, नताः विस्मिकाट्टमाङ्कन परिध्यायोगिनः
प्रश्नान्दिक तद्विद्ययः। ॥ ९॥

व्याख्यार्थः - जिस प्रकार भगवान ने अपने को मनुष्य रूप से छिपा रखकर है,
वैसे ही उनके सेवकों ने भी अपने को गोप जाति में छिपा रखकर है।

सेवक, नटों के समान, अब गोप वेश धारण कर, गोप बन कर नहीं आये हैं, किन्तु गोप जाति
में उत्तम हुए हैं, उस गोप रूप देहों में ही, देव स्वरूप का आवेश, 3 जन्म समय में किया था; अतः
कृष्ण और राम की स्तुति करने लगे। यह भी शंका नहीं करनी कि, सेवक होकर वैसी धृष्टि कैसे
की? क्योंकि जैसे नट, नट की प्रशंसा करते हैं वैसी उन्होंने प्रशंसा की है। कारण कि इस समय
दोनों का रूप वेश नट के समान था, स्वामि, सेवक भाव नहीं था अतः किसी प्रकार धार्मिक नहीं
है। ॥ ९॥

आभास - पुनर्घागवतो नानाविधक्रोड़माह भ्रामणेतिः

आभासार्थः - इस निम्न श्लोक में पुनः भगवान की अनेक प्रकार की क्रोड़ों का वर्णन करते
है।

-प्रवेश ॥
श्लोक: — भ्रामणौर्ल्लो। क्षेत्रप्रस्फोटनविकर्षण।
चिक्रायेतृतुनियुद्धन काकपक्षधरृ कवचित् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — कभी, कभी, काक पक्ष धारण किए हुए, ये दोनों भाई, चकरी खाना, कूदना, पेंकना, ताल ठोकना, खेँचना, बाहु युद्ध करना आदि अनेक खेल खेलने लगे ॥ १२॥

सुबोधिनी — मलयुद्ध होते प्रकारः। लीला, चिक्रायेतृ, क्रोडः कृतव्रती साहुयुद्धन, कवचित्
अन्योन्यहस्तस्वर्णिन भ्रमान्ति हस्ताहं भूता च भ्रामणं,
एतद् बलानामापि भवति, तथोहद्दृष्टि, उच्चरूपूर्वी मगनादिपु
च गहनां वोधहुनां, क्रे: प्रकष्णं, तिस्सकारिद्विना, आस्फोटन।
बाहुस्फोटन, विकर्षण नियमस्थाने बलायणम्, एतवंशविशा

व्याख्यार्थ — एक दूसरे का हाथ पकड़ कर घूमना, दोनों हाथ मिलाकर घुमाना, मलयुद्ध में इस प्रकार भ्रमणं और भ्रामणं की क्रियाएँ होती हैं। यह खेल बच्चों भी करते हैं। इसी प्रकार उच्च भूमि से कूदना, गड़े में कूदना, अथवा मलय में कूद जाना तिस्सकार करना वा दूर फेंक देना। बाहुओं को ठोकना, बल पूर्वक नियममित स्थान पर ले जाना। इस प्रकार पाँच तरह की लीला, बाहु युद्ध से करने लगे। क्रोडः करने के समय कृष्ण और राम के, काक पक्ष के समान बाल, कानों के समीप थे।

आभास — एवं भगवतो नृत्यमुक्तवा भगवत्सनिधिनेऽन्येषं नृत्यमाह कवचित्नृत्यस्विति,

आभासार्थ — भगवान् की नृत्य आदि लीला वर्णन करने के अनन्तर अब भगवान् को उपस्थिति में अन्यों के नृत्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक: — कवचित्रृत्तयुत्सु चान्येषु गायको वादको द्वयम्।
शास्रसतुर्म्महाराज साधुसाधिविवादिन्य। ॥ १३ ॥
श्लोकार्थः — महाराज! कभी अन्य नाच करते तब आप दोनों भाई गाते हैं और बजाते हैं, वाह वाह कहते हैं और प्रशंसा करते हैं। ॥ १३ ॥

शुबोधिनी — अनेको नृत्यसत्स संयं गायको वादको च, चक्रानंदेनेव गायको वादकानंदेनेव वादकम् स्वयं गायकाचितिः, किंतु सत्यमेव शर्ससुरुत्यदन्तप्रेषणायथि। साधुसाधितवादिनी कविचिद् भवतः कविचिद् विशेषेण सांसतः स्तोत्रं कुरुतः कविचिद् विशेषेणानुसारणम् वा ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः — अन्य (गोप) नाचते थे तब आप गाते और बजाते थे, मूल श्लोक में आए हुए 'चर्' शब्द का आशय कहते हैं कि, अन्य गाते थे, तो आप बजाते थे तथा अन्य बजाते थे, तो आप गान करते थे और अपनी इच्छा से ही, उनकी बड़हाँ करते, कभी दूसरों की प्रेरणा से भी, वाह वाह कहते थे। कभी तो, विशेष स्तुति करते थे और कभी विशेष प्रकार से मृत्यु की शिक्षा देते थे। ॥ १३ ॥

अथार्थः — एवं शाखानुसारितीलामुक्ता केवलबालकसम्प्रदायप्रसिद्धं लोलमाह कविचिद् विल्यैरितः।

अथार्थः — इस प्रकार शाखा के अनुसार, जो लीलाएँ की, उनका वर्णन कर, अब लोक में, जिस प्रकार बालक खेल खेलते हैं, उस प्रकार से खेल कहते हैं।

श्लोकः — कविचिद् बिल्चे: कविचित् कुम्भे: कव चामलकमुख्तिभि:।
अस्पृश्य नेत्रबन्धाधि: कविचिन्मृगरक्षोहया ॥ १४ ॥

श्लोकार्थः — कभी बिल्चे फलों (बेलों) से, कभी कुम्भे के फलों से, कभी आमलों से, कभी मुर्गों से, कभी छूने न देने से, कभी आंख मिलने से, तथा कभी हरिणों व पक्षियों के अनुक्रम करने से (खेलते थे)। ॥ १४ ॥

शुबोधिनी — विल्वस्त्रानां क्रोडः कंदकुक्तत्र कृष्णां वृषभां, कुम्भफलानि सुभवाणि, तत्सह: क्रोडः लाभः। सुभवांप्रभावनां कुम्भां कर्मनि वर्तितात्त्वितात्त्वित, नेत्रबन्धकर्मुक्तिक्षेत्रिति प्रसिद्धा। आदिशबद्देन निलालक्रमेऽष्यं वश्वति, अयधक्रोडःकुदक्कन्धः च, तथा कादकुसतस्ताप्ताणि जलस्थलयोऽ कविचिद्रियणात्रा हरिणाकृिति विवधाय नृत्यं कूर्वित्ते, खगवनं मयुषिदिकव- दिशुनकर्विता ॥ १४ ॥

१—चार।
व्याख्यार्थ — जैसे गंद मंकने का खेल वालक खेलते हैं, कभी, उसी प्रकार, विलुप्त फलों से खेलने लगे, कुछफल तथा आमल छोटे होते हैं, लाख के सूक्ष्म पिड़ों से जैसे खेला जाता है, वैसे उनसे खेलने लगे, कभी मुद्रियों को धुमाने की क्रौड़ करने लगे तथा कभी एक अपने को छूने नहीं दे और अन्य
उसके किसी प्रकार भी छू लें, इस प्रकार की क्रौड़ करते थे (जिस क्रौड़ को करने का अभ्यास वर्तिका
में कहते हैं) कभी आँख मिली खेल खेलते थे, श्लोक में आदि शब्द से अन्य लोक प्रसिद्ध
क्रौड़ करते हैं जैसे कि छिप जाने की क्रौड़ जिसका आगे वर्णन होगा, तथा एक दूसरे के पृथ दे पर चढ़ना, एक
पैर से चलना, जल तथा धार तथा कपाल से खेलना और कभी हरिण तथा मगूर बनकर नाचना, इस
प्रकार की अनेक क्रौड़ करने लगे।

आधमास — एवं स्थलस्थानमूलका जले प्रकारविशेषता स्थानामूलका कविच्चेति,

आधामासार्थ — इस प्रकार साधारण रीति से स्थल की क्रौड़ का वर्णन कर अति विशेष प्रकार की
जल क्रौड़ का वर्णन करते हैं।

श्लोक — कविच्चच दुर्घर्गलावैविविधिद्विस्यप्रयासकाः।
कदाचिन्ति स्मृदलोक्या कहिँचिन्तुपचेभयाः।

श्लोकार्थ — कभी मेंढकों के समान कूदने से, कभी अनेक प्रकार के हास्यं करने से, कभी झूलों से, कभी राजा के वेशों का धारण कर राज्य क्रौड़ करने से (खेलते थे)

सुबोधिनी — कविचिद् दुर्घर्गलावैविविधिद्विस्यप्रयासकाः।
कदाचिन्ति स्मृदलोक्या कहिँचिन्तुपचेभयाः।

दोलार्थ एवं भवति, स्मृदलोक्या दोला स्मृदलोक्या वा, बृहभाविताय त्रै भवति; प्रसातवितवाद्यं यथं
ब्रजस्थानां रंगस्य नर्तकम् स्मृदलोक्या कदाचिचिद्विस्यप्रयासम्।

ईश्वरेश्वर आचार्य श्री का निजाम स्थान था।

1- गाले । 2- भूमि । 3- खपर तथा ठीकरे । 4- हैसी, ठढ़ा
याक्षार्थः - कभी तद्ग्राह जा अल्प जल जलाय देलों में, मेंढक के समान पादों की ऊपर कूदने को कठिन क्रृड़ा भी करते थे, कठिन होने के कारण, अब वह क्रृड़ा बालकों में प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् अब के बालक वह क्रृड़ा नहीं करते हैं। इस क्रृड़ा में कूदना, किसी पदार्थ को भी उद्वेगन कर जाना आदि विविध प्रकार के थे और हास्य भी अनेक प्रकार से करते थे।

कभी भगवान् राजा बनते तब गोप कहार बन राजा को पालकी में विराजमान कर अपने कंधे पर पालकी को उठा के चलते थे, कभी गोप स्वयं पालकी बनते। वह पालकी झुलती पालकी होती थी जिसका संस्कृत में 'स्पन्दोलिका' कहते हैं। जिसमें दो गोप बैलों के समान आगे के भाग को लेकर चलते हैं। एक गोप बीच में एक बाहर को लंबी कर उसको पकड़ कर चलता है, परस्पर हाथ मिलाकर चार गोप मिलकर भगवान् को लेकर चलते रहते हैं। कभी किसी स्थल पर भगवान् सिधार्थ पर विराजमान होकर पासों से खेलते थे, अन्यों को आज्ञा देते अथवा बाँधते तथा दण्ड करते।॥ १५॥

आभास - एवं क्रृडामुक्तम् संहितयेव ताविति,
आभासार्थः - इस प्रकार क्रृडाओं का वर्णन कर, अब इसः श्लोक में उपसंहार करते हैं।

श्लोकः - एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिंश्रेष्ठूर्वने।
न्यायद्रोणिकुष्ठेषु काननेषु सरित्रस्य च।॥ १६॥

श्लोकार्थः - इस प्रकार वे दोनों (यम-कृष्ण) भ्राता, लोक प्रसिद्ध अनेक प्रकार की क्रृड़ा करते हुए वन, नदी, पर्वत, द्रोणी, कुंज, कानन और सयों में फिरते थे।॥ १६॥

सुबोधिनी - अत्र प्रमाण लोक एवं, एवं: क्रीडा वन एवं कास्यन क्रीडा नन्दामद्विबिद्रोणिके, उपयतः पर्वतं गध्ये निम्मा भूमिद्वृत्तिः, तथा नन्दामि भवति, कुय्यानि तृणसहितानि ग्रहस्थितानि काननानि निविद्वनानि, सरितं: शुद्धम्, चक्रातृत सरितस्य च, एवं सर्वलोकिकभवानुः।

व्याख्यार्थः - ये क्रृडाएँ लोकों ने ही प्राप्त की है अर्थात् इन क्रृडाओं का शास्त्रों में वर्णन नहीं है अतः इनका प्रमाण लोक ही है। ये क्रृडाएँ वन में ही हुई हैं। कुछ क्रृडाएँ नदी में, पर्वत
पर, पर्वतों के बीच की निमं भूमि में, कुछों में, कानों में, छोटी नदियों में और सरोवरों में करते थे। इस प्रकार सर्वत्र बाल कृद्धा करने का आशय यह है कि, जब तक किसी भी कार्य में, भगवान् प्रवेश नहीं करते हैं, तब तक कृद्धा आदि कार्य करने वालों में लौटक भाव रहता है, जिससे भगवान् की स्मृति नहीं रहती है, अतः भगवान् ने स्वयं कृद्धा में प्रवेश कर, बालकों को प्रपक्ष की विस्मृति कर दी। ॥ १६ ॥

आभास – एवं क्रियावानु संस्काररूपांक दोषानु निवर्त्यन्तः करणदोषाभिमानिनः दैत्यभूतां निवारिष्टमुपाख्यानमार्गते पर्यूवार्यतोरिति।

आभासार्थ – गोप बालकों में भगवान् रहित कर्म क्रिया रूप था और इसी प्रकार भगवत्मृति न कर के, केवल कर्म की क्रिया का ही स्मरण था। इन दोषों को बालकृद्धा ने निवृत्त कर, अर्थातः करण के दोष रूप अभिमानी देखता, जो दैत्य बन गए हैं उसके निवारणार्थैः श्री शुकदेवजी वह उपाख्यान (जिस लीला से अन्तःकरण दोष दूर हुआ वह कथा) कहते हैं।

श्लोकः – पर्यूवार्यतोगौपैस्तुने समकृष्णयोः।
गोपस्वी प्रलम्बोप्रातं सुस्थितज्ञांस्या। ॥ १७ ॥
तं विद्वान्नि दाशाहरेः भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदतं तत्सख्यं वथं तथं विचित्रतत्वात्। ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ – गोपों के साथ उस वन में, पशु चरते हुए राम कृष्ण को हर ले जाने की इच्छा से, प्रलम्ब नाम बाला असुर, गोप का रूप धारण कर, वहां आया। सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण उसको जानते थे तो भी, उसके वथ का विचार कर, आपने उसके साथ मिट्टा करनी स्वीकार की। ॥ १७-१८ ॥

सुबोधिनी – गोपे: सह पर्यूवार्यतोः सातोः प्रलम्बोप्रातूः।
अन्तःकरणमेव रूपपर्ययकृतं गोपस्वी
स्य प्रक्षेपं लभो मूलकारित्वमनुमतायमस्ततस्ज्ञांस्या।
भगवान्स्य विद्वान्नि तत्सख्यमम्बोद्वितिस्खामः।
गला
मारणीयोः स तत्र स्वयमात्मकः कः सदेहः। अतः विरहयथा
एव जिन्दायेतुकां, सम्पन्नार्थस्यविश्वासमेव सर्वं न
व्याख्यायेः, तं प्रलम्बं दूरं भगवानस्थानः तत्र विद्वानेत्र तत्थः। ॥ १७-१८ ॥

प्रारूपत्वाद् भगवतः
तत्सख्यमस्ततस्ज्ञांस्य दोषानु दैत्यनाभार्यतः सख्यं
कृत्वानु अतं एव भगवा न मासिदा: देहोपत्राभ्यस्वतो
न परम्परेः, वशीकृतं तथा बलभद्रो व्यक्ति च स
कृष्णसमस्योऽगोपालनानि मधोऽकृष्णस्पर्श्यात्तयस्वेशात्।
अनेनेव प्रकारसक्लत्वाय च भवतीति विचारतपर्यः
कृत्वानु ॥ १७-१८ ॥
व्याख्यार्थ — जिस समय, गोपों के साथ, जहाँ पशुओं को दोनों भाई चराते थे, वहाँ प्रलय गया।

अन्तःकरण के अनुसार रूप बनता है। प्रलय में गोपों के अन्तःकरण के दोषों का अभिमानी दैत्य था और वह अन्तःकरण दाशीभामानी, दोषों द्वारा गोपों का अपहरण करना चाहता था अतः गोप रूप होकर आये। भगवान्, सरदार होने से उसको पहचानते थे कि यह गोप नहीं है अन्तःकरण का दोष रूप प्रलय असुर है जो मुक्तिपर्यंत अन्तःकरण में रहने वाला है अतः इसके बालकों से दूर करता है, जब यह दूर होगा तब वे शुद्ध होकर मुझ में निरुक्त होंगे। इस अन्तःकरण के दोषों के अभिमानी दैत्य को तो जा कर भी मारना ही था किन्तु जब वह स्वयं आया तो फिर उसकी मृत्यु में संदेह ही कैसा?

भगवान् सब के सखा और आत्मा है अतः भगवान् ने उसको मारा नहीं। देह से उसका बाल राख रहे को वह आप नहीं मारते हैं इसलिए भगवान् ने स्वयं इसको मारा नहीं, किन्तु उसके नाश के लिए लीला प्रारूप की। प्रलय ने मित्रता करनी चाही तो उसका अनुमोदन कर उससे मित्रता कर ली।

देह में, रोग उपस्थित होता है तो, उसको मित्रता के लिए, औषध का उपयोग किया जाता है, जिससे वह मिट जाए देह निरोग हो जाए। इसी प्रकार यह असुर, देह से उत्पन्न होते हुए भी दोष रूप रोग है। उस रोग को नाश करना भी आवश्यक है। इस रोग की औषध बलभद्र है। बलभद्रजी व्यवहार में कृष्ण के सम्बन्धी हैं, गोपों के बीच में उनका भी प्रवेश कृष्ण के समान है। मैत्री करने का कारण भी यह था कि बिना कले के लीला करते हुए, इसका वध हो जाय। 17-18।

आभास — तत: सघनकरणनंतरं वधप्रकारं कृतवानित्यह तत्रोपाहृयति,

आभासार्थ — मित्रता करते के अनन्तर, भगवान् ने उसका वध कैसे किया जाय? उसका विचार करने लगे। यदापि भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण को विचार करने की आवश्यकता नहीं थी तो भी, उसके लीला लोकवत्ता करनी है, इसलिए करने लगे, जिसका वर्ण इस निम्न श्लोक में करते हैं-

श्लोक: — तत्रोपाहृय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारविवित्।
हे गोपा विहिरिष्यायो हन्द्रीभूय यथायथम्। ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — सब प्रकार के खेलों को जानने वाले श्रीकृष्ण ने गोपों को वहाँ बुलाकर कहा कि, हे गोपों! हम लोग जैसे कोई प्रतिबन्ध न पड़े वैसे सुखपूर्वक, दो दोले बनाकर खेलेंगे। ॥ १९ ॥

सुब्रोधिनी — सर्वनेत्र गोपालानुपाध्ययः। तत्रोपाहृये वत्स समपूमी तादृशलीता भवति तत्
नानाविष्कृताः प्रकृतान् क्रीडाविषेषानुपलब्धः प्राह, सर्वप्राप्ताय: विश्वामत्य प्राप्तिसम्पन्न:। यतो भगवान्
व्याख्यार्थि — अनेक प्रकार की क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए सब गोपालों को, विशेष क्रीड़ा का उपदेश करने के लिए, जो भूमि समतल क्रीड़ा करने के योग्य थी, वहाँ बुलाकर, जो आगे कहां जाएगा वह कहने लगे। भगवान् को किसी प्रकार कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है। अतः गोपों को स्पष्ट कहने लगे। (मूल रूप से भगवान् को 'विहारविवर्त' कहा है जिसका भावार्थ है कि, भगवान् को सब प्रकार की विशेष क्रीड़ा आती है) ये देखकर गोप, वे (क्रीड़ाएँ) सीखने के लिए और हमारे आप में विश्वास है इसको सिद्ध करने के लिए अपनी प्रवृत्त की हुई क्रीड़ा को छोड़कर, भगवान् के निकट आ गए।

समीप आए हुए गोपों को भगवान् कहने लगे कि हे गोपों! हम लोग एक साथ हो मिले हुए है तो भी क्रीड़ा करने के लिए दो दोले बनाकर सुख पूर्वक खेलेंगे। किसी भी दोले के किसी एक की जीत या हार हुई तो, वह, उस समय दोले की जय व पराजय मानी जाएगी। ॥ १९ ॥

आभासि — भगवदुत्ता भाष्य मृत्तिका कृतवत्ता इत्याह तत्र चक्रुरिति,

आभासार्थि — गोपों ने भगवान् की आज्ञानुसार कार्य किया जिसका वर्णन इस निम्न रूप में करते हैं।

श्लोकः — तत्र चक्रु: परिब्रह्म गोपा रामजनार्दनो |
कृष्णसंगुटः: केचिदासनू रामस्य चापरे ॥ २० ॥

श्लोकार्थि — वहाँ गोपों ने राम तथा कृष्ण को मुखिया बनाया, उनमें से कितने ही कृष्ण के साथीं और कितने ही राम के साथी बने। ॥ २० ॥

श्लोकः — उभी तत्र क्रीडायां मुख्यं क्रिये वसादू दृश्यं समागच्छतः: कृष्णमसंगुटं कृत्वा तत्र य एव यमर्थ
कृष्णोत्तन तन सर्वं स्वरूपन्तस्तत्रेऽभवति। एवं सर्वं गोपाला: ॥ २० ॥

१-पक्ष चाले।
श्री सुभोभिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय ४  

**व्याख्यार्थ** - इस प्रकार की क्रीड़ा में दो मुखिया बनाए जाते हैं, पश्चात् दो दो (गोप) कृत्रिम् नाम धारण कर मुखियों के समीप आते हैं। प्रत्येक मुखिया जिस कृत्रिम नाम को स्वीकार करता है उस नाम वाला वह गोप उसका साथी बन जाता है। इस प्रकार कितने ही कृष्ण के साथी हुए और कई रम उसके साथी बन गए। ॥ २० ॥

**श्लोकः** - आचेरस्वविधा: क्रीडा वाह्यवाहककल्पक्षणः।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिता:। ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थः** - चढ़ने और चढ़ने आदि अनेक प्रकार के खेल खेलने लगे, जिसमें जो होे वे चढ़ा कर ले जाय और जो जीते वे चढ़े।

**सुब्रोधिनी** - तत्सार्य प्रथममगाती मुख्यकार्य कुलता: 
श्रीदामा प्रति-प्राणी भोमा समागीता इत्यादि। तत्तात्रय श्रीदामा
बलरामेऽगुहीता बलकार्यः वसीति प्रल्हछोऽभक्तवार्यः।
ऐति मृत्युपावित्र, अन्यत्र जयपराज्योऽय: कृष्णानामस्यास्य
वाहको स्यात् तुप्प्रहारान्यायस्वितितवः वहने, तथा
सत्यतिप्रसङ्कात् कलहसम्बन्धायः, नायाय मुख्योऽ
वाहकन्यपक्षः: अन्यत्र भगवतोऽपि वाहकक्त्र न स्पर्शः
मुख्यसेयः: क्रीडाकों वहन्ति। अथवा क्रीडाविशेषे सर्व
एव सर्वैः सहन्ति, तदेक्ष पारस्यामुयः क्रीडानांरे वा धरे
हिंदौपारस्य्य: भूसुपारस्य: प्रयज्जतो भवन्ति, तत्र प्रतियोगिनान्तः
भाविति यथा स्वलते भवन्ति, अथ च प्रतियोगिनान्तः
भाविति मर्मः ते वहन्ति, तदहिंदौवाहिकविधा: क्रीडा इति।
वाह्यवाहकन्य निमित्तमाह यत्रारोहन्ति, जेतारो आरोहिता
पराजिता वहन्ति। ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थः** - इस प्रकार की क्रीडा में यह नियम है कि जो जोड़ी प्रथम आ पहुँचे,
वह जोड़ी मुख्य कार्य कर्ता बने।

यहाँ श्रीदामा तथा तत्प्रम्ब, दोनों मिलकर प्रथम आए थे। उनमें से श्रीदामा को बलरामजी ने अपना
साथी बनाया जिससे वह बलरामजी का कार्य कर्ता हो गया और प्रल्हाद को कृष्ण ने साथी किया,
अतः वह कृष्ण का कार्य करने वाला हुआ। तात्पर्य यह है कि ये दोनों, बलराम तथा कृष्ण के मनी
जैसे हुए। यदि इस प्रकार मनी न बनाए जाते तो, कृष्ण तथा रम भी, जय या पराज्य के समय
कृष्ण तथा रम को भी परस्पर बाहक बनना पड़ता, क्योंकि, वे दोनों एक जैसे हैं। वहाँ सर्व कार्य,
नियम अनुसार होते हैं, कोई किसी को स्व इच्छा से ले जाय यों नहीं था, वैसा न करने से, किसी
का अपमान हो सकने का अवसर आ जाने से कलह हो जाए अतः नियम पूर्वक कार्य होता है।
यों भी नहीं था कि, चढ़ने वाला पक्ष मुख्य है। यदि वैसा किया जाता तो चढ़ने वाला पक्ष ही अयोग
माना जाता, इसका तात्पर्य यह है कि चढ़ने वाला और चढ़ने वाला, दोनों पक्ष समान मिलें जाते हैं।
जिससे कोई भी (भगवान् भी) वाहक बन जावे तो किसी प्रकार की अशिक्षा नहीं हो।

१-बनावटी। २-बड़ा।
मुख्यों में से एक क्रीड़ा करता है और एक वहन करता है, अथवा विशेष क्रीड़ा में, यों भी होता है कि, एक पक्ष के सब गोप अन्य पक्ष के सब गोपों को चढ़ा कर ले जाते।

एक पाद से चलने की अथवा एक पाद से कूदने की क्रीड़ा में यदि खेलने वाले के पाद ने पृथ्वी का स्पर्श किया तो वह पराजित माना जाता है। इस क्रीड़ा में विशेष पक्ष वाला क्रीड़ा करते वाले को इसी प्रकार प्रभाव करता है जैसे उसका पाद भूमि का स्पर्श करे। जो जो प्रतिपक्षी खेलने वाले के पाद का भूमि को स्पर्श करता है उसको खिलाड़ी चढ़ाकर ले जाता है। इसी भांति चढ़ना चढ़ना आदि क्रीडाएँ करते लगे। ॥ २१ ॥

आभास — नापि निर्गतः पराजितः पराजित एव भवति, अतः कदाचित् कश्चिद् वहति वाहते च, तदह वहनो वाह्मानाश्रेयः।

आभासार्थ — इस क्रीड़ा में यों भी नियम नहीं है कि एक बार हारा वह सदा के लिए बाहर नहीं रहेंगे, किन्तु इसमें कभी कोई पक्ष जीतता है, और कभी कोई हार जाता है। जब जीतता है, तब चढ़ने वाला होता है और जब हारता है तब चढ़ने वाला बनता है जिसका वर्ण इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — वहनो वाह्मानाश्रेयः चार्यनतश्च गोधनम्।
भाण्डीरकं नाम वर्त जम्गुः कृष्णपुरोगमा: ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ — वैसे चढ़ते चढ़ते और गायों को चरते हुए श्रीकृष्ण को अपना मुखिया बनाकर सब गोप भांडीर के नाम वाले बत के पास जाने लगें (गए) ॥ २२ ॥

मुखिया — मध्ये मर्वशास्त्र क्रीडाया प्रविष्टत्वाद् गाय चार्यनामाभ् च चित्रयक्षपानायामान् स्वादिशास्त्रात्मकः। चार्यनतश्च गोधनमिति, गाय न्याय र्धनं सेतृत, चार्यनामाभ्यः गाय न्यायमिति। कृष्णपुरोगमा: कृष्ण एव पुरोगमो येस्वः तत मद्धशेषति क्रीडः कुर्वणां एव। गतः: ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में ‘चार्यनतश्च जम्गुः’ कहा है (गायों को चरते हुए तथा उनकी रक्षा करते हुए जाने लगे) जिससे कहने का भाव यह है कि किसी को यह शक्ति मन में नहीं लानी चाहिए कि सब खेलने में आसक्त हो गए होंगे, तो गोधन का चरना और रक्षा करनी भूल गए होंगे जिससे
चतुतिथि पुरुषार्थ की हानि होती है। जाते समय वे खेलते थे और गोधन को चराते तथा उसकी रक्षा भी करते थे।

इस वन का नाम 'भाण्डीरक' इसलिए पड़ा है कि वहाँ एक बड़ा बट का प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसका नाम भाण्डीरक है, जिससे इस वन को भाण्डीरक वन कहते हैं। उस वन की धर्म सम्पूर्ण है। सब साथ में मिलकर (किसी को पीछे न छोड़कर) भाण्डीरक बट के पास जाने लगे। कारण कि, प्रलम्ब के साथ अन्य गोप भी था जिसको वह चढ़ाकर ले चलता था यदि वह पीछे रह जाए तो, अन्य गोप को भी, लेकर अन्यत्र चला जाए इसलिए सब साथ चलते थे। इस सत्ता बात कों भगवान् जानने तथा इसलिए श्रीकृष्ण को नेता बनाया है। वहाँ बीच में (रस्ते में जाते समय) भी क्रूड़ा करते जाते थे। ॥ २२ ॥

आभास - ततो यदा पराजयस्तदा वहनं तदाह रमसिद्धिनो ये हीति,

आभासार्थ - पश्चात् जब हार होने तब हारे हुए जीतने बाले को उठते थे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक - रमसिद्धिनो ये हि श्रीदामवृषभादयः।
क्रीडायां जयिन्सतांस्तानः कृष्णादयो नृप ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ - हे नृप! जब बलरामजी के पक्ष के श्रीदामा, वृषभ आदि गोप जीत गए तब कृष्ण आदिक ने उनको चढ़ाया था। ॥ २३ ॥

श्रीदुधिनी - संवाद, निरुपिता अन्तःकरणवृत्तानां श्रीदामा सात्तिको वृषभस्तामसः; तत्र यदा ते क्रीडायां चैतिथ्यायनां, रामो यथा तथा श्रीदामा वृषभस्थ, रामो रजसः। जयिन्सतांस्तानः कृष्णादयो ऊँह। ॥ २३ ॥

श्रीदुधिनी - अन्य गोपों के जीतने का न कहकर केवल तीन के जीतने का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि - अन्तःकरण के तीन प्रकार के गुण होते हैं अतः राम रजस, श्रीदामा सात्तिक और वृषभ तामस इन तीनों से जीतने का वर्णन किया (तार्पय लीकिक में तीन गुण ही जीत रहे हैं) वे जब क्रूड़ा में जीते तब उनको कृष्ण आदि ने वहन किया ॥ २३ ॥

1-एक सी - समान। 2-प्रलम्ब के आशय को। 3-ऊपर लेते। 4-उद्धारा, अपने ऊपर लिया।
क्राक्का — अविलक्षकमतासिद्ध्य हीनतें कुस्ते स्वचिष्ट।
धर्मप्रधानो भगवानिन्ति जायचिष्टुः तथा ॥ १ ॥

कानिगर्ध्य — भज्जात्र अविलक्षकमा है अतः कभी ऐसा कार्य भी करते हैं जो लक्ष्य के सम्बन्ध के अनुसार न हो—जैसे यहाँ श्रीदामा का अपने पर आरोहन्त्य भगवान्
का कार्य हमेशा करते हैं कि यह जाना जा सके कि भगवान् धर्म प्रधान है ॥

श्लोकः — उवाह कृष्णो भगवानूः श्रीदामानं परस्मितः।

वृषभ भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणि पुत्रम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थः — हाय एव भगवान् कृष्णने श्रीदामा को उठाया, भद्रसेन ने वृषभ
को और प्रलम्बसूर ने बलरामजी को उठाया ॥ २४ ॥

ख्यायार्थः — यहाँ, कृष्णने की नियमानुसार, बलभद्र को उठाया जाना था. किन्तु भगवान्
को जो प्रलम्ब जब बलरामजी द्वारा कराया था, अतः आपने बलरामजी के स्थान पर उसके मन्त्री
तथा साथी श्रीदामा को उठाया. इस तरह को भगवान् के अतिशय कोई भी नहीं जानता था. श्रीदामा को
मानने का जो यह कार्य था तथा कृष्णने की नियमानुसार, बलरामजी के स्थान पर उसके मन्त्री के व्यवहार
को समझा कराया था. इसलिए, उसको उठाया था, जो योग था. कृष्णने खेल में परस्मित हुए, यह उठने
का कारण था. यदि भगवान् स्वयं नियमानुसार न उठाये, तो अन्य भी न उठाए, जो योग नहीं था.
भगवान् ने श्रीदामा को उठा लिया, यह देख कर भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने रोहिणि पुत्र को
उठाया. यहाँ बलरामजी का नाम न देकर रोहिणि का पुत्र इसलिए कहा था कि उनको (बलरामजी को)
यह गोप प्रलम्बसूर है इसका अज्ञात है ॥ २४ ॥

आभास — ततो यजु जातं तदाहाविष्टामिति,

आभासार्थः — पक्षां जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ॥

अ । अपने पर चढ़ाना । र । पचीं ।
श्लोकः — अविष्कार मन्यमानः कृष्णं दानवपुडः।
वहनू दूरतरं प्रागादवसरोहणतः परम्। ॥ २५ ॥

श्लोकार्थः — वह दानव श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण को बलवत्मक समझ, बलरामजी को लेकर शीघ्रता से चलता हुआ नियत स्थान से दूर चला गया। ॥ २५ ॥

प्रसंगः दूरतरं प्रागाद, शरीरमैने सबः सह गमनसभवात्
पश्चात्रत्र न सम्भवेव, अवरोहणपर्यंत मयदिवेति ततः परं
गतः। ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थः — भगवान् से मित्रता करते से प्रलम्ब को यह ज्ञान हो गया कि श्रीकृष्ण का भार कोई भी सहन नहीं कर सकेगा अतः राम और कृष्ण इन दोनों में से एक का भी यदि उपदेश किया जाए तो वह (उपदेश) मेरे कार्य के फल को सिद्ध कर देगा, अर्थात्, में जिस कार्य के लिए आया हूँ वह पूर्ण हो जायगा। इसलिए दानव श्रेष्ठ प्रलम्ब, कृष्ण को न ले कर, रेहिणी के पुत्र को उठाकर, उतारने के लिए निक्षिप्त किए हुए स्थान से शीघ्रता पूर्वक चलकर दूर ले गया। यदि, धीरे धीरे, सब के साथ जाता तो, रेहिणी पुत्र को दूर ले जा नहीं सकता था। उतारने के स्थान पर, उतारना यह मर्यादा थी, किन्तु, यह असुर मर्यादा का उल्लंघन कर, उस स्थान से दूर चला गया। ॥ २५ ॥

आभासः — स्वार्थसिद्ध मन्त्रवास्य माया परिन्योजन तत्कृतं भगवति सख्यं
चाहंदाते देवायामपहतायं दोषो दृढ़ं भवति तिन्यं विचित्रत्य दैत्यरूपेनैव हतवानिन्याय
तमुद्ध्रितः।

आभासार्थः — प्रलम्ब ने अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ समझ कर, माया से जो गोप रूप धारण किया था, उसको छोड़ असुर रूप धारण कर लिया और भगवान् से जो मित्रता की थी वह भी छोड़ दी, क्योंकि उसने अहंकार के देवता (संक्षरण) को साथ में ले लिया था, जिससे समझा कि, अब मेरा असुरपुरुष हुआ है, इससे असुर रूप से ही, बलरामजी को उठा के आगे जाने लगा। जिसका वर्णन इस उन्नेक में कहते हैं।

श्लोकः — तमुद्ध्रहनु धरणिधेरेन्दगौरवं महापुरो विगततयो निजं वपुः।
स आस्थितः पुष्टपरिच्छदो बभू तिरिदुमानुपत्तिमानिनवामुद्बः। ॥ २६ ॥

१-अन्याय भारात्मा होने से सर्वथा असहन योग। २-गड्ढर्ड, उत्तान। ३-रीतिनित्यम। ४-बलराम।
श्लोकार्थ — जब पर्वत के समान अधिक बोझ वाले बलदेवजी का भार उठाने से उसका बेग बन्द हो गया, तब श्रीपरमेश्वर उसने अपना दैत्य शरीर धारण किया, उस समय वह सुवर्ण के आधुनिक धारण किये हुए ऐसे शोभा दे रहा था, जैसे चन्द्रमा को धारण किए दामिनी को दमक से बादल शोभायमान हो ॥ २६ ॥

सुबोधिनी — बलभद्रोपि पर्यायानित्रम् भगवादविषेज ज्ञानस्वतो धरणिवर्तमानः मेवादिगतिवंतवद् गौरवं यथा तस्य वहनेन सामस्यम महासुरं तत्स्य, प्रलम्बे हि मुख्यस्तथापि विगत्तरो जातस्ततः कृत्रिमवषुषं नवनमासांमिति मल्ल्यं निः बुधपुर्वं बुधप्रस्तयं, तस्य बुधपुर्वन्यं पुर्वपरिच्छद्वर भवानिचित्तः पुर्व सुवर्णं तदेव परिच्छदो भूषणादिकं यस्य स्तंभे सरस भवति सरस बलभद्रं, बलभद्रस्यापि मुकुटदितिकं, श्रीप्रभुः सरस धृतारश्टिरतं तद्विद्य भाति बलभद्रस्यापि धृतारश्टिरतं, धृतारश्टिरतं वस्त्रं, उद्धरणं बलभद्रोपि स्तंभानन्तुत्तमं, तदनुवृत्तप्रत्नामंबद्ध इव स्वर्ण रामो वेगावशं, अभूतपोष्यं तद्विद्यपूर्ववंच्छ एकं देवं कः सम्भविनो न भवतीति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ — जब प्रलम्ब ने मर्यादा को (नियमानुसार उतराने का स्थान) छोड़ दिया तब भगवान् ने बलभद्रजी में अपना आवेश डाला। उससे बलभद्रजी में आदि पर्वत के समान गोरखे वाले हो गए। ऐसे महान् भार को उठाने में महान् असुर होने से इसलिए समर्थ हुआ, जो प्रलम्ब ने समझा कि, इस कृत्रिम (गोप) रूप से यह भार नहीं उठा सक्ता, अब पुदे वहाँ असुर रूप धारण कर चाहिए, इस विचार से, उस असुरों में मुख्य, प्रलम्ब ने अपना निजी रूप धारण कर लिया। उस समय वह सुवर्ण के आधुनिक धारण किये हुए शोभा देते लगा। शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रलम्ब के कंघे पर बैठा हुए बलभद्रजी का मुकट सूर्य के समान चमकता था और प्रलम्ब का मुकट श्रीपरमेश्वर भाति के करण बिजली की भायि भास्मण हो रहा था, तथा बलभद्रजी के श्री शरी ज्योति हो रही है, चन्द्र के समान दीखते थे और प्रलम्ब रामण होने से, मेघ के समान दीखता था। आचार्य श्री कहते हैं कि, यह उपमा अभूत है। (होने वाली नहीं हैं किन्तु यहाँ हुई हैं) बिजली, सूर्य और चन्द्रमा एक ही काल में परस्पर इस प्रकार मिलते नहीं हैं। असुर श्रीपरमेश्वर प्रलम्ब ने अपना महान् असुर रूप धारण कर लिया तो भी बलभद्रजी के भारी भार से उसका बल नष्ट हो गया अर्थात् बलभद्रजी के भार उठाने में वह असमर्थ हो गया ॥ २६ ॥

आभास — ततो बलभद्रकृत्यमाह निरीक्ष्येति,
आभासार्थ — पश्चात् बलभद्रजी ने जो कार्य किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।
श्लोक: — निरीक्ष्य तद्धुलुलम्बरे चरस दृशीश्चुद्भुगक्षितसिद्धग्रंथात्रकोः।
ज्वलिच्छिकन्त कटककिरिटकुण्डलितिविषादभुतं हलधर ईषद्वगसः। ॥ २७ ॥

श्लोकार्थः — आकाश में घूमते हुए, बलभद्रजी उसका (परम्परा का) शरीर अन्य दृष्टिकोण का देखकर कुछ डे, उसका शरीर अतिशय दीप दृश्यित वर्ते, भौंह तक जिसकी उग्र दावे पहुँच रही है और केश जिसके मानो जल रहे है ऐसे किरिट, कुंडल तथा कड़ों की कांति से अद्वैत था ॥ २७ ॥

सुभोधिनी — तत्सं वपुरुषर्थ्य निरीक्ष्य तथाध्यक्ष वेदाध्यात्मकोः
चरसु गच्छ िब्रह्मसूत्र सदितिसंर्थः: तत्सं रूप वर्णाविति
प्रदीपासु धुरुः यस्य, भुक्तितं उग्र दृश्य यस्य आविश्व—
क्रमभुक्तिविकारवुक्ता इत्यः; ज्वलनी शिखर वस्येनार्कः
दीपशिखायुक्त, कटककिरिटकुण्डलायुक्त विषादभु—
तत्सं दृश्यितसु दृश्य शोभाधुरुः हलधर ईषद्वगसः। ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थः — बलभद्रजी आकाश में जा रहे थे उस समय उसके (प्रलम्ब के) विचित्र नवीन प्रकार के रूप को देखकर कुछ डे गए। उसके रूप का वर्णन करते हैं अतिशय तेज दुःख वाला, भौंह तक जिसकी उग्र दावे पहुँच रही है जिससे उसका मुख क्रोध से विकार वाला हो रहा है, जिसकी अग्नि के समान लाल तथा चमकती हुई शिखर हैं, किरिट, कुंडल तथा कड़ों की कांति वाला है, ऐसे अद्वैत अपूर्व रूप को देख कर हल को धारण करते हुए भी बलभद्रजी कुछ डे गए। बलरामजी का डे जाना जो कहा है उसके दो आशाय हैं १-वह (प्रलम्ब) चल से ले जाता था, २-अन्य कल्प में, इस लीला के समय, भगवान् ने बलरामजी को प्रलम्ब का परिचय कराया था। परिचय न होने से और अब चल से ले जाना, अतः कुछ डे ऐसा कहा है ॥ २७ ॥

आभास — प्रकृते तु भगवदाविष्णु यतु कृतवाण्स्तदाह,

आभासार्थः — इस समय तो, भगवान् के आवेश युक्त होने से, बलरामजी ने जो किया, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — अथागतस्मृतिभयो रिपु बलो विहाययासार्थिमिव हरस्मातमाः।
स्वाहनविर्षिकस दृशेन मुनिना सुधारिपो गिरिमिव वज्रांशसा। ॥ २८ ॥

श्लोकार्थः — फिर स्पृहा आते ही निर्भय हो, बलदेवजी ने किसी पदार्थ के समान द-नों को आकाश में ले जाते हुए श्रद्धा को देखकर, क्रोधित होके, इन्द्र ने जैसे वज्र के त्वर से पर्वत पर प्रहार किया था वैसे ही उसके सिर पर दृष्ट मुष्टि से प्रहार किया ॥ २८ ॥
श्रीमद्भागवत - (सुबोधिनी) दशम स्कन्ध - पत्रदाश अध्याय

सुबोधिनी - आगता स्मृतियंश्यंति, अथवेति कंवलवुदासार्थः; अत एवाभयो भयरहितो जातो विहायसकाशामागङ्ग हतं सिंधुतालः सिंधुतालः स्वभवतो वञ्च सिंहसि द्रूढः मुखिनः स्वाधनः मुखिनः उर्द्धावः कृताननं.

नतु नयनमागः कथं हननं? तत्राह सुबोधियो गिरियर्वेति. सर्वविकाशपकालस्वरूपं वज्रस्वरूपं वशेष्टेष्ठ गिरिविशेष्ठायमपि लोकाकारास्वरूपेऽद्व हतं, रेषेसि प्रतिकाशयर्वथः, तावागः गिरिविशेष्ठ तस्याहननश्लोकः निवारित। ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः - मूल श्लोक में 'अथ' शब्द कहने का आशय यह है कि 'अनन्तर' अर्थात् वलस्मार्जी ने निर्देश होकर प्रलय के वच्छ का कार्य भगवान् के आवेश आ जाने के पीछे किया, अथवा नहीं कर सकते थे। आवेश के प्रवेश से (उनको) स्मृति आ गई जिससे निर्धारण हुए। आकाश मार्ग से, अपने को हर ले जाने बाला, स्वाभाविक शारीर वच्छ के ही योग्य है, ऐसा विचार कर, क्रोधित हो के दृढ़ मुखि से उसके शिर पर ऐसे प्रहार किया, जैसे इन्द्र ने बाल्क के वेग से, पर्वत पर प्रहार किया था, केवल ले जाने के अप्राप्त से क्यों मारा? अर्थात् स्वल्प दोष के लिए इतना धारी दंड क्यों दिया? इस श्लोक के मिडने के लिए इन्द्र का दंडनण्ड दिया है, कि इन्द्र ने पर्वतों को सकल लोकों का अपकार करने बाला जान कर, जैसे दुःख देणे वाले, उनके, उड़ने के पांख काट दिये थे वैसे (ही) यह लोकों को दुःख देणे वाला था इसर्तिये इसको मारा गया है। वेग से मारने का कारण यह है कि, यह उपद्रवी है, किसी प्रकार प्रतिकारं न कर सके। वेग से मुक्त मारने से यह बच नहीं सका, अर्थात्, वेग के कारण केवल मुक्त से ही मर गया। ॥ २८ ॥

आभासा - ततो यजुः जातं तदाद्व स आहात इति,
आभासार्थ - मुक्ते लगने के अनन्तर जो हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक: - स आहात: सपदं विश्रीर्मस्तको मुखाद वमनू स्वरागपस्सू: सुरः।
महारवं व्यसुपुर्वतगु समीरयानृ गिरियर्वथा मघवत आयुधाह:। ॥ २९ ॥

श्लोकार्थः - प्रहार होते हिँ, शीघ्र उसका शिर बिखर गया, मुंह से स्वत बहने लगा, और वह देखने बड़ा शब्द करता हुआ अचेत हो, बिना प्राण होकर गिर गया, जैसे इन्द्र के शब्द के प्रहार से पर्वत गिरा गया था। ॥ २९ ॥

सुबोधिनी - आ समन्ताद हत: सप्तश्शीर्ष श्रीमानस्तको जातं: ततो मुखाद सर्वं भवन्तर्गतंपिनं दौरीकूर्वं स्मृतिहितोऽपि जातं; एवं दैवयित्रयामाः बैक्तक्ष निरूपितं, तथाप्रसुल्तान्तं स्वस्तं भाषं कृताननं, तदाध महारवं समीरयान् व्यस्म: सतप्राप्तं, प्राणमार्गस्तनिप्यं एव।

गतं: पशुद्ध भूमि परित: पुरुषाणन्त पतितस्त: नामुदिन्वताददार्थं दृष्टात्मा गिरियर्वथेति, मघवत आयुधानु वज्जेन हतो गिरियर्वथेति, न कदाचिदपुरुषं नापि प्रमुखः, तथ्यवापस्सू: समुहों जात इत्यथं:। ॥ २९ ॥

१-हानि। २-जल्ली। ३-बदला। ४-जोर से शीघ्र।
व्याख्यार्थ — चारों तरफ से मारा हुआ, उसका मस्तक सहस्रं खण्डित हो गया पश्चात् मुख से लोहू बहने लगा जिसके साथ वह अपने शीतर के दोष भी निकालने लगा, तब उसकी स्मृति भी चली गई। इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मन की विकल्पता का निरूपण किया। ऐसी दशा होने पर भी असुर था इसलिए अपना राजस भाव प्रदर्शित करने लगा। राजस्वाभ जैसे दिखाया? इस पर कहते हैं कि बढ़े जोर से शब्द करता हुआ निग्राण हो के भूमि पर गिरा। प्राण तो आकाश में होते हुए ही निकल गए थे, पृथ्वी पर उसका शर्व ही गिरा। यह असुर भी गिरते के अनन्त, चन्द्र से गिरे हुए पर्वत के समान न उठा और न बढ़ा, अर्थों का देर हो गया। ॥ २९ ॥

आभास — ततो यजू जातं तदाह दृष्ट्र प्रलम्बं निहतमिति,
आभासार्थ — उसके पीछे जो हुआ, उसका वर्ण इस निम श्लोक में करते हैं।

श्लोक: —दृष्ट्र प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।
गोपा: सुविस्मिता आसानू साधुसाधिविषविदिनः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — बलवान बलभद्रजी से प्रलम्बः (को) मरा हुआ देख, गोप अच्छे में पड़ गए और अच्छा हुआ, अच्छा हुआ यों कहने लगे। ॥ ३० ॥

शुचिधिनी — बलभद्र: प्रलम्बं मारतीतिनाठर्ष यतो बलशाली, तथापि कथव जातवानो कथव वा शीर्षमुक्तपुष्पूर्तिः। कथव वा सकृतप्रार्थेन मृत्त हिति गोपालवदं वा युध

व्याख्यार्थ — गोपों को आश्रय इसलिए नहीं हुआ था कि बलभद्रजी ने प्रलम्ब को मारा है, क्योंकि बलभद्रजी की शक्ति को (वे) जानते थे। किन्तु आश्रय इससे हुआ कि, बलभद्रजी ने ऐसे पहचाना कि यह गोप नहीं है और असुर है? और इसको सीम्र मारने के दंग की स्पष्टि कैसे हुई? तथा एक ही प्रहार से मर गया इत्यादि कारणों से गोप जाति होने के कारण, विशेष विस्मित हुए। प्रथम, जब वह असुर बलभद्रजी को आकाश में ले जाता था उस समय गोप चिंतित थे अत: उसके (असुर के) मरने से प्रसन हुए, जिससे साधु साधु शब्द का उच्चारण करने लगे। ॥ ३० ॥

आभास — ततो देववत्स एव देवभार्यां प्राप्ता आशिषोभिगृणन्तक्ष जाताक्रियाेवास्मान् पालयेत्यादि,
आधारां - वे गोप अन्तः के दोषों के निवृत्त होने से देव भाव को प्राप्त हुए जिससे बलरामजी को आशीर्वाद देने लगे उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - आशीर्वादधिमवाणन्त्र श्राद्धसमुत्सदर्हाम्।
प्रेत्यागतमिववालित्य तेषांविहलचेतसः। ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ - गोप देव भाव को प्राप्त कर बलरामजी को आशीर्वाद देने हुए कहने लगे: कि बहुत समय तक जीवन धारण करे और हम लोगों का पालन करे। ॥ ३१ ॥

सुभोदिनी - तस्मार्गं यथा भवति तथा श्राद्धसमुत्सदर्हाम्।
कुल्य स्तोत्रमणि कृतन्त्रः, उत्तमान्यो हिन्दुमान्यः। ॥ ३१ ॥

माधवभादु वा निरूपितो, समभावकृत्यमाह प्रेत्यागताः।
मिबवालित्य प्रेयण विहलचेतसंप्रियो जाता इति। ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ - उनका (बलभद्रजी का) पूजन जिस प्रकार हो वैसे (ही) उनकी स्तुति करते लगे, अर्थात् पूजा करने के अन्तर्गत स्वर्य स्तुति करते लगे। इस प्रकार उनमें गोपों के पेश भाव तथा हीन गोपों के हीन भाव का वर्णन कर श्रेष्ठ अदालत श्लोक में कहते हैं कि सम भाव वाले गोपों ने बलभद्रजी का इस प्रकार प्रेम से विहल होकर आलिखा किया जैसे मर कर जीता हुआ लौटकर आया हो उसका आलिखा किया जाता है। ॥ ३१ ॥

आधारां - न केवल प्रलम्बवधो भूमिक्षामनेव हितार्थः। किन्तु देवानामपवल्याह पाप

आधारां - प्रलम्ब का वध केवल भूमि पर रहने वालों के लिए हितकारी नहीं था, किन्तु देवों के लिए भी लाभकारी था, इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - पापे प्रलम्बे निहते देवा: परमनिवृत्ता:।
अथ्वर्षतृषु बलं मल्ले:शांशसु: साधुसाधिभित्त। ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ - पापी प्रलम्ब के मरने से, देव गण प्रसार हुए जिससे बलदेवजी के उपर पुष्प बरसाने लगे और वाह वाह कह कर प्रशंसा करने लगे। ॥ ३२ ॥

सुभोदिनी - पापहृथ्यामण्यू निहते देवा: शूष्ठस्वा।
त्मकः परमनिवृत्ता जाता: अंसादरपि निर्मित्याय जाता:।
अद्वत मलेयस्याद्यवर्णं पुष्पक्षुभि कृतवत्यः, शाशुं: स्तोत्रः ॥

च कृतवत्यः साधुसाधिभित्तिश्रास्तिः कृतवत्यः अन्यथाकारे।
गच्छातस्तद्रुढः पापोऽवर्ज्जन गारण स्वस्तः भाववतालाक्ष्यवन्धु नत्त्र प्रकाशोऽपि महात्मसाहसे कृत्स्तिः साधुसाधिभित्तिकथानं, प्रशंसामा।
इति श्रीमद्गायतसुबोधिनियां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविचित्रितायां दशमसक्रघविवरणे पञ्चदशाध्यायायाविवरणम्

व्याख्यार्थः — पापी प्रत्येक के मनो से शुद्ध सत्त्व गुण रूप देवगण, कंस सब देवतों के भय से
हृद, अतः परम आनन्द को प्राप्त हुए। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए बलशामजी के ऊपर फूल
बसाने लगे तथा उनकी स्थिति करने लगे एवं वाह वाह करते हुए प्रशंसा करने लगे प्रशंसा करने से
उनके देवता का ज्ञान होता है, पुष्पों की वर्षा हर्ष बताती है। इससे यह बताया कि दोष दूर होने से
उनके (दौरों के) अभिमानी भी सुखी होते हैं। इस लीला से अतः करण के दोषों की निवृत्ति की, जिसके
गोप (जिज्ञासके अतः करण के दोष निवृत्त हो गए) तथा देव दोनों ने उसका अनुमोदन
किया।

इति श्रीमद्गायत्व पद्मचुरुण दशमसक्रण पूर्ववर्त १५ वें अध्याय को श्रीमद्वल्लभचार्यचरण
कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवानत्र प्रकरण का श्री धर्म निवृत्त
चौथा अध्याय (हिंदी अनुवाद सहित) सम्पूर्णः

इस अध्याय में वर्णित भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की लीलाओं का अवगाहन निम्नलिखित
भक्ति सिद्धांत दृष्टांकी के पदों से कोजिएगा।

राग बिलावल

चले सब वृद्धावन समुहाई।
रन्द भवन सब ग्वालने डेट, लाखू गय फियाई।
अति आनुवं फिरे सखा सब, जहाँ तहाँ आइ धाई।
बृजात ग्वाल बात कंक्हाही कारण, बोले कुंवर कहाई।
सुभी वृद्ध कहाँ को होकी, औरन लेखु बुलाई।
सूर श्याम यह कही सबनि सां, आपु चले अनुवाई।

राग धनाश्री

गैयनि धेर सखा सब स्वाये।
देखो काहू जात वृद्धावन, याते मन अति हर्ष बढाये।
आपु में सब कंर कुलाहल, पौरी धुमरी धेतु बुलाई।
सुभी हांक देत सब जहाँ तहाँ, टैरी टैरी हेथी सुर गए।
नहुंच आय बिरंग पन झुंज, देवधत हुम दुःख सबनि गाँवाई।
नुर श्याम गए अचा मारि जव, तादिन ते यही वन अब आए।
राग सार्दू

चरावत बृंदावन हरि धेरू।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि धेरू।
कोऊ गावत कोऊ मुरुलं बजावत, कोऊ विशाख कोऊ वेन।
कोऊ निर्तित कोऊ उठलिए तारी हैं, जुरि ब्रज बालक सेन।
बिरविष पवन जांह तहे बड़े निश दिन, सुभग कुज घन धेरू।
सूरक्षम निजु धाम विसारित, आवत यह सुख लेन।

राग धनाश्री

बृंदावन मोकों अति भावत।
सुनहु सखा तुहु सुबला सुदामा ब्रज ते बन गोचार आवत।
कामशेनु सुर तक सुख जितने, रमा सहित बैकुण्ठ भुतावत।
यह बृंदावन यह जमुना तद, ये सुरभी अति सुखद चरावत।
पुनि पुनि कहत स्वाम श्री मुख सों, तुम मेरे मन अति हि सुहावत।
सुदास सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रकट दिखावत।

राग बिलावल

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहि कान तुम जिन विसरन्त।
जही जही तुम देह घर दो, जही जही जिन घरण छिद्रवहू।
ब्रज ते तुमहि कहूँ नहीं प्यारे यहं पयं तें हूँ ब्रज आवत।
यह सुख नहीं कहूँ भूतन चतुर्दश, यह ब्रज में अवतार बतावत।
और गोप जे भहरि चलें घर, तिन सो कहि ब्रज छहक मंगवत।
सूरदास प्रभु गुफा चाल सब, ग्वालन सों कहि कहि सुख पावत।
श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

श्रीमद्धर्मोपाध्याय विरचित सुबोधिनी टीका के हिंदी अनुवाद सहित

दशम: स्कन्ध: (पूर्वार्द्ध:)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘पञ्चमो ५ध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १६वां अध्याय
श्रीमद्धर्मावत्स्कन्धानुसार ११वां अध्याय

कारिका – अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवागृनिसत्रिवारणम्

शोडङ्गे प्रोच्यते सम्पूर्णिनोऽथ: सेतुते ततः ॥ १ ॥

कारिकार्थ – आत्मा का अज्ञान है, वह दोषपूर्ण है, उस आत्म अज्ञान रूप दोष का दवागृन प्रकट रूप है, अतः इसको नाश करना चाहिए, जिसका वर्णन १६ वें अध्याय में करते हैं जिससे निरोध सिद्ध होगा ॥ १ ॥

व्याख्या – पञ्च पर्व रूप अविद्या का एक पर्व, स्वरूप का अज्ञान है, जिसका प्रकट रूप दवागृन है। उसके नाश के अन्तर ही, निरोध सिद्ध हुआ। निरोध सिद्ध से, ब्रज भक्तो को यह ज्ञान हो गया, कि भगवान् की लीला में उपयोगी श्रवण तथा आचरण करना चाहिए तथा विपरीत का त्याग
करना चाहिए एवं दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। दारागिन को (स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान के) नाम के अन्तर्गत ही, गोपों को भगवान् तथा बलदेवजी के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ।

अविद्या के पंच पर्व रूप दोषों के स्वरूप ध्यानकार्य देतों का नाम, भगवान् ने इस दशम क्षण में किया है। जिससे निरोध सिद्ध हुआ है, अतः यह लीला निरोध का अंग होने से दशम स्कन्ध में कही गई है इसलिए इस कार्तिका द्वारा स्कन्धकार्य की संगति कही गई है।

कार्तिका – ततो दासैमुद्गा लीला स्वच्छन्दाये भविष्यति।
श्रीणां चैव मन: प्रीतिस्तदासिकः फलिष्यति।

कार्तिकार्थ – प्रभातः (निरोध होने के अन्तर) जब दासों के साथ स्वच्छन्द लीला होगी, तथा खियों के मन की प्रीति भी होगी, तब भगवान् में हुई आसक्ति फलिष्यत होगी।

व्याख्यार्थ – साधारणतः सिद्ध निरोध का भी, मुख्य लीला में जो उपयोग होगा, उसका निरूपण इस उपरोक्त कार्तिका से किया है। यह (निरोध) आसक्ति रूप निरोध होने से, दास (गोप) भी स्वच्छन्दलीला भगवान् के साथ करेंगे तथा खियों की भी प्रीतिस्वृक्ष आसक्ति होगी। १७ वें व १८ वें अध्यायों की लीला निरोध सिद्ध होने के पीछे हुई है जिसमें गोपों के साथ की हुई लीला का वर्णन १७ वें अध्याय में और खियों जनों में वैपुनाद द्वारा उपन्यास प्रेम से जो लीला हुई, जिसका वर्णन १८ वें अध्याय में है। इस प्रकार गोप तथा खिय भक्तों से की हुई लीला का वर्णन किया है।

श्रीशुक उवाच

श्लोकः – क्रीडासकंगे गोपेषु तदगावो दूरचारिणीः।
स्वैं चरत्यो विविष्णुत्रालोभेन गहरसः।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा कि जब गोप खेलने में आसक्त हो गए तब...
श्री सुबोधिनी की हिंदी टिका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अचानक प्रकरण - अध्याय ५

उनकी गो, स्वच्छपूर्वक चरती चरती तून के लोभ से गहर (सघन) बन में चली गई। ॥ १ ॥

सुबोधिनी - एवं प्रतापवच्चाणे क्रोदास्तानां
गोपानं विस्मृतसुशुभानां सबंधिनिऽगावं यतःकुतिलकारः
गतःः अतःकरणद्विपेपातिभिमानुः जीवस्यासदवस्त्रा
भक्तीव्यापनं बलधश्यमिं भवति, उपाधेहंसनयासदवशिष्यात
tद्रम्शेषु आत्मानु: देवसहितो भवति तदा गावं दाहे गोपालाः
अंगे दशा उच्छने, एवं सर्वानां समपुस्तिः हस्तर्वः क्रकः,
तदुपेश्यां तु सर्वानां एव भ्रत्व, शास्त्राणां च रक्षा,
अतः सर्वाभिधानमुन्युक्तोपपि हर्ष शास्त्राणांब्रजेदितः
क्रोदायामास्तकोपुरोगेपुरुः सत्यु तत्सनांहितो गावो
रक्षकाभावादु दूसरायणियो जाता: ततः स्वरं चसन्
स्त्राणांऽभिरेचमहामय्यमायस्य विविकः: एवमेव देहे
उपेश्यात्त्वद्वव्यस्यात्त्वानि विविशतः।। २ ॥

व्याख्यार्थ - प्रतापः के वध से निर्भय गोप क्रोडः में आसक्त हो गए, जिससे, उनका गोधन, जहाँ तहां चला गया जिसका इनको ज्ञान भी नहीं रहा। इसलिए नहीं रहा, कि जब अन्तःकरण का दोष नाश हो जाता है, तब लोकिक विषय का अज्ञान सा रहता है, क्योंकि दोष निवृत्ति से उस जीव की मुक्त सम अवस्था हो जाती है, अतः पशुपन का ध्यान गोपों को नहीं रहा किंतु जब तक पूर्ण निराचर, वा मुक्त अवस्था नहीं होती है तथा देह की उपाधि लगी हुई है, जिससे असातु अर्थ में प्रवेश होता है, असतु अर्थ में प्रवेश होने से, आत्मा, जीव भी उस दोष बाला असातु में प्रवेश बाला) होता है। तब गोपों के दाह होने पर गोप (जीव) भी दंग देश रहे जाते है। तत्पर्य यह है, कि जीव भी देह की उपाधि के दोषों से, स्वयं दोषी कहा जाता है अथवा स्वयं यो मानता है। इस प्रकार, जब सर्व नाश होने लगता है, तब हर देह हेक है। यदि हर की उपेक्षा की जावे तो सर्व नाश हो जावे। भगवान की शरण लेने से ही सर्व की रक्षा हो जाती है। अतः जो सर्व उपाधि से छूट गया है उसको भी भगवान की शरण लेनी चाहिए।

गोप क्रोडः में आसक्त हो गए जिससे गोपों का पालक कोई भी न रहने से गो दूर चली गई। स्वच्छन्द होने से तून के लोभ के लिए जाने के योग्य नहीं वैसे स्थान में पहुँच गई। इस प्रकार देह की भी यदि उपेक्षा की जावे तो वह भी अशाक्य स्थान में प्रवेश करे। ॥ १ ॥

श्लोकः - अजा गावो महिष्यश निविश्यन्त्यो वनाद वनम्।
श्लोकार्थ महिषीः विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतिष्ठता:।। २ ॥

श्लोकार्थ - अजा, गो, महिषी ये सब बन की जाती हुई दावे से प्यारी हो

क्रान्तिकारी विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतिष्ठता: ॥ २ ॥

श्लोकार्थ - अजा, गो, महिषी ये सब बन की जाती हुई दावे से प्यारी हो

---

1-तामस 2-बक्रैयां 3-पवेश 4-दावे
गई, जिससे रंभाती हुई मुझारण्य में चली गई।

भाषातः। तत्रापि स्मरकांभावादियकाट्विविशुद्धतृत्र स्वेतभूणिमो
कृतिन्ते। तेहि चर्यकृत्वा आकाशमरणः। स्वयंमेव निर्माणः।
कथामयारथः कुरुः।? तत्र प्रिष्ठः। क्रमदलयो जाता ओष्ठये
च कृष्ण तत्तितास्तृपावुक्तकाश जाता। एवं गावा स्वतः।
स्वस्मावाभावोऽनिश्चितसम्बन्धः काठिनः।

व्याख्यायिता - जैसे देह साविक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकारः की है, वैसे ही, ये गो भी
तीन प्रकारः की थी। इसलिए श्लोक में, राजस गौत्रों को 'अज', साविक गौत्रों को 'गाव' और तामस
गौत्रों को 'महिष्य' कहा गया है। पूर्व प्रकारः में, केवल गोपों का धर्म, गो रक्षा है, इतना ही वर्णन
करना था, तथा: गौ किंतु प्रकारः की थी, उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए वहाँ तीन
प्रकारः की गौ हैं यह वर्णन नहीं किया गया। मूल श्लोक में 'च' शब्द इसलिए दिया है, कि उस
समय लोगों के लिए हरिया वा श्नान आदि पशु भी साथ में लिए थे। जिस वन में देवता का साविक
था और किसी प्रकारः का उपद्रव नहीं था, उस वन का त्याग कर वैसे (मुझारण्यः) में जा पहुँचे, जहाँ
कोई श्राक नहीं था और जिससे आना जाना भी कठिन है। वहाँ जाने के अनतर देखा कि वर्ष को बुध
एक साल की सूखी हुई) मूंज जो श्वयं प्रणाशयः हो गई वह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी, अतः
वे रेती हुई पुकारने लगे, तथा धूप के कारण ध्यान से व्यकूल होने लगे। इस प्रकार गावों ने आप
ही अपने पालक गोपों का सम्बन्ध गँवाया और अनिश्चित से सम्बन्ध किया।

आभासः - तादृशीषु निवृत्तातःकरणोऽवशणां स्मृतिमाह तेष्यपश्यन्तः इति,

आभासार्थः - जिनके अन्तःकरण का दोष नाश हो गया है उनको (गोपों को) गौओं की स्मृति
हुई, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः - तेष्यपश्यन्तः पशूनः गोपः कृष्णारमादयस्तदा।
जातानुतापः न विदुर्भित्विचित्रन्तो गवां गतिमृ।

श्लोकार्थः - वे, कृष्ण, राम आदि गोप पशुओं को न देखकर पछताते हुए दुःखी
हो गए, गावों को बहुत कुछ ढूँढ़ परस्तु पता न लगा।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रोमेव' अवांत प्रकरण - अध्याय ५

सुबोधिनी - ते गोपाल: पश्चिमपर्वत: कृष्णामाधवो गतश्चिन्तारामार्ग समवन्त्य: सन्तो मार्गमन्वमन्तक्षत्रियश्रेण समवन्त्य: प्रथम तदा क्रीडायायदहित:।

व्याख्यार्थ - जब गौरवे ने गोधन को नहीं देखा, तब जहाँ वे चली गई है, उस स्थान का ज्ञान करते के लिए राम क्रृष्ण को अपना मुख्य नायक बनाकर, उस रास्ते से जाने लगे। (रास्ते से जाने लगे यह अर्थ स्लोक में है उससे इसका सम्बन्ध है ॥) पहले जब क्रीडा से विरास्त हुए तब पशुओं का समर्पण हुआ उनको न देखकर पकड़ने लगे, कि यह जो लीला (क्रीडा) की, वह न करने के बलवत है, कारण कि, इससे उत्पन्न आनन्द नष्ट हो गया। अतः गौरवे के जाने का स्थान की गति न हुई। गौरवे के स्थान जानने का प्रयत्न इसीलिए किया कि धर्म की पालना करते में गौरवे ज्ञाति मुख्य है। ॥ ३ ॥

आभास - ततो नुमाने ज्ञातन इत्यह तृणारिति,

आभासार्थ - इसके अनलांक, अनुभाव से स्थान को ज्ञान लिया। जिसका वर्णन निम्न स्लोक में करते हैं।

श्लोक: - तृणौस्पतज्ज्वरं चर्चित्तौ स्यां वेदान्तम्

मार्गमन्वमन्त: स्वेत नाध्यायविवेचनसः। ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ - आजीविका के साधन नष्ट हो जाने, से चेतन्तं रहित हो गए। वर्तु गायों के खुरों से तथा दांतों से कटी हुई धारा देखकर हुए गायों के खुरों के चिन्ह वाले मार्ग पर जाने लगे। ॥ ४ ॥

सुबोधिनी - ततो गायं खुरं: दंस्त्रो दित्रोपूल्य: कृत्वा। जातं अत: सामान्यविशेषज्ञाकस्तुणीवां समवन्त्य: श्रेणीः।

तत: भृगुकस्तुणि स्त्रियाः प्रस्तुत: कोष्ठिनिविभक्ते। त्रिविधापि। तृणाति जागाति।

अंतःकरण का स्वरूप विस्मृति दौष्ट पूर्ण रीति से जब तक नष्ट नहीं होता है, तब तक अल्प दौष्ट भी पुनः

उद्वीत हो जाते हैं। गौरवे को इसीलिए पुनः गौरवे की स्मृति आदि लौकिक ज्ञान उदय हो गया।

१-जानने को। २-छूटे। ३-जिस स्थान पर वे गई थी उसका ज्ञान। ४-विवेच, समझ।

५-प्रकट।
श्रीमद्भगवत - (सुबोधिनी) दशम स्कन्ध - चोड़शोधयायः

मूलतत्त्वात्मानि मध्यतत्त्वात्मानि पीडिताति च गोपयुक्ताः।
नून चेतना अचेतनप्रायाः मार्गे कथा गता: तंजाह विचेतस
अतिविध्वंसारामपि जापावल्यान् नात्र भ्रमशंकृतः।
तत: सर्वं एव वाचिता विशेषकरः व्याकुलता वा॥ ४ ॥

मार्गमन्यगमनू गवां मार्गण गता:। यत: सर्वं एव नास्त्यायः॥

व्याख्यार्थ - उस मार्ग से जाने लगे, जिसमें देखा, कि वहाँ का यह घास गोआ ने अपने खुरों
से और दांतों से काट है, अति: इस मार्ग से गो गई है आप जाने से मिल जायें। गोआ के खुरों
से यह जान लिया, कि इस घास को छोड़कर दूसरे बाद में, इस मार्ग से गई है और दांतों से कटी
हुई घास से, समानार्थ रीति से, यह पहचान लिया, कि गो इस रस्ते से किस प्रकार कहां कहां गई
है। गोआ के जाने से, उस मार्ग के तृतीय चौथ प्राकार के हो गए थे। १-जड़ से कटे हुए तृण, २-
बीच से टूटे हुए और ३-गोबर तथा खुरों के चारों से पीड़ित तृण। इत्यादि प्राकार के तृतीय से यह
निश्चय हो गया कि, गो वहाँ से हो गई है इसमें किस प्रकार की शक्ति नहीं है। ऐसा निश्चय होने
से, सब उसी मार्ग से जाने लगे। सब इसी एक ही मार्ग से, इसलिए जाने लगे कि, जो सब की
आजीविका का आश्रय गो थी, उनके जाने से, सब आजीविका विहीन हो गए थे।

गोप चेतन थे, वे अचेतनं पशुओं के मार्ग पर कैसे गए? इसके उत्तर में कहते हैं कि, आजीविका
जाने से व्यक्तु तथा विशेष रहित हो गए थे॥ ४ ॥

आभास - तत: प्राप्य न्यवर्तनेत्याह,

आभासार्थ - वहाँ पहुँच कर गोधन लेकर रोखी लौटकर आए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते
है।

श्लोक - मुङ्गाट्यां भ्रमारां क्रन्दमानं च गोधनम्।

सम्प्राय्तृषिता: श्रीतास्ततस्ते सम्यवर्त्यन् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ - मूँज के बाद में भूल लिखा पुकार किया, अपने गोधन को प्राप्त कर,
प्यारे चारों ओर से घेर कर पीछे लौटकर ॥ ५ ॥

सुबोधिनी - मुङ्गाट्यागमिति, यदि मद्ये मुङ्गाट्यी
न स्यादग्रिनिः। अत्र मुङ्गाट्यां भ्रमारां अत एव
क्रन्दमाना ईति कर्तर्यायाभाषात् सुवर्णं मुङ्गाट्यागम सुदृढ़तिः।

गावो जाता: तत्तस्तदार्शः गोधनो यव्यास्य स्यव्यास्यतिः
श्रीता: गोविन्दान् समातानमां: क्षर्मं विश्रम्य तृतीया
तत्तस्तदन्तर्क्षितम् सम्प्रदे न्यवर्त्यतत:। ॥ ५ ॥
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवानत प्रकरण - अध्याय 5

व्याख्यार्थ - वह गोंधन, यदि मध्य में मूँज का बन न आता तो, इससे भी आगे जाता, किन्तु मूँज के बन में ही भूल जाने से, कर्त्तव्य विमूढ़ हो गए। मूँज के स्पर्श से, दुःखित होने के कारण, पुकारने लगे। गोप इसी प्रकार के गोंधन को प्रात कर स्वयं भी ध्यास और श्रमित हो गए। इन्होंने दशा भी गोंधों के समान हो गई। ध्यास निग्रह के श्रोता समय विश्राम कर (थकावट दूर कर) पीछे भली भावना उनको लेकर लौटे।

आभास - सर्व निवारिता न निवारिता इति सन्दहे भगवता सामान्यतो विश्वेषत्व वनमध्यम प्रविष्टास्ता आहूता:

आभासार्थ - सर्व गो पूलकर आई अर्थवा कोई रह गई, इस सन्दहे को दूर करने के लिए, भगवान ने सामान्य तथा विश्वेष रीति से ध्यनकर उनको बुलाया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वामन्म निनदं श्रुत्वा प्रतितेदुः प्रहरिता: II 6 II

श्लोकार्थ - मेघ जैसी गम्भीर चाणी से, जब भगवान् ने उनको बुलाया, तब वे गो, अपने नाम की ध्वनि सुनकर, प्रसन्न होकर, पीछे आप भी नाद करने लगी। II 6 II

सुभोधिनी - श्रवेदनेवतासामान्तस्तपवढिपताः
गतान्वित ज्ञापति मेघगम्भीरयेताः, ततो गतान्वि: स्वामन्मः
निनदं श्रवं श्रुत्वा प्रतितेदुः, लर्विस्थिता प्रतिवासः

कृतवर्यः प्रहरितार्थ जाता: निकटे समागम्याः काश्चन्
असमागम्य काश्चन् II 6 II

व्याख्यार्थ - बन से सब आ गई हैं अर्थवा कोई रह गई हैं इसलिए भगवान् ने मेघ के समान ध्वनि से प्रत्येक का नाम लेकर उनको बुलाया। भगवान् के उस शब्द सुनने से, उनके बाहर और भीतर के दोनों ताप मिट गए। ताप मिट जाने से, अपने नाम सुनकर, वहाँ ही खड़ी रहकर, आप भी ध्वनि करने लगीं और बहुत प्रसन्न हुईं और भगवान् के पास आ गईं, कोई नहीं भी आई। II 6 II

आभास - एतमिभ्रस्तस्य देवतामिमानिनी देवतोपासिता लौकिकवधानं: करणदेवता:
कुः एकीभूय दवानलरूपा जाता: स दवानलस्तिमिभ्रस्तं पलायनासमर्थ समन्ताः
प्रादुर्भूतों जात इत्याह तत्त्वा इति,

1-अच्छा हम क्या करें यह विचार न कर सके। 2-थक गए। 3-नाम लेकर।
आभासार्थ — उसी, समय, प्रलम्ब दैत्य के अभिमान रूप देवता, तथा उससे (प्रलम्ब से) उपासना किए हुए देवता, एवं अन्तःकरण के अभिमान रूप तथा दोष रूप देवता, इन चार प्रकार के देवताओं ने मिल कर, दावारिन का रूप धारण किया। उस दावारिन ने मूँझ से पीड़ित होने के कारण, बाग जाने में असमर्थ गौ आदि को, चारों ओर से घेर लिया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तत: समन्तादू वनधूमकेतुर्यूप्च्या भूमित्व क्षयकृद्वनोक्षामस्।
समीरितः: साराधिनोल्बणोमुकृविलेलिहान: स्थिरज्ञमाणू महान्।

श्लोकार्थः — पश्चात, यदृच्छृं से चारों ओर बनवासियों का नाश करने वाली बड़ी दावानल उत्पत्त हो गई, उसके सहायक मित्र सार्थी ने (वायु ने) उस (अग्नि) को विशेष बढ़ाया जिससे वह महती अग्नि तेज ज्वालाओं से स्थार्व तथा जंगम पदार्थों को चाटने लगी अर्थात् भस्म करने लगी।

व्याख्यार्थः — मूल श्लोक में अग्नि के लिए ‘धूमकेतु’ नाम देने से यह बताया है, कि यह अग्नि अनिष्ट का कारण है तथा इस अग्नि का महात्म मिलाने के लिए कहा, कि यह अग्नि किसी की उत्पत्त की हुई नहीं है, किंतु यह अपनी इच्छा से अवाक स्वर्य प्रकट हुई है, अथवा काल, कर्म, स्वभाव वा भगवद्विच्छा से उद्धृत हुई है। उत्पत्त होने के कारण बताने के लिए कहते हैं, कि वन में रहने वालों का क्षय करने के लिए प्रकट हुई है। यह अग्नि वन की सदा सम्मिलित है, अतः जो अन्य, वन से सम्बन्धित है, उनको पीड़ा करती है, अर्थात् अन्य का वन से सम्बन्ध हो वह मानो इसको सहन नहीं कर सकती है। उस अग्नि को, तेज करने वाला अन्य भी सहायक मिल गया। वह है वायु। वायु को शास्त्रों में अग्नि का सार्थक कहा गया है। अग्नि का रथ अग्नि की ज्वालाएं हैं, उनका वह (वायु) तेज कर, आगे बढ़ाता है, इसलिए मूल में, तेज ज्वालाओं से काटने लगी जैसे सर्प

1-अपनी इच्छा अवाक। 2-दुःख। 3-पैदा। 4-रथ चलाने वाला सार्थ।
5-चलाता।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवान्त प्रकरण - अध्याय ५

समीप में आए हुए को प्रसतां है, जिससे वह पुष्प होता है वैसे ही वह अग्नि भी इस प्रकार करने में महान् हुई। ॥ ॥

आभास - तादृशों भगवद्गोपीनामपि स्थाने समागम इत्याह तमापतन्तन्तमित,

आभासार्थ - इस प्रकार की वह दावागिन, जहाँ भगवदीय (गोप, गो) बैठे थे, वहाँ भी आई।

जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - तमापतन्तं परितो दवागिन गोपाश्र गावः प्रसमीक्ष्य भीता:।

ऊचुश्र कृष्णं सबलं प्रपत्रा यथा हरिं मृतुभयार्थिता जना:। ॥ ॥

श्लोकार्थ - चारों ओर से आती हुई, उस दावागिन को देख गौ और गोप

भयभीत हो गए, जिससे बलगम तथा श्रीकृष्ण की शरण जाकर उनको कहने

लगे। ॥ ॥

सुबोधिनी - पसित आपतनामपुर्यं गच्छति

दवागिनापिधितथा साहजापतापो गोपा: प्रतिक्रियासंहितामः

गावशृपित्वा: प्रकर्षणं समीक्ष्य भीता जाताः, ततो

झात्वनामागाहुत्याय भवान्त्व प्रारंभितत्वं इत्यहोचुर्विशेषितम,

बलपद्धतितित्वाय प्रकृतपत्रयोगात् क्रियाशक्तिसहितमुक्ताः।

कृष्णं सदानन्दं प्रकृते लीलाकेलिं शरणाप्रत्या: सत्य ऊचु:।

तव देवसर्वार्थं दृष्टतामाम यथा हरिमिश्यति, मृत्युभयान्त्रिकागार्थितः

यथा कश्चित्त कृतपुष्पयुज्ज जनो गजेन्द्र इति हरिः शरणं गच्छि

तथावत्तानं दीनाः सर्व एवं शरणं गताः। ॥ ॥

व्याख्यार्थ - अपरित्यार्थं अग्नि को अपने ऊपर आती हुई देख गौप (उस अग्नि के मीतने के उपाय

को न जानने वाले थे) और गौ (पशु-मूढ थी) इसलिए उस (अग्नि) को देख डर गए।

पश्चात् भगवान् के महात्म्य को जानते थे अतः उनको शरण गए तथा प्रार्थना करने लगे।

क्रियाशक्ति रूप बलमहंद्र

एवं सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण है, अतः इस कार्य में वे हमारी अवस्था सहायता करते, यो समझ प्रार्थना

की। क्योंकि, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप होते हुए भी अब लोहा करने के लिए प्रकट हुए है।

इस प्रकार, बलगमजी भी क्रियार्थ प्रकट हुए हैं, इसलिए शरण जा कर प्रार्थना करने से, हमारा यह संकट वैसे ही

मिटाएंगे, जैसे गजेन्द्र का मिथ्या था अतः गजेन्द्र की तरह अत्यन्त दीन होकर शरण गए। ॥ ॥

____________________

१-नाश करता। २-जिसको रोक न सके।
कारिका — प्रार्थनामुपपति च क्रमेनाह निराकृत्वैः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — निवारणः के लिए प्रार्थना तथा उपपति च क्रमपूर्वक कहते हैं।

आभास — तेषां विज्ञापनानां कृष्णकृष्णोतिर्थाः।

आभासार्थ — निम्न दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक: — कृष्ण कृष्ण महावीरः हे रामामितविक्रमः ।

दावागिनः दद्मानानः प्रपन्नांस्त्रातुमहायथः: ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — महान् पराक्रम वाले हे कृष्ण, हे कृष्ण! अनन्त पराक्रम वाले हे राम! दावानल से जलते हुए हम, जो आपके शरणागत हुए हैं उनकी रक्षा कीजिए॥ ९ ॥

सुबोधिनी — कृष्णकृष्णोतिर्थां सम्बोधनमादेयः वैस्तिक्याच्

महावीरः प्रकृतोपयोगिसमार्थः, द्विविधा हि ते इति

सम्मानः; परे न द्विविधः, प्रत्यक्षार्थात् प्रकृतोपयोगिः

सामर्थ्यममितविक्रमः मेतिसम्म्बोधनोनोकतं, विज्ञापना-

महार्द्वागिनः दद्मानानः निर्माणितः, खत्तां हेतु: प्रपन्नार्थि,

सम्मर्थ्य एव प्रपन्नस्त्रायामितिविचारी अत्लकातुमहायथः: ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् को कृष्ण! कृष्ण! यह सम्बोधन देने का अर्थतः दो वार कहने का भाव यह है कि एक तो श्रीकृष्ण के लिए आदर प्रकट किया है और दूसरा अपनी विकलता तरताई है तथा महान् पराक्रम वाले हो इस विशेषण देने च प्रकृत कार्य (दावानल से बचाने) में आप समर्थ हो यह बताया है। इसी प्रकार गोपों ने राम को अनन्त पराक्रम वाला कह कर दावागिन से बचाने की प्रार्थना की है किन्तु गोप दो प्रकार के थे इसलिए ‘राम’ यह सम्बोधन दो वार नहीं कहा। विशेष

**दावागिन से प्रास भय के विवारण (मिटाने) के लिए।

हेतु देकर कार्य सिद्ध का उपयोग बताना।

साधारण गोप श्रीकृष्ण व बलराम को समान मानते थे, असाधारण श्रीकृष्ण को विशेष मानते थे, तो उनका पूर्णरूप से मानते थे।

'प्रकाश'

१-चयादत।
श्री सुबोधिनी की हिन्दी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय ५

से, यह बता दिया कि आपने अभी प्रलम्ब को मारा है अत: इस दावागिन से भी रक्षा करने में शक्ति पाए हों। हम आपको शरण आए हैं जो सम्भव होता है, वह शरणागत की रक्षा करता है, क्योंकि उसको वैसा करने का आधिकार है। इसलिए आप दोनों हमारी रक्षा करने के लिए योग्य हैं।

अभास - एवं मयादाविचरणापि स्वरक्षाया आवश्यकत्वं निरूप्य पुष्टिमागंगणापि स्वरक्षायास्तथामाहुर्तुनभिः।

अभासाधित्र - उपयुक्त श्लोक में, मयादा के विचार से, अपनी रक्षा की आवश्यकता निरूपण कर, अब पुष्टि मार्ग से, अपनी रक्षा करनी आवश्यक है अथवा आपकी स्थिति (पद) से, तथा हमारी स्थिति (दशा) से भी हमारी रक्षा आवश्यक है जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - नूं पत्तानवधावनुकृणाः चाहिन्यवसीनिद्वितूपम्।
वयं हि सर्वधर्मां त्वात्वास्त्वत्वयात्यायण:। १० ॥

श्लोकार्थ - हे कृष्ण! निश्चय से हम आपको बान्धव हैं, अत: हम दु:खी होंगे, यह योग्य नहीं है। हे सर्व धर्मों को जानने वाले! हम सब के आप नाथ हैं और आप ही शरण हैं। १० ॥

सुबोधिनी - भगवद्विचरणोक्ताः स्वविचरणादुहां कृष्णोति, सदान्दसहार्धान् सेवकानां दुःखिता-नीचतायु, त्वात्वास्त्वत्वसम्बन्धम् भर्मुर्यां क्रमसाध्याम-जानवनतस्विदितुपमाद मात्रां नाशिता, चाकाररविधमृ प्रेमों दुःखिता, अवसादितुपमा वा पाठः, गुत्तकारण कालिविकोषवसादों निविष्टः, भगवद्विचरणसंबर्धमृ समस्यास्ति वयं ही। धर्मः अनेकविधा लोकितविशदकालेकानन-प्रकारधिष्टा: सर्वेऽन्त्वेऽन्त्वेऽ नाथावस्तवकालेकाननः।

व्याख्यार्थ - भगवान् को कृष्ण नाम कह कर, यह बताया है कि सदान्द स्वरूप है अत: आप (सदान्द स्वरूप) के सेवक (हम) दु:खी, यह सत्य नहीं है तथा हम आपके बान्धव हैं, इससे भी हम दु:खी होंगे योग्य नहीं है। 'च' शब्द से यह बताया है कि भोज भी भी दुख हम (आपके सेवक तथा बान्धव होने से) सहन करने योग्य नहीं है। 'एवं' शब्द से यह भी कह दिया कि, किसी भी समय, हमको दु:ख नहीं होना चाहिए। आप हमारे बान्धव हैं, इसको हेतु देकर सिद्ध करते हैं। लौकिक, वैदिक अनन्त प्रकाश के जो धर्म हैं, वे भिन्न भिन्न हैं, उनको आप ही जानते हैं। तथा कौन सा धर्म किस धर्म को बाध करता है और कौनसे धर्मों का अन्य धर्म से बाध होता है इसको भी आप
आभास — भगवान्तु तेषां प्रार्थित कृत्वानित्याह वचो निषाम्ये/ति;

आभासार्थ — गोपों ने, जो अपनी रक्षा के लिए बलरमजी तथा श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है, उसको सुन कर, भगवान् (श्रीकृष्ण) ने तो उनकी प्रार्थना के अनुसार उनका भय मिलाते हुए उनकी रक्षा को-बलरमजी शान्त रहे जिसका वर्णन इन निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक: — वचो निषाम्य कृपणं बन्धूनां भगवानू हरि:।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—भगवान् हरि बान्धवों के वैसे दीन वचन सुनकर, बोले कि हे गोप! बान्धवो! मत डरो! आँखें बंद करो। ॥ ११ ॥

मूर्धन्यिनी — कृपणं दीनतं बन्धूनामुभयविधानं
भगवानुपाबिभिन्नः सर्वर्गं हरिः सर्वदुःखहरे स्वभाविकोऽत्मं
धर्मं देवगुहा भगवत्कर्मज्ञानं भर्तजनकं च, स्रोणं तु
सम्यादेशानोबधाश्च चूर्तिमानिन्तपदेशो ज्ञातिक्षरक्रामाकट्ठास्मृतज्ञातां,
अज्ञानं तु हिंसेत्वेतद्ध भवेदेय यथामहं पतिः।

परत्ति, अन्यत्र वेषे नेत्र, तथार्थिनिर्माणं भयं स्थाप्तः, अत:
सर्वव्रतोऽर्थव्रतेऽमृतः भगवानुपारविभिन्नं, चूर्तिनिन्तपदेशो
च शृङ्गेषुमानि परमेषु श्रीमतीप्रर्थितां अहम मा भैष्ट, अणिन्धनं
न कर्वत्वम् ॥ ११ ॥

यहाँ मूल में 'यथागावस्त्रक्रांकरस्त्रिनिः' कहकर 'वचं तु भयविधा' कहा है अत: स्पष्ट नहीं होता है कि आशय
क्या है। अनुवाद 'यथागावस्त्रक्राणा.' और 'त्वमि: वचं तूभयविधा.' यो 'तु' के स्वास्थ्यानुरूप से
किया है।

'अनुवादक'

1—अनन्त भक्ति। 2—महा कठिन।
व्याख्यार्थ - भगवान् जिनके नाथ और आधार हैं, उन गोप बान्धवों का तथा जिन गोपों के आप नाथ हैं उनका इस प्रकार दोनों प्रकार के बदलुचों के दीन वचन सुनकर, सब के दु:खों को मिटाना, जिनका स्वाभाविक धम्म है तथा दु:ख हरण के उपाय जानने वाला और सर्व समाधि हरि भगवान् ने दु:ख मिटाना आवश्यक समझा, आप अपना कर्म (लीला) देवताओं से पुस्त रखते हैं और आपके कर्म से अज्ज दर जाते हैं, अतः भगवान् ने इन दोनों (देव रूप गोप जाने नहीं और अज्ज दर दे नहीं) कार्यों की सिद्धि, के लिए गोपों को आजा दी कि अपने नेत्र मूँदलो। पहली दावागिन हुई, तब नेत्र बंद नहीं करवायें, जिसका कारण यह था, कि उस समय रात्रि थी जिससे वे पूरी तरह देख नहीं सकते थे। अब गोपों में ज्ञान शक्ति प्रकट हो गई है, जिससे वे दर गए थे, यदि ज्ञान शक्ति प्रकट न हुई होती तो अज्जान की अवस्था में, अभ्योग को मिट्ट समझ, पतझड़ की तरह अभ्योग में पड़ जाते, इनको अन्य स्थान पर ले जाने से भी भय को बना रहता, अतः: सर्व प्रकार से, भय का अभाव हो इसलिए आजा दी, कि नेत्र मूँद लो। नेत्र मूँदने पर अन्तःकरण में यह भय रह जाता कि अभ्योग हमको जला देगी, अतः: भगवान् ने इस भय को मिटाने के लिए विद्यास दिला दिया कि डरे नहीं, अर्थात् अभ्योग जला देगी यह भय मत करें।

आभास एँ - ईश्वरा कायायुपायत्वेनाज्ञातमपि कृतवन्न इत्याह तथेऽति,

आभासार्थ - यद्यपि गोपों को यह ज्ञान नहीं था कि नेत्र बंद भगवान् ने इसलिए कराए है, कि हमारे दु:ख निरूपण का उपाय भगवान् करते हैं, तो भी, आपकी आजा से नेत्र बंद किये, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: - तथा निमीतिता कष्टेः भगवानिन मुल्ल्म्बनाम्।
पीता मुखेन ् तानु ज्ञानेशय योगातिशो व्यमोचयत्।

श्लोकार्थ - वैसे ही आँखें बंद करने पर, योगेश्वर भगवान् ने मुख से उन अभ्योग का पान कर, उन (शरणागतों) को दु:ख से छुड़ाया।

श्री सुबोधिनी की हिन्दी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवान्त्र प्रकरण - अध्याय ५
अग्नि को जल से न बुझाकर मुख से इसलिए पान किया, कि उसमें (दावानिन में) जो सख्त तंत्र के कारण से दोष आए थे, वे जल से नष्ट नहीं होते, अतः उनका पान कर, अर्थात् अपने भीतर स्थित आध्यात्मिक अग्नि में स्थित कर, उन दोषों को तथा अग्नि रूप दोषों को भी नष्ट किया। वे दोष भगवान् में अन्दर स्थित आध्यात्मिक अग्नि से मिलने पर ही समूल नष्ट हो सकते थे। अपने सेवकों में तथा अग्नि में, भीतर रहे हुए दोष भगवान् ने कैसे प्रकट किये। इस शब्द के उत्तर में कहते हैं, कि योगाधिकारी (कर्म करने में चलते रूप में स्वामी) हैं, अतः भक्तों के तथा अग्नि के दोषों (असुरस्त्र) को, उनमें से पृथक कर, दावानिन में धरा, आपने उस दावानिन को पान कर, दोष समूल नष्ट कर दिया। वे गोप निर्देश देने के साथ दुःख से छूट गए।। ११।।

आभास — ततो भीता: पीतेद्येनी निमित्तिकासा एव स्थितास्तो

आभासार्थ — भगवान् ने अग्नि का पान कर लिया, तो भी भय के कारण उहाँने नेत्र खोले नहीं, जब आपने आजा की, कि नेत्र खोलो, तब आँखें खोल दी, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तत्क्ष्ठ ५४शीशुष्कमलय पुनर्भाषाण्डीरमापिता:।
निशाम्य विस्मिता आस्मातामाय गाश्य मोचिता:। १३।।

श्लोकार्थं — फिर, जो उहाँने नेत्र खोले, तो देखा कि हम भाण्डीर वन में हैं, अपने को और गोपों को छूट हुए की कहानी सुनकर अचम्बे में पड़ गए।। १३।।

सुबोधिनी — भगवतेवोयोऽसुमलयेत्तुद्वतास्तं
शीशुष्कमलय पुनर्स्वरोऽक्षेत्रायेत्यान्तिरिणाणां
भाण्डीरनामापिताः。

यतो भगवान् हो, अतो निशाम्य जलवा सृष्टिया विनिष्मिता
आस्मान, आत्मानाय गाश्य मोचितीनानाय निशाम्य, आत्माना गा
वृक्षस्वरूपान्ताद्, निमित्ति भाण्डीरनाय विनिष्मितापरम, पद्माद्
वे भवानुवर्तक वेलवर्तमान वा वर्ण वा, तदात निशाम्यति।। १३।।

व्याख्यार्थं — भगवान् ने दावानिन का पान कर, नेत्र मूदे हुए गोपों को भाण्डीर वन (में) ले आए, वहाँ उनके नेत्र खुलने पर अंधे खोलकर देखा कि हम तो भाण्डीर वन में बैठे हैं। मन में विचार उठा, कि यह सब भगवान् की कृपा है, उहाँने ही यहाँ पहुँचा दिया है। यदि हम स्वतः देखे
तो एक तो वह मार्ग याद नहीं और नवीन यास उत्पन्न होने से, खुदें के चिन्ह भी मिलताने से मार्ग दूर हो जाता है। हमारे आँखें बंद ही थीं तब भगवान् ने यहाँ पहुँच गया है, उस (पहुँचने) का कारण यह है, कि भगवान् 'हरि' (दुःख हरण करता) है। अनन्तर भगवान् के मुख से अथवा बलरामजी के मुख से, दावागिन पान कर, हमको तथा गोयों को भगवान् के मुख से हुड़कर यहाँ लाए है यह सुनकर तथा समझकर अचम्बे में पड़ गए। नेत्र बन्द करने से घर का सब वृत्तान्त भूल गए थे, पीछे सुनने के समय और समर्ण हुआ। ॥ १३ ॥

आभास — तत्तत्त्वेण गताविधानां या बुद्धिर्जैता तामाह कृष्णस्य योगवीर्य तद्दिति,

आभासार्थ — पश्च पर्यं अविद्या नष्ट होने के अनतर, उन (गोयों) की जैसी बुद्धि हुई, वैसी का वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक: — कृष्णस्य योगवीर्य तदृयोगमायानुभावितम्।
दवाग्रेस्तम्नः क्षेमं वीक्षयं तं मेनिरेषःरम्। ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ: — योगमाया से जिस (दावागिन से रक्षा) का अनुभव हुआ है, वैसा श्रीकृष्णचन्द्रजी के योग का प्रभाव, देखकर गोयों ने श्रीकृष्ण को अमर माना। ॥ १४ ॥

सुवोधिनी — योगमायानुभावित, विस्मारणुप:-
समारणाः सहं, तदा लघुवाद्यमलिङ्कमालयो दवाने:
सकाशाः, क्षेमं वीक्षयं तं भगवतमरर्मर्मानिविवक्तं कालातीतं।
वा पुरुषोत्सम मेनिरे, तेषां देवा एवंतमा इत्यावचाकं
दवाग्रेत्वा वा मेनिरे, दवागिनानि लम्बनाशकः। तत: परिपालनोऽपि
क्षेमो भवत्वेच्। ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ — योगमाया से विस्मरण करना २ फिर स्मरण करने का अनुभव हो रहा है, वैसे अलंकारक भगवान् के बीर्ये को, (अपनी दावागिन से रखा होना एवं अपना कुशल होता) देख उन भगवान् को अमर तथा कालास्तं अथवा पुरुषोत्सम मानने लगे, अथवा गोय देवों को हो, सबसे उतम मानते थे, अतः श्रीकृष्ण को उन देवों में उतम देव समझने लगे। दावागिन के लघुते, में, जो भी आये, उसका वह नाश करने वाली है वैसी दावागिन से हमारी रक्षा ये (श्रीकृष्ण) ही कर सकते हैं। ॥ १४ ॥

आभास — एवं तान्ति सर्वस्य निर्मुहम् कृत्याये निवर्त्तदोषाभावादाद्वैप्रत्यापतिः: क्रियते गा: सत्रिवर्त्तेति,

---

१ — पयाक्रम।
२ — काल का जिस पर प्रभाव नहीं।
आभासार्थ — इस प्रकार सर्व को निरोध बनाया, अर्थात् सब की पद्धतिया अविधा नाश कर दी और वे दोष फिर आने के नहीं, अतः यहां से ही अपने स्थान ब्रज में लौट आए — जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — गा: सत्निवत्य सायाहें सहारामो जनार्दनः।
वेणु विरण्यन्त गोष्ठमागद्ध गोपेप्रियाः। १५।।

श्लोकार्थः — सांजः के समय, बलदेवजी के संग श्रीकृष्णचन्द्र गोपों को अच्छे प्रकार से लौटकर, गोपों से स्वति करते और बंसी बजाते हुए गोकुल में पधारे। १५।।

व्याख्यार्थः — गोपों को उसी समय, गोष्ठ में न ले आने का कारण यह था, कि गोप भयभीत थे, जब उनका भय मिट गया और वे समझ गए कि अब कोई भय नहीं है, तब तक सार्थक हो गया था, अतः सार्थक में सुख पूर्वक गोकुल आए। गोपों की अविधा नाश हुई, क्योंकि भगवान जनार्दन है अविधा को नाश करने वाले हैं। न केवल अविधा नाश हुई, किंतु इश्वर की भी प्राप्ति हुई, कारण कि भगवान के साथ बलदेवजी भी थे इस प्रकार दोनों की प्राप्ति कर, प्रसन्न होते हुए, लोटने लगे। भगवान ने बंसी बजा कर सबों के सदृश्यों को जगाया गोष्ठ शब्द से स्थान की पवित्रता दिखाई अर्थात् जहां गोपों का निवास है वह स्थान पवित्र है। गोप भगवान की स्वति करते थे। यहाँ गोष्ठ में आने पर भी गोपों को भगवान के महात्मा का ज्ञान हुई था। १५।।

आभासः — एवं वनगमने गोपानं सौख्यमुक्तवा गोष्ठगमने गोपीनां सौख्यस्थानां गोपीनामिति।

आभासार्थः — इस प्रकार, भगवान वन में पधारे, जिससे गोपों को आनन्द हुआ उसका वर्णन कर अब गोष्ठ में आने से गोपीजन का आनन्द हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासं येन विनाभवत्। १६।।

श्लोकार्थः — भगवान के दर्शन होते ही, गोपीजन को परमानन्द हुआ, जिन
गोपीजन के भगवान के बिना एक क्षण भी सौ युग के बराबर बितता था। \(16\)

सुबोधिनी — सौंभव महागुप्त सुबोधिनी गोविन्ददेशने तेजमान-दासविभाषानिर्वितिमध्ये, प्रभुविस्मृतिमध्ये क्षण गुणसाधनमिति। तथां गोविन्दानं भेद भगवाता बिना क्षण गुणसाधनमवाचवदेकर्मिन। श्रीगुप्तनन्दविषयतरे प्रियने चेति, एवंनिर्वितम्य संसारभावं ज्ञापत: \(16\)

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां सुबोधिनीसद्विविविधति दशमक्षे विवरणं गोविन्ददेशस्य: \(16\)

व्याख्यायम् — गोपीजन ने गोविन्द का दर्शन किया जिससे उनको परमान्द हुआ और उससे ऐतिहासिक में भी निवृत्ति हो गई, तथा गोपीजन को भगवान के बिना एक क्षण भी सौ युगों के समान भास्ता था, जिसका तात्त्विक है, कि गोविन्द उसी एक क्षण में, मनुष्यों को नौ युग में, जितने जन्म मरण होते हैं, उतने जन्म मरण भोगाति अर्थात् उनको वह क्षण भी दुःख-रूप संसार था, अतः जब भगवान के दर्शन हुए तो आनन्द प्राप्त होने से, जन्म मरण का चक्कर नष्ट हो गया अर्थात् संसार की विस्मृति हो गई। \(16\)

इति श्रीमद्भागवत महा पुराण दशम स्त्रोत पूर्वार्थे के \(17\)वें अध्याय की श्री महाभारत स्त्रोत की गुप्त कृष्णचन्द्र आनन्दकंद की लीलाओं का अवगहन निम्नलिखित भक्त शिरोमणि सूरदासजी के लिये प्रसिद्ध है।

राग कान्हरे

अब की रक्षा लेवू गोपाल।
दस्रहू दिसाते दुस्रह दावारृ उपजी है यहि काल।
पटकत बाँस कांस कुश चक्कलत कसर ताल तमाल।
उच्छतत अर्थ अंगर फूलत फर झप्पत लत डाल।
धूम धृष्टि बादी धुर अंबर चक्कर विच विच ज्वल।
हलत बहु भीर चारिक पिक जल जीव बेहल।
जिन जिन डूलू नयन भंजदु सब हंस बोले नदलाल।
सूर अनल सब बदल समानी अर्थ के करो ब्रजवाल।
राग गोड

दारानल अचैं व्रज जन बचायो।
धरनि अकासलो ज्वाला माला प्रबंल धेरि चहुं पास व्रज बास आयो॥
भये बेहाल सब देख नदलल तब हंसत ही ख्याल तककाल कीनो॥
सबरि मूंदे नयनि नाहि चितवे सैन तृषा ज्यों नौर दव अचैं लीनो॥
देखो अब नयन भरि बुझि गई अगनि ज्ञार चिते नर नारि आनन्द भारे॥
सूर प्रभु सुख दियो दारानल पीलियो कहत सब ग्वाल धनि धनि मुरारी॥

राग बिहागरे

चकृत देखि यह कहि नर नारि।
धरनि अकास बजवर ज्वाला झपटी लपटि करारि॥
नहि वरक्षो नहि छिरक्षो काहु कहां धंगो गयो बिलाई।
अति अधार करत बन भातर कैसे गयो बुझाई।
तृण की आगि बरत नहि बुझिगाई हमि हंसि कहत गोपाल।
सुनहू सूर वह करूँ कहिनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल॥

राग बिलावल

जाको सदा सहाइ कहाई। ताहि कहौं काको डर पाई॥
वनचर जहाँ संगही शतां। खेलत खात सबरिनसि बोलै॥
जाको ध्यान न पावै जोगी। सो वृज में माखन को भोगी॥
जाको भाया त्रिभुवन छांवे। जो जसुमति के प्रेम बेंधवे॥
मुनि जन जाको ध्यान नं पावै। वृजजन लै ले नाम बुलावै॥
सूर ताहि सूर अंबर देखौ। जीवन जन्म वृज ही को लेखौ॥
कारिका — लीला समस्यात्मक निरुद्धेः सहितोच्चये ।
वर्षाशतकान्त्यायोगान् सर्वात्तत्वं निरुप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — जिन भक्तों का निरेष्ठ हो गया है, उनके साथ की हुई लीला का वर्णन सतत्रहें अध्याय में किया जाता है, तथा वर्षा और शरद क्रतु के योग से सर्व प्रकार के तत्त्व निरुपण किये जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या — इस अध्याय में निरुद्ध भक्तों के साथ, जो लीला भगवान् ने की है, उसका वर्णन है, जिसका कारण यह है कि भगवान् के मन्त्र गोप तथा व्रजबालियों की भगवान् में पहले से अब विशेष आशिक्त हुई है, क्योंकि भगवान् ने अन्तःकरण के दोष रूप दावापिन्ता तथा प्रलम्ब दैत्य का नाश किया
है। इन देवताओं के नाश से, गोपों की भगवान्मू में विशेष आसक्ति हुई है और निरुक्त भक्तों के साथ की हुई लीला का वर्णन सत्त्रवें अध्याय में है।

इस कारक में यो नहीं कहा है, कि निरुक्त प्रभु के साथ थे किन्तु उनके साथ प्रभु की लीला का वर्णन है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे स्वामिनियां (गौतमबन) जब प्रभु गौ मार्ग स्वर्ग वन में पढ़ाते तब आपस में मिलकर परस्पर प्रभु की लीलाओं का गुणान करती थीं, जिससे लीलाओं में तनमय हो जाती थी, वैसे ही गोप चर्चा को, परस्पर तथा अन्य ब्रजवासियों के साथ भगवान् की लीलाओं का गुणान करते थे, जिससे वे लीलाएँ, उनके हृदय में स्थायी हो जाती थी।

वर्ष और शरद ऋतू के योग से उनमें (लीलाओं में) आने वाले सर्व पदार्थों के तत्त्वों का निरूपण किया है।

कार्यका - दोषायमन एव सर्वतत्त्वस्म बोधनम्।
जाते च तत्त्वे सत्क्रिड़ा प्राजापत्ये निरूपते। II 2 II।

कार्यकार्थ - सब तत्त्वों का ज्ञान तब होता है जब सर्व दोष पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तत्त्वों का जब ज्ञान हो गया तब सत्क्रिड़ा हुई जिसका वर्णन सत्त्रवें अध्याय में किया गया है। II 2 II।

व्याख्या - पहले भी, (वर्ष और शरद) ऋतुएं आई हैं, तब वर्णन न कर, इस अध्याय में, इनका वर्णन इसलिए किया गया है, कि अब ये गोप, देहाध्याय आदि दोषों के नाश होने से, शुद्ध हो गए हैं। दोष को मिटने वाली, इन लीलाओं के स्रवण मात्र से, जब सर्व दोषों की निवृत्ति होती है, तो गोपों ने तो, इन लीलाओं का साक्षरता अनुभव किया है, जिससे वे दोष रहत हो गए, यह स्वत: सिद्ध सिद्धान्त है। दोष वालों को लीला के स्वरूप के तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो सकता था। अब निरूप होने से गोपों को लीला के सर्व तत्त्व (पदार्थों) का ज्ञान हो गया, जिससे इस अध्याय में सत्क्रिड़ा का वर्णन है, जिस क्रिड़ा में दैत्यों का संहार करते हुए भी, उनका (दैत्यों का) सम्बन्ध न रहे वह सत्क्रिड़ा है। II 2 II।

कार्यका - महात्मज्ञानपूर्वस्तु सनेहः कृष्णो हि युज्यते।
तादृशाश्रेष्ठ मुदा क्रिड़ा तत्त्वायात्मन निरूपते। II 3 II।

*यज्ञ में, पशुनिक प्रजापति को श्रुति के अनुसार १७वां कहा है। अतः यहाँ १७ के अर्थ में प्रजापति है।

१-जिनका प्रभु ने अपने में निरूप सिद्ध किया है वे। २-अनन्द रूप क्रिड़ा।
कारिकार्थ — श्रीकृष्ण में पूर्ण स्नेह तब होता है जब श्रीकृष्ण के महात्म्य का पहले ज्ञान किया जाए। ऐसे महात्म्य ज्ञान वाले पूर्ण स्नेहीयों से ही भगवान् आनन्द से क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ा का भी यहाँ वर्णन है।

व्याख्या — कारिका में ‘तू’ (तो) शब्द देकर यह बताया है, कि भगवान् में लोकिक विषय वाला स्नेह नहीं होना चाहिए। वह (निष्काम स्नेह) तब होता है, जब भगवान् के महात्म्य द्वारा, भगवान् के आनन्द स्वरूप आदि का ज्ञान होता है। इसलिए ये भगवान् के महात्म्य का ज्ञान होने से, उनका (गोपों का) भगवान् में शुद्ध स्नेह हुआ था, जिससे आनन्द रूप भगवान् ने उनसे आनन्दमय क्रीड़ा की है।

आभास — पूर्वाभ्यास सामान्यता इत्यादि, तत: पूर्वाभिक्षयं यो विशेष: स वक्तव्य: तमाह द्वाराया,

आभासार्थ — १६ वें अध्याय के अन्त में कहा, कि भगवान्, बलसम तथा गोप गोकुल में आए, उस समय उनमें (गोप आदि में) विशेषता क्या थी, उसका वर्णन, निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक: — तयोस्तद्दृढ़ं कर्म दबावते न शम्भात्मन:।
गोपा: स्त्रीभ्य:सचाच्चु: प्रलम्बवध्मेव च।।

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी ने कहा कि गोपों ने इन, दोनों भ्राताओं के यह अदुह स्वरूप अर्थात्त, अपने को (गोपों को) दातानल से बचाना और प्रलम्बासुर का वध, श्रीमानों से कहे।।

श्रीनाथ व्याख्या: — त्वरित रामकृष्ण: प्रलम्बवधीरः वियोक्तकाल्कालमद्धं सर्वत्रोऽक्षरममुख्तमद्धुः। कर्म स्त्रीभ्य: सचाच्चु:।
शान्तत्या कर्मवत इति गोपला:। शत्न: स्वरूपां समागल स्त्रीभ्य: स्वरूपां।
शत्ना भवत्तवश: भा। तथा तत: सति
तत्सङ्कदृश्यों न भवेदित्तर विभेदित्तर विभेदित्तर:।
तत्सङ्कदृश्यों वृद्धानार्थ:।

व्याख्या — भगवान् का किया हुआ उत्तम कर्म, जो पहले किसी ने न पुनः तथा न देखा वेसा अदुह (दातानि से अपनी (गोपों को) रक्षा करने का और प्रलम्ब के वध का) चित्रित गोप अपने अपने घर में आकर खियों (घर की सब खियों माता आदि) को पुनर्नवे लगे। व्यों ज्यों
चरित्र वर्णन किया जाता, त्यों त्यों, भगवान् का महात्म्य हृदय में स्थिर होने लगा, जिससे, शान्त
चित्र होकर धीरे धीरे कहते थे, इसके श्रवण से, सिर्याण भी भगवतपरावरण होगी तो, हमको
भगवानुकुण्याश श्रवण न्याय नहीं होगी। अत्यधिक रात्रिको, जागरण होने से, सुख्स्वत्व हो, गुण वर्णन
में, श्रवण रुपसे कराये। जो वृद्धि के कारण घर में ही बैठे रहते हैं, उनलों भी वह गुणानुकुण्याश श्रवण
kिया। १॥

आभास — ततः सर्व एवं गोकुलवासिनो भगवन्माहात्म्य ज्ञातवत्त्व इत्यादः

आभासार्थः — गोपी ने गोकुल में आकर जो भगवान् के चरित्र कहे उनको सुनकर सर्व
व्रजवासियों को, भगवान् के महात्म्य का ज्ञात हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोकः — गोपवृद्धाश्च गोप्यश्र तदुपाकर्ण्य विस्मिता: ।
मेतिरे देवप्रवर्त अृत्यामारो ब्रजं गतो। २॥

श्लोकार्थः — गोपी में वृद्ध गोप तथा गोपिया यह बात सुन, विस्मय करते लगे, और ब्रज में आए हुए कृष्ण तथा राम को देखने में, उतम देव समझने (मानने) लगे। २॥

श्रवणार्थः — बृहत् गोप तथा गोपिया वह चरित्र सुनकर आश्चर्य में मगन हो गई। श्लोक में
दो बार दिये हुए ‘च’ का तात्पर्य है कि मूढ़, बालक तथा गोपिया के अतिरिक्त अन्य शिष्या
भी सुनकर अचूक में आ गई। पहले श्लोक में, कहे हुए, चरित्र के श्रवण से, विस्मय हो गए
किन्तु उससे सब को यह ज्ञात हुआ, कि ये दोनो भाई (राम-कृष्ण) सर्व इन्द्राणि देवताओं से उतम
है, अर्थात् दोनो पुरुषोत्तम स्वरूप है। किसी को यह शक्ता होती, कि ये पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं
हैं, केवल उपचार (पुजार्थ) के लिए यों कहा गया है। इसके उत्तर में गोप कहते हैं, कि यह
शक्ता ही नहीं करनी चाहिए: हम इनको, वास्तविक पुरुषोत्तम स्वरूप समझते हैं—क्योंकि, शक्तिशीलों
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रमेय’ अवानत प्रकरण - अध्याय ६

की शक्ति मिटने के लिए उनके नाम ‘कृष्ण-रामी’ श्लोक में दिये गए हैं अर्थात् ये कृष्ण और राम ही, देवोत्तम (पुरुषोत्तम) स्वरूप हैं। श्लोक में ‘प्र’ अक्षर से उनकी विशेषता (उत्तमता) बताकर यह सिद्ध किया है, कि ये अन्य गोपों के समान गोप नहीं है, किन्तु देवों में, भी उत्तम देव होने से, सर्वथा पूज्य है। जैसे भूपति, सदैव प्रकट रूप से, अपनी राजधानी में रहता है, किन्तु कभी अपनी प्रजा की दशा देखने तथा उनके हित करने के लिए भेष बदल कर गरीबों के घरों में जाता है, वैसे ही भगवान् भी त्रज में आए हैं। ॥ २ ॥

अभास - एवं तेषा ज्ञानान्तरं भगवत्क्रीडार्थ्य प्रावृत्त समागतेत्यां तत्तं इति द्वारविश्वता,

अभासाध्यं - इस प्रकार जब उनको कृष्ण तथा राम के स्वरूप का ज्ञान हो गया, तब चर्मं कृष्णं, भगवान्, भक्तों के साथ सान्न्द क्रीडा करें, इसलिए आई, जिसका वर्णन २२ श्लोकों में करते हैं।

श्लोक: - तत् प्रावर्तय प्रावृत् सर्वसन्तसमुद्वा। 
विद्योतमानपरिधिरिविस्फूर्तिजितं भस्मात्तता। ॥ ३ ॥

श्लोकार्थं - उसके अनन्तर सब जीवों को उत्तप्त करने वाली, सर्व दिशाओं को प्रकाशित करने वाली, वर्षा ऋतु आई, जिससे सूर्य और चन्द्रमा के समीप में आए हुए मेघों से मण्डल बन गए तथा आकाश में गड़गड़ाहट शब्द होने लगे। ॥ ३ ॥

सुभोधिनी - आदि स्वयं प्रावृद्ध समागता, नन्तः प्राकृतियागताः कार्यालयाः भगवतीतिवाशिकाफ़ कर्मालाकारसमूहवती, सत्यमेव सत्तानं सत्यमुद्वारा यथेष्ट, सत्यवैषयवेत्रा हि भगवत्क्रीडा तदर्था वा सर्वसत्तमयुगोद्वोधिता, तदा भगवान् सत्ते सार्व्यं कहा: सह क्रीडार्थतत्त्वस्य भगवतक्रीडापरिमेयत्वमुक्तम् स्वरूपकोऽपि क्रीडापरिमेयत्वमाह विद्योतमाना: परिष्ठो यथेष्ट, परिष्ठयः।

पारिष्ठो यथेष्टः विद्योत्पत्तिः: सर्वं एवाद्यद्विषेषामाना अपि विद्यायावातस्तवेव विद्योतमाना विशेषेण प्रकाशानां भवति, विद्यूर्जितं नहस्तं च भवति, अनेन भगवत इत्यं सम्पूर्णितो निन्दिता यस्याद्गमातामुरुवचनं: सर्वतत्व सर्वं पुण्यं उद्वेद्ध भवती तथा महाराज समूहो ज्ञान समागताः सर्वं ग्रामं उद्वेद्ध भवति, भूमिगुणं: सर्वं जीवा दिष्टी विद्युद्, गजितात्याकाशयः, एतात् तम सत्यस्यंप्रस्त। ॥ ३ ॥

शास्त्रों में यह निष्पक्ष है कि एक अक्षर से समग्र शब्द के अर्थ का तात्पर्य समझा जा सकता है जैसे कि 'भार' में 'भा' 'र' 'त' ये तीन अक्षर हैं जिनका अर्थ यों किया गया है, 'भा' अक्षर से 'भाति सर्ववृद्धिके देव' लिया है अर्थात् इसमें जो कहा गया है वह ही सर्व वेदों में है 'र' रति सर्ववृद्धि जनूपुर' इस शास्त्र का उपदेश है सकल जीवों से प्रेम करना। 'त' तर्क सर्व भूतानां इसके श्रवण से सर्व प्रभु संसार से पार हो जाते हैं। अतः इस शास्त्र की 'भारत' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'प्र' शब्द से विशेषत्व बताई है। 'योजना'
व्याख्यार्थ - भगवान् के क्रीडा कर्मार्थ स्वयं वर्षा ऋतु आई, यद्यपि वर्षा ऋतु में, मार्ग में कीचड़ आदि होने से, भगवान् की क्रीडा कैसे वा कौनसी हो सकती? यह शाप हो, तो उस (शापा) के निवारण के लिए कहते हैं, कि वर्षा ऋतु कार्य तथा स्वरूप दोनों से लीला में, उपयोगी हुई है, क्योंकि भगवान् को सर्व जीवों में समन कराई है तथा सर्व सत्त्वगुण प्रकट हो, तब लीला हो, ये दोनों कार्य प्राप्त हुए ने किए हैं, इस प्रकार कार्य से, प्राप्त हुए ऋतु, लीलोपयोगी हुई है। स्वरूप से भी लीलोपयोगी हुई है, जैसे प्राप्त हुए ऋतु ने आकर चारों तरफ, सर्व दिशाएँ आगे से विशेष प्रकाशभान कर दी, तथा आकाश में बिजली के गड़ड़ाझट शब्द के साथ प्रकाश होने लगा। इससे यह बताया है, कि इस (वर्षा ऋतु) ने आकर, लीला के लिए सर्व प्रकार की पहले ही सजावट कर रखी है, जिससे लीला में, किसी प्रकार विलंब वा रुकावट न हो, पूर्ण आनन्द से सत्त्वसमक लीला हो। वर्षा ऋतु के आने से ही, पृथ्वी के गुण, सब जीव, दिशाओं का गुण, बिजली की गर्जना, आकाश का गुण (गड़ड़ाझट) आदि होते हैं। जैसे महाराजा के आने पर समग्र ग्राम जागृत होता है। ये गुण क्षमता, सत्त्व और रजो रूप हैं।

आभासार्थ - तत्सामानगतायाः सर्वं भगवच्छक्तय: क्रीडोपविक्यः समागता इति ज्ञापयितुं दिव्यानेकविश्वसतिधर्मानाः सान्द्रत्यादिताविद्वः श्लोकः

आभासार्थ - वर्षा ऋतु के आने से भगवान् की लीला के उपयोग में आने वाली सर्व भगवान् की शक्तियां भी आ गईं। जिसको बताने के लिए अलोकिक्त इक्ष्मोस धर्मों का वर्णन इक्ष्मोस श्लोकों से करते हैं।

\[\text{प्रकाश}]

\[\text{लेख}\]

\[\text{टिप्पणी}\]

2 स्वर्ग लोक २१ प्रकार के हैं, इसलिए २१ श्लोकों से ब्रज की वर्षा ऋतु का वर्णन कर वह सिद्ध किया है कि ब्रज की वर्षा ऋतु भगवदी स्वर्ग (सचिवदानन्द स्वरूप) है। जिस प्रकार पुन्यात्मा स्वर्ग में भोग भोगते हैं उसी प्रकार पुष्टि पक्त ब्रज की वर्षा ऋतु में अलोकित आनन्द रूप भोग भोगते हैं। 'योजना'

२-वर्षा ऋतु।
श्री सुभोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकारण ‘प्रमेय’ अवान्त प्रकारण - अध्याय ६

श्लोक: - सान्द्रनीलाम्बुदेवोत्साहितयुक्ततत्त्वसन्यन्तरविनयिन्यतुष्टि:।
अस्याक्रियता-राज्यां राज्योऽविनाशेन सगुणं भवे॥ ४ ॥

श्रीवाक्षर "दामिनीं और जर्ना-वाले प्रकाशिक राने काले बादलों से आच्छादित्
आकाश, सगुण ब्रह्म की भांति अरुप्त तेज वाला हुआ॥ ४ ॥

सुभोधिनी "एकविषया वा इतः स्वयं लोक' इति श्रीवरे "रक्तविशिष्टवें देवलोका" इति च, एते वेदं सर्वार्थतिष्ठित्
"हरि दासा मासा पंक्तिवर्तय इव लोका असाविधित्य एकविषया" इति च, तत्र प्रथमसार्यपवत् प्रकाशिकां सान्तुण्ड्र
ब्रह्म दुर्गोऽरणेन प्रवृत्तं स्मरणतीति प्रवृत्कुलं ब्रह्मद्वैतस्तत्त्व तान्वेदि. 
"आकाशस्यीं ब्रह्म" विश्रुङ्गकारकं शरीरतः
श्रृण्यते, तत्र प्रसिद्धीम् चतुर्विपयुन्यं न भवतीति कृत्यवादया
प्रवृत्कालेन ततसमर्थे क्रियते, सत्यपदं श्रुतिकाशो
भगवद्वृत्तूत्तुल्य इति, ततः लोकः प्रत्यक्षविरुद्धः
नान्दङ्कुर्विशिष्टाः विद्यमानानं गुणानं समायते गुणानं
प्रकटविकीर्तिताः, तानं गुणानां सार्वनाशकाः: किमेष्ठाः ये
नीलाभुः सजलजलदा अध्ययनायाते: सहितं व्योमः
tथापि न श्रव्यवित्ततः वर्णभाषेन वातावरितमो विशेषनादिः
सविद्विसत्तत्त्वनियन्तिविवेदीति, विविधतुः पीताम्बरश्वानीयाः

व्यासार्थ - एक मृत्यु यथाहृति है, यहाँ से स्वर्गलोक* इक्षुसवः है, दूसरी मृत्यु कहती है,
कि 'देवलोक इक्षुसवः' तीसरी मृत्यु कहती है कि '१२ मास, ५ क्रतु, ३ लोक और ९ यह
सूर्य ये मिलकर इक्षुसवः है। इस प्रकार इत्यादि ही (२९ धर्मों में ही) सत्य धर्म वा भगवद्वृत्त
धर्म की प्रतिष्ठा (आश्रय) है। पहले सूर्य की भांति प्रकाशिक, सगुण ब्रह्म को, वर्णा क्रतु के दृश्य
ते स्पष्ट रीति से समझाते हैं, ब्रह्म के सम दिये ते वर्णा क्रतु दृश्य को समझाने के लिए इस
श्लोक में वर्णन करते हुए कहते हैं, कि 'मृत्यु कहती हैं, कि 'ब्रह्म का शरीर (स्वरूप) आकाश
हैं', भगवान कृष्ण के स्वरूप को देखते हुए 'आकाश' कृष्ण के स्वरूप के समान न होने से
प्रत्यक्ष विरुद्ध, मृत्यु का कहना, लोक प्रामाणित (प्रमाण रूप) नहीं मानते हैं, अतः उसकी प्रामाणित

* "एकविषया वा इतः स्वयं लोक' 
† "एकविषयतैः देव लोकाः" 
‡ "हरिदशा मासा पञ्चांक्षिप्त इसे लोका असाविधित्य एकविषया"
करने के लिए ही प्रावृत्त (वर्षी) ऋतु आकर उसका समर्थन कर रही है कि ‘आकाश में जो गुण गुल विद्यमान है, उन गुणों को वर्षा ऋतु अन्य समय में प्रकट कर दिखाती है, कि जैसे आकाश तजल में दाला, घनशयं रङ्गरूप है, वैसा ही, कृष्ण भी घनशयं है, अतः आकाश ब्रह्म का शरीर है। ऐसा सिद्ध होने पर भी, शक्ति उठती है, कि केवल बादलों के कारण ‘आकाश’ ब्रह्म का शरीर है यह मान-लेना पूर्ण नहीं है, इस पर कहते हैं, कि केवल वर्षा की समता से ‘आकाश’ ब्रह्म का शरीर नहीं है किन्तु अन्य भी समानताएं हैं, जैसे कि आकाश विद्युत रूप आभूषणों से विभूषित है, वैसे ही श्रीकृष्ण पीताम्बर से विभूषित है, तथा जैसे आकाश गर्जनादि शब्द से शवदायमन है वैसे ही श्रीकृष्ण वेणुदान करते हुए शवदायमन (शब्द करने वाले) है। इससे भी सिद्ध होता है कि ‘आकाश है शरीर जिसका’ वैसा ब्रह्म है।

शरीर में तेज भीतर रहता है और बाहर तेज आच्छादन रहता है, जैसे भगवान् अपने तेज को भीतर छिपाकर बाहर लोक को व्यामोह करने के लिए ऐसा दिखाया करते हैं कि मैंने जन्म लिया है। आकाश में वैसा न होने से उससे भगवान् के रूप की बाबरी कैसे होगी? इस शक्ति का निवारण करने के लिए कहते हैं कि वर्षा ऋतु सिद्ध कर दिखाती है कि आकाश भी वैसा ही है, उसमें भी सूर्य आदि ग्रह स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं।

इस प्रकार होने पर भी, भगवान् का शरीर आकाश है यह सिद्ध नहीं होता है, कारण कि भगवान् अनेक वस्त्र, गृह तथा गोपियों से घिरे हुए रहते हैं आकाश तो वैसा नहीं है, इस पर कहते हैं कि आकाश भी मेघों से घिरा हुआ रहने के कारण ब्रह्म का शरीर है, अर्थात् आकाश अनन्त गुण परिपूर्ण समुन्न प्रभु के समान होने से ब्रह्म का शरीर है अतः श्रुति का यह कहना है कि ‘आकाश ब्रह्म का शरीर है’ यह वातावरण है।

ब्रह्म में, सत्य, रज तथा तम ये तीन गुण हैं इस प्रकार से भी दोनों (आकाश तथा ब्रह्म) में समानता है, जैसे कि आकाश में मेघ, तम, तथा प्रकाश तीन गुण हैं और ब्रह्म (श्रीकृष्ण) में भी तीन गुण — व्यामोह, गोपियों से लीला, ज्ञान हैं।

अभास — एवं वर्षाकृतीमाकाशं निरूष्य तत्सममभिन्नं सूर्यं निरूष्यत्त्वद्यैश्यामानिति,

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि, लोकों को व्यामोह करना तमोगुण का कार्य है, गोपियों से लीला रलोगुण का कार्य है और ज्ञान सत्यगुण का कार्य है। इस प्रकार भगवान् समुन्न ब्रह्म जैसे हुए।

‘योजना’

स्ये गुण प्राकृत गुण नहीं समझने चाहिए किन्तु अलौकिक है ऐसा समझा चाहिए।

अनुवादक

1-बिजली। 2-डंका हुआ-छिया हुआ। 3-मिटने। 4-सत्य।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवातर प्रकरण - अध्याय ६

आभासार्थ - इस प्रकार, वर्ष ऋतु के कारण जो आकाश का स्वरूप प्रकट हुआ, उसका निरूपण कर, अब इस निम्न श्लोक में उसके (वर्षों के) समन्वय वाले सूर्य का वर्णन करते हैं।

श्लोक: - अधृत मासान् निगीतं यदृ भूयाधिकृतमेय वसु।
स्वगोरिभीष्टानुसूचये परजन्य: काल आगते। ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ - सूर्य ने जो पृथ्वी के जल रूप धन का आट महिने तक पान किया, उस (जल रूप धन) को समय आने पर (वर्ष ऋतु आने पर) परजन्य रूप हो के अपनी किरणों से छोड़ देने लगे। ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ - यह सूर्य ही परजन्य है, जैसा की भगवती श्रुति कहती है 'जिन किरणों से आदित्य तपता है, उन किरणों से ही परजन्य रूप स दृश्य वर्ष बनता है, अतः कहा गया है कि सूर्य के तीन रूप हैं—१-आध्यात्मिक रूप, जिसको परजन्य कहते हैं, २-आधिवैतिक रूप, जिसको आदित्य कहते हैं, ३-आधिवैतिक स्वरूप है, जिसको संबंधत नहीं कहते हैं। वह (संबंधत) प्रजन्य है अत: इस सूर्य रूप परजन्य ने ही अपनी किरणों से निरतरं आट मास पर्यंत जो जल रूप धन का पान किया उसको बापस लौटकर धूम को आद्र्त करते हैं, जिससे वह जल अथात त्रिधि को पैदाकर सकती है अत: जल धन है कृपकृत जल के द्वारा ही सत्यादि उत्पन्न होते हैं जिस्म धन का प्रतिल होती है। सूर्य तीन जल धन इसलिए प्रहण किया, कि उसे पकाकर (उसमें सत्य की उत्पत्ति की शक्ति दालकर) लौट दें। उसकी किरणों ही में हैं अर्थात् में परजन्य रूप सूर्य की किरणें हैं, जिनके द्वारा लिया हुआ जल वर्ष ऋतु आने पर लौटता है। यदि लौट कर न देवी तो वह ऋतु, काल रूप भगवान् हेमक (परजन्य के) लिये भी उपद्रव का कारण हो जाए। वर्ष ऋतु, जिस प्रकार, आकाश को श्रीर (स्वरूप) सिद्ध करती है, वैसे ही, सूर्य को भी, अंगता का कर्ता तथा उत्प्रभु कर्ता सिद्ध करती है। ॥ ५ ॥

१-बिना रक्तचतु के। २-उत्प्रभु।
आभास — एवमाकाशसूर्ययोः स्वरूपसम्पादकत्वमुक्ति सूर्योपरिलोकयोग्यमध्यमोऽकर्षायतनरक्षस्य स्वरूपसम्पादिका प्रावृट्यां जातयथात्वम् तद्विच्छत इति,

आभासार्थ — इस प्रकार कर्ण ऋतु को आकाश तथा सूर्य के स्वरूप का प्रकट करने वाला कहकर, अब अनतरिक्ष लोक के स्वरूप का प्रकाशक भी यही है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — तद्विच्छतः महामेघाः श्रण्डसनवेदिता: ।
प्रीणाः जीवनं हस्य मुमुचुः कसमी इव ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार दयावान, दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख को मिलने के लिए, अपना सर्वस्व जीवन भी त्याग देता है, वैसे ही प्रबल वायु वेग से कम्पित बिजली वाले बड़े बड़े मेघ, इस जगत को तस देखकर, उसको प्रस्त्र करने वाला तथा प्राण देने वाला जल देने लगे ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — अनतरिक्ष तथा वायु एक ही है अतः मेघों के देवता अनतरिक्ष होने से मेघ वायु के आधीन होते हैं। मेघों में जो बल (इधर उधर आने और जाने की शक्ति) है वह अकेली वायु का ही है, उसके (अनतरिक्ष वा वायु के) ही इतने के भेद हैं। तीन देवता हैं, इस प्रकार का निर्णय, वृहद्यान्त के शाण्डिक्य ब्राह्मण में किया गया है, कि जहाँ अमग्न, वायु और आदित्य रहते हैं वे तीन लोक के देवता हैं, उनमें सर्व देवों का समावेश हो जाता है। अतः मेघ वायु के आधीन है और इन्द्र के आधीन है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इंद्र देवता, वायु आत्मा और मेघ भूत है इस प्रकार तीनों
की एक रूपता है। जिस प्रकार, पुरुष के प्रयत्न से, शरीर में चैत्या उत्पन्न होता है, उसी प्रकार, वायू की प्रेरणा से, मेघ अपने कार्य करने में स्थिति करते हैं अर्थात् कार्य करते हैं।

मेघ अपना सर्वस्त्र जल, अवैदिक रीति से नहीं देते हैं, किंतु वैदिकानुसार अर्पण करते हैं, जिससे उस जल से अनादिकों की उत्पत्ति होती है, अवैदिक रीति से यदि दिया हो, तो अन्नादिकों की उत्पत्ति न होने।

मेघ जो जलदान करते हैं, उसका कल केवल 'वर्षा' नहीं है, किंतु उससे उत्पन्न अन्न, अर्न्म में जब अर्पण किया जाता है तब वह (जलदान) कार्य का रूप धारण किया है जिसका वर्णन श्रवण ने इस प्रकार किया है 'विद्युत'। अर्न्म है, 'वर्षा' हवा है, मेघ 'वषट' बोलने वाले हैं तथा उन मेघों की 'गड़णधार्ट' अनुसरण करते हैं। ये मेघ 'महामेघ' हैं कारण कि शाक्ति के अर्थ का अनुसरण करते हैं अर्थात् शाक्ति की आज्ञा अनुसार कार्य करते हैं। तेज वायु, देह की मर्यादा का, विचार नहीं करती हैं अतः वे मेघ, प्रचण्ड वायु से कूपित होते हैं। उन्होंने बलदायक, तापः निवृत्त करने वाला, अनादि उत्पत्ति से आगे प्राण देने वाला जल दान किया।

मेघ जलदान करने से स्वयं तो रिक्त हो जाएगे तब ऐसा अपने को हानि करने वाला दान किया। इस शत्रुक के उत्तर में कहते हैं कि जैसे दयालु पुरुष करते हैं उनकी तरह इन्होंने भी किया है। देहीचित्र तथा शिखर आदिकों ने तो दयाकर प्राण भी दे दिए हैं, इन्होंने दया से जलदान नहीं किया है किंतु काल वायु से प्रेरित होकर किया है अतः शलोक में 'इव' शब्द दिया है।

आधारस्थ — क्रमप्रासा प्रावृपत्कां भूमि वर्णयति तपः कृपासेति,

आधारास्थ — वर्षा ज़रूर ने प्रथम आकाश, सूर्य और अन्तरिक्ष के स्वरूप को जिस प्रकार बनाया उसी प्रकार अन्न पृथ्वी को भी बनाया जिसका वर्णन इस शलोक में करते हैं।

शलोक: — तपः कृपा देवमीदा आसीद वर्ष्यंसी मही।

यथावेव काम्यतपसस्तः: सम्प्राय तत्तत्कलमू। ॥ ७ ॥

शलोकार्थ — जैसे सकाम पुरुष का शरीर तप करने से प्रथम दुर्विल हो जाता है।

१- कार्य करने में चाह। २-विचली। ३-होम का पदार्थ। ०४-तेज।
५-आप। ६-शून्य, खाली।
अनतर तपस्या का फल मिलने पर पुष्ट होता है, वैसे ही पृथ्वी जो ग्रीष्म के तप से, जल चूंसे जाने के कारण दुर्बल कर सकती है वह इतने के वर्ष करने से फिर पुष्ट हो गई || ७ ||

सुबोधिनी - पूर्व तपस्या सत्तापन सर्वजलहरणाच- घुसका क्रुष्णा जाता देवनेन्द्रेण मीढ़ा ‘मिख सेचने’ सिखात, वर्षियस्य स्थूलस्वूच्छुना वर्षिकालसम्बन्धीमि च श्रुत, भोजन हि पुष्टे भवति, नन्वस्य देवस्य किः प्रयोजनं?

प्रहाणस्याभायं भूमिर्धिमि चेदू भूमा आपि न किंक्रेत्

लं परस्य इत्यासुभोग्येच्ये वत्, तपस्या श्रोविते देहे

तत्तनसा या विशेषसम्बन्धित: फलातानांति तेन सुखु पुष्टे

भवति प्रयत्नमूलस्तून न सुखु जननयति, अतंत्त्सा द्विधाकरण

पुनःकर्मिमि युक्तमेव भूमेष्टाः तहाः, कामिकापस: सम्बन्धिण्यस्यमूलस्तून सम्पात्य वर्षियस्यशोभति, तनुग्रहिति च चाथः, प्रधाहां द्वितीयाः च अथवा तपस्यी

तपस्या सम्बन्धिणीस्त: स्वगन्धिदेहानु प्राय: तत्कल्पः प्रायिति

तहत् पृथ्वी फलायति सत्यादिक प्रातित्तिथ्य: ननु ‘न यत्र चण्डाभुषकाः विशेषाच्ये भुवो रसं गुहणाथ’ इति

पूर्वपूर्व-तपस्यार्थितः तप:क्रुरशोकोऽक्तितसहितः दृष्टविष्णु तत्र श्रावसात्, तथा हि यथा ग्राम-रामलाभमस्थानमिति तप कोति

कामिती तेन विना तदस्मातात् तथं ग्रामस्थानस्त्रोणं तत: तुत्तावतस्तलं

रसं गृहणाती नान्यं, पूर्व सारस्यवति देश आस्या बोजस्यापि

नाशहु तत्र रसायनस्यायक्यकारत: अत एव जलापद्या

हितं रसपदुमुक्तं, सस्यहरानादकं रसपद्धार्तवाद्र

विखायात्युत्त्वण्यन्ति तामापि ज्ञातायुः सामग्रियमयक्ती

जातिः, दीर्घरेख्यालाब्दा: विपश्य: तातुर्वर्यपि स्वाहार्य यत्

तदु द्वादशस्यायद्व: एतेन कालाद्वयोपः व्रजसास्विविद्वाः

कर्तु न श्रावसन्तिनीति जापिता, अत्र कामिताः: का स्वर्णालीकरणेक्यवस्मेतादिश्वरस्त्रयते, तदेकौशिक विद्वान्

“तत् आराम्” तिथिके || ७ ||

व्याख्यार्थ - प्रथम तेज तपस्या (ग्रीष्म ऋतु के तीक्ष्ण तपस्या) से जल चूंसे जाने के कारण पृथ्वी निर्बल हो गई थी, इतना (मेघ) के जलदान देने से फिर पुष्ट हो गई। जैसे शुक्र से पीड़ित और निर्बल पुरुष भोजन की इच्छा रखता है, उस इच्छा की पूर्ति से आर्थिक भोजन मिलने से पुष्ट होता है वैसे ही जल चूंसे जाने से, पृथ्वी शुद्धित तथा निर्बल हो गई थी इसलिए वर्षा के जल (भोजन) की इच्छा कर रही थी उस इच्छा की पूर्ति (जल रूप भोजन की प्राप्ति) से अर्थार्थ देव के (मेघ के) वर्षा करने से पुनः पुष्ट हो गई।

इतना (मेघ) रूप देव को पृथ्वी से ग्रीष्म ऋतु में जल लेने और उसको वर्षा ऋतु में जल देने की क्या आवश्यकता वा प्रयोजन था? जिससे भूमि को भी कोई लाभ नहीं। इस शाष्क के उत्तर में कहते हैं कि जैसे पुरुष प्रथम तपस्या द्वारा क्रुषे होकर फिर फल मिलने से पुष्ट होता है अथवा स्वागद्ध में सुख भोगता है। तपस्या करने के अनतर जो आनंद मिलता है और शरीर पुष्ट होता है, तपस्या करने से पहले होने वाला आनंद अथवा पुष्टि वैसी नहीं होती है। इसी प्रकार, पृथ्वी भी जलदान और जल प्राप्त करने से प्रथम वैसी प्रसन्नता अथवा पुष्टि नहीं हो सकती थी जैसे यो करने से (ग्रीष्म ऋतु में जलदान

१-शुक । २-शुक । ३-दुर्बल।
कर शुक्ल हो, अनन्तर वर्षा जल (द्वारा) वह परिपक्व, शुद्ध अमृतमय बना हुआ जल, प्राप्त कर प्रसन्न और पुष्ट होती है तथा सस्यादि उपजन करने की सामर्थ्य वाली होती है। देव का जल लेने और देने का यही प्रयोग है जिससे पृथ्वी धान्य आदि उत्पन्न कर, समग्र प्राणी मात्र की शुभ्य की निवृत्ति कर सके। सकाम की जाने वाली तपस्या से समस्त रखने वाले शरीर, उसका फल प्राप्त कर, पुष्ट हो जाते हैं। मूल श्लोक में ‘तनुः’ शब्द दिया है, आचार्य श्री कहते हैं कि यदि ‘तनुः’ के स्थान पर ‘तनुः’ पद लिया जाय तो, उसका अर्थ इस प्रकार होगा ‘सकाम तपस्या करने वाले का शरीर तपस्या का फल प्राप्त कर पुष्ट होता है।’ अथवा ‘तनुः’ पद को द्वितीय का बहुवचन लिया जाय, तो उसका अर्थ हो सकता है ‘सकाम तपस्या करने वाला तपस्वी तपस्या से समस्त रखने वाले शरीरों (स्वर्गार्दी लोकों) को प्राप्त कर तपस्या का फल (स्वर्गीय सुख) प्राप्त करता है वैसे (ही) पृथ्वी भी तपस्या कर सस्यादि फल प्राप्त करती है।

अ. १५, श्लोक ६ में कहा है कि जिस बृद्धावन में सूर्य की किरण पृथ्वी के जल को चूँच नहीं सकती है, पुणः यहाँ उसके विपरीत उसी पृथ्वी के ताप से कृष कैसे कहा? इस शाक्ति का निवारण इसमें दिया हुए दृश्यात्मा से ही हो जाता है। जो पुरुष सर्व प्रकार से सुखी है, तो भी आगामी जन्म में सुख की प्राप्ति होती, इस इच्छा से वह (अस्वभाविक भी) तपस्या करता है यदि तपस्या न करे तो, आगामी सुख की प्राप्ति उसको नहीं होती, इसी प्रकार बृद्धावन में आगे होने वाली सत्यों के लिए उस भूमि से (जिससे ज्ञानवाचियों की इच्छा थी) रस ग्रहण करते हैं, जहाँ विशेष जल (अत्र को उत्पन्न करने वाला जलकर्ता) है, उसके रहने से बोए हुए बीज भी, जो जाता आते। अतः जल न कहकर रस कहा है उसकी रक्षण के बजाय यहाँ ही चूँच है, अन्यत्र नहीं जिसका भाव यह है कि तीक्ष्ण किरण जल को ग्रहण कर पृथ्वी को जला देती है, किन्तु बृद्धावन की भूमि से, वे जल भी ग्रहण करने में असमर्थ हैं, तो पृथ्वी को कैसे जला सकेंगे? यह बृद्धावन का महत्त्व था। इससे यह बताया है कि कालाधिक भी ज्ञानवाचियों के विरुद्ध कुछ भी करने में, असमर्थ है।

इस श्लोक में काम्य तपस्या का दृश्य देकर, यह बताया है, कि इस प्रकार के तप से, हुई वर्षा न. जो अत्र उत्पन्न होता है, वह बृद्धावन में स्वतः उत्पन्न अत्र से पृथक प्रकार का है। यह लोकिक अन्य केवल वैदिक उत्पत्ति करता है, किन्तु बृद्धावन का अत्र भक्ति उत्पत्ति करता है। इसका वर्णन प्रथम है १०-५-१८ श्लोक में किया गया है। १७।।

आभास — एवं लोकत्रयस्थादिप्रथा स्वरूपमुक्तिक्षेत्रश्रीरणो न्यूनो न्यूनो वक्तव्यम् घरं प्रतिष्ठिता मासा ध्रुमिष्ठित प्रथममुक्तवर्णनां धर्मप्रतिष्ठामाह निशामुखश्रीरणादिप्रथामिष्ठित्वाः।

आभासार्थ — इस प्रकार उपरोक्त श्लोकों में सूर्य सहित, आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी लोकों
का स्वरूप कहकर, अब शेष ऋतु आदि का स्वरूप वर्णन करते हैं। ऋतु धर्म में प्रतिष्ठित है और मासः धर्मों में प्रतिष्ठित है। पहले ऋतुओं का वर्णन करते हुए धर्म की प्रतिष्ठा पांच श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक: — निशामुखेशु खद्वोतास्तमसा भान्ति न ग्रहः।
यथा पापेन पाशुण्डा न हि वेदा: कलौ युगे। II 8 II

श्लोकार्थ — जिस प्रकार पाप की वृद्धि से कलियुग में वेदों का प्रकाश नहीं होता है वैसे ही रात्रि के आराध्य में (प्रदोष समय में) अन्तर्कार से जुगू चमकते हैं ग्रह (तारे) नहीं चमकते हैं। II 8 II

कारिका — अर्थ: शब्द: फलं चापि त्रिविधं परिक्षीति तम्।
अन्तर्भिहस्तथा चाइमान्तरस्मृतिभेदतः। II १ II
कारिकार्थ — तीन श्लोकों में अर्थ, शब्द तथा फल इन तीनों का वर्णन है, और दो श्लोकों में फल के अन्दर के अंग तथा बाहर के अंग का वर्णन किया गया है ।

कारिकार्थ — पुष्पिमागेः हि मयूरादमार्गस्त्र न जोभते ।
अतः पञ्चविधस्यापि हानिंश्र निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ — जहाँ पुष्पी मार्ग है, वहाँ मयूराद मार्ग की शोभा नहीं होती है । इसी कारण से, पांच प्रकार के धर्म की हानि का यहाँ निरूपण किया है ॥ २ ॥

‘निशामुखेशु’ श्लोक ८ से १२ पर्यावरण के श्लोकों में प्रतिपादित अर्थ का वर्णन इस कारिका में करते हैं। १) धर्म को जड़ (मूल) बेद है, उसमें वर्णाश्रयादि धर्म कहे गए हैं, यह अर्थ (बेदों का अर्थ) है, क्योंकि बेदने वर्णाश्रय धर्म रूप अर्थ का प्रतिपादन किया है। २-बेद का अध्ययन 'शव्द' है, कारण कि, अध्ययन करने से 'शव्द' का ग्रहण होता है उसको ही मुक्ति है। ३-कर्म का निषिद्ध (हीन) फल, ४-निषिद्ध फल के मिलने से बाह्य सम्पत्ति (भागवानु विशिष्ट करने वाली सम्पत्ति) प्राप्त होती है। ५-उस बाह्य सम्पत्ति से श्रीमेति में पद (अभिमान) आता है। इस प्रकार ५ श्लोकों में हीन पदार्थों के दृश्यात्मक दिया है। उनके देने का आशय (पुष्पी मार्ग) इस कारिका में स्पष्ट करते हैं।

‘टिप्पणी’

हीन पदार्थों के दृश्यात्मक, जो पांच श्लोक में दिए हैं, उनका तात्पर्य, इस कारिका से प्रकट करते हैं, कि पुष्पी मार्ग में मयूराद मार्ग से विलक्षण है। यदि पुष्पी मार्ग और मयूराद मार्ग में भिन्नता है तो इस ६ वें श्लोक के आधार से यह कैसे कहा गया है कि पांच रूढ़ुओं की धर्म में प्रतिपादन है? इसको समझाते हैं कि विचार करने से दोनों प्रकार का कहाना (पुष्प मार्ग से मयूराद मार्ग भिन्न है और धर्म की प्रतिपादन) योग्य है जैसे कि, लौकिक सृष्टियों में, जब पाप बढ़ता है तब पापाण्ड धर्म प्रकाश में आता है और वैदिक धर्म विवेकित हो जाता है। वैसे ही यहाँ वर्षा अर्थु का सहानुज जो अर्थयात्रा, यह धर्म है दूसरा पाप है। उस समय में (वर्षा अर्थु में) सदैव प्रकाश करने वाले चन्द्र आदि यह तो छिप जाते हैं (प्रकाश नहीं करते हैं) किंतु जुगुड़ प्रकाश करने लगते हैं। जुगुड़ का प्रकाश (जो क्षेत्रिय है) यही पापाण्ड के धर्म का प्रकाश है, इसी प्रकार चन्द्र आदि यह से अप्रकाश यही वैदिक धर्म का अप्रकाश है। इसे पृथक तीनों अर्थ पापाण्ड धर्म का प्रकाश नहीं है और वैदिक धर्म का अप्रकाश भी नहीं है। यह वर्षा अर्थु की शोभा करने वाला है क्योंकि इससे बताया है कि यहाँ (ब्रज में) पूर्ण वैदिक धर्म है, अर्थात् यह वर्षा अर्थु लीला सृष्टि के स्वरूप का जनाने वाला है।

१-छिपा । २-स्वभाव सिद्ध । ३-बताने ।
It has been said that the state of China is in a state of transition, where economic growth and development are key priorities. However, the challenges facing the country are significant. Beijing's efforts to maintain economic stability and social harmony are admirable, but critics argue that the state's policies are too rigid and do not adequately address the needs of the population. The question of how to balance economic growth with social welfare remains a critical issue for the Chinese government.

In the face of these challenges, the Chinese government has implemented various policies aimed at economic development and social welfare. These include measures to stimulate consumer demand, reduce taxes, and increase investment in infrastructure. The government has also implemented policies to improve public services, such as healthcare and education, and to reduce poverty.

While these efforts have had some success, it is important to note that the challenges facing China are complex and require a multifaceted approach. The Chinese government must continue to work towards a balanced and sustainable development, while also addressing the needs of its population. The future of China will depend on its ability to navigate these challenges and build a more equitable society.

Notes:

1. Economic growth: The term economic growth refers to the increase in the size of the economy over time, typically measured by gross domestic product (GDP).

2. Social welfare: Social welfare refers to the government's efforts to provide assistance to those in need, such as the elderly, children, and disabled individuals.

3. Multifaceted approach: A multifaceted approach refers to addressing a problem from multiple angles or perspectives.

4. Balanced development: Balanced development refers to a situation where all aspects of the economy, such as the agricultural, industrial, and service sectors, are growing at a similar rate.
कारिका - वेदमार्गविरोधेन येषां करणमणवधि।
ते हि पाषणिण्डो ज्ञेय: शास्त्रार्थवेचन वेषिणा:। १।

कारिकार्थ - जिनका कर्म स्वल्पः भी वेदमार्ग से विपरीतः है, उनको पाषण्डो समझना चाहिए, वे शास्त्रों का अर्थ (विरुद्ध अर्थ) कहने के लिए ही वे यथा मात्र धारण कर रहे हैं । २।

मुख्यांशिनी - धर्म पुष्टः तत संचिन भवत्वेव न हृदयनिर्धिरस्वरूपः: पूर्ववद्यवस्थां कहु वाजावतो नारिणपापेनां पाषण्डः। नतु विनिमाने वेदे जागरूकः कथ वाषणद्रवृत्त:। तत्राह न हि वेदा: कलो युगः इति,

व्याख्यार्थ - जब धर्म पुष्टः होता है, तब पाषण्ड धर्म में रूचि नहीं है और जिसका उपनयननादि संस्कार वैदिक विधि के अनुसार होता है, वह पहले की भांति व्यवस्था करना नहीं चाहता है, अर्थात् वेद विरुद्ध या पाषण्ड धर्म का आचरण करने की इच्छा नहीं करता है। अर्थात् पाप की वृद्धि से ही पाषण्ड बढ़ता है। वेदों के विद्यमानः होते हुए पाषण्ड में प्रवृत्ति कैसे होगी? इस शक्ति के निवरणः के लिए कहते हैं कि ‘नर्हि वेदा: कलोक्युगे’ कलोक्युग में वेदों का प्रभाव (प्रकाश) नहीं होगा, कारण कि, ‘त्रियुगोधर्मः’ धर्म तीन (सत्यर्युग, अच्युत और द्वापर) युगों तक रहता है। अर्थात् उस धर्म के प्रतिपादक वेद भी, तीन युग तक अपना प्रकाश करते हैं। इस आश्रय जी चरणों के लिए मूल स्वरूप में ‘हि’ शब्द दिया है, अर्थात् निष्क्रिय से, कलोक्युग में वेदों ता
एवमर्थं वेदनिरकरणमुक्तवः 
श्रवणा पर्जन्यनिन्दमिति

आभासार्थः - उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया है, कि कलियुग में, वेद में कहे हुए 
उपनयन आदि संस्कार भी, विधि अनुसार नहीं होते हैं, अतः इस युग में वेद का अर्थ नहीं 
रहा है। अब इस श्लोक में कहते हैं, कि कलि में वेद का पतन आदि भी यथा विधि नहीं 
होता है, अतः शब्द से भी वेद का अस्तित्व नहीं है। तत्त्वज्ञ यह है कि वेद के शब्द तथा 
अर्थ दोनों का कलियुग में है न है अतः कलियुग में वेद नहीं है।

श्लोकः - श्रुत्वा पर्जन्यनिन्दं मण्डुकः व्युज्जनः गिरः।
तृणी शायानः: प्राण यददृ ब्राह्मण नियमात्यवे॥ ९ ॥

प्रलोकार्थः - जैसे शालि से सोते हुए ब्राह्मण नियम के उल्लघ्न होते हुए शब्द 
सुनकर वेद ध्यान करते हैं, वैसे ही मेघों की गर्जना सुनकर मण्डुकः बोलने लगते हैं॥ ९ ॥

श्रीमद्भागवत - (सुबोधिनी) दशम स्त्रूष - सप्तशत अध्याय
व्याख्यार्थ — जैसे इस श्रुति* में कहा है कि मण्डूक की वाणी ग्राम वाले अथवा वन में रहने वाले प्राणिओं की हितकारिणी नहीं है । अतः मण्डूक की वाणी सब को उपद्रव करने वाले काल के आधीन है, इसी प्रकार, यदि ब्राह्मण भी सर्व के लिये उपद्रव कारी हो, तो वहाँ वेद का ज्ञान कैसे स्थित होगा ! अर्थात् वैसे ब्राह्मण, वेद का प्रचार वा वेद के तत्व के ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकेंगे ? इसलिए वेद आदि शास्त्रों में भी कहा है कि जैसे मेघों की ध्वनि सुनकर, मण्डूक सब को आभार शब्द दर्द करते रहते हैं वैसे ही वे ब्राह्मण कर्म के समय पर तो यथाविधि वेद का उच्चारण नहीं करते हैं भली भांति नीद लेते हैं और जब किसी दास जिज्ञासा का शब्द सुनते हैं तब ज्ञों आवे तो पढ़ने लग जाते हैं जिससे लाभ के स्थान पर सबों का आहित होता है।

श्रुति: कहती है कि ब्राह्मण, जो सोमपान करने की इच्छा करने वाले हैं, वे तो योग्य प्रकार से वेद पाठ करते हैं, वर्ष में उत्पन्न होने वाले, अन्न को जो पैदा करने का काम करते हैं वे तो जैसे आवे वैसे (वेद मन्त्र वा अन्य) बोल देते हैं और अन्य प्रकार के ब्राह्मण जो 'यज्ञ करने वाले हैं', सोमपान की प्रारम्भिक विधि करने वाले तथा तेजस्वी हैं वे छिपकर रहते हैं, प्रकट नहीं होते हैं, जैसे वर्ष ऋतु में सूर्य आदि ग्रह छिप जाते हैं । अतः वर्ष ऋतु में जलादि धर्म नहीं होते हैं किन्तु जैसे इस ऋतु में भेदक दर्द करते हैं वैसे ही खेती करने वाले अनजान ब्राह्मण जैसे आता है वैसे ही अंद बंद बोलते हैं।

श्रुति: स्पष्ट कहती है कि, जो पुरुष उस वस्त्र में शान्त रहते हैं, जिसमें देवताओं की वृद्धि

* 'एव वै पशुनामुजोक्तिः न वा एव ग्रामोऽ रत्सुतिः हितो नारयेः' इति श्रुति:।
* 'ब्राह्मणः सोमिनो वाचमक्रः ब्रह्म कुण्डः परिवार्यम् अध्वर्यः।'
* 'धर्मिनः शिष्येश्वरानां अर्थार्थविनिगुः न केवलः' श्रुति:।
* 'देवहितिः ज्युगपुष्टः ऋतुः नरः न प्रभुषिकृतेऽवशसंग्राहायां तस्य धर्म अनुवर्तितसंग्राहायः' श्रुति:।
श्रीमद्भगवतः (सुबोधिनी) दशम स्कन्धः - साधन अध्यायः

ती है उनका कल्याण होता है उस (वसन्त) को नहीं जानते हैं कि यह अङ्क मध्य भर की अङ्कों मुख्य एवं शेषः अङ्क है, इस प्रकार अञ्चलन के कारण, इस अङ्क में वेद का अध्ययन न कर, लिख रहते हैं और जब वर्षा अङ्क आती है तब अङ्क बड़े वाणी बोलते हैं अर्थात् वेदोच्चारण नहीं करते हैं जिससे सब को दुःखी करते हैं और आप भी पीड़ा भोगते हैं।

इस श्रद्धे में यह बताते हैं कि वे बहुमुख ब्राह्मण किस प्रकार अङ्क बड़े बोलते हैं- जब या अङ्क आने से, खेत में धान उत्पन्न हो जाता है, तब उनसे पूछते हैं कि इतना धान (धन) भस्म है दिया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, गौड़ ने दिया, भेड़िये ने दिया, पृथ्वी ने दिया, बादल ने दिया और मण्डूकों ने सहस्र गायें दी तथा एक हजार वर्ष की आयु भी दी।

इस श्रद्धा वृद्धि हो, तदर्थ मण्डूक को प्रार्थना करते हैं।

मण्डूक चार पादों से कृदकर तालाब वा नाव में जाकर मण्डूक को कहता है कि तू कहदे फिसनें ही समय में वर्षा होगी। इस प्रकार जो ब्राह्मण मण्डूकों को ऊपर आश्रय करने वाले हैं वे ब्राह्मण वेद की रक्षा नहीं कर सकते हैं जिससे निश्चय होता है कि कलियुग में शब्द से भी वेद की स्थिति नहीं है। ॥ ९ ॥

आभासः - ताहि मास्तु वेदः पाषाण्डेषव कार्य भवतित्वायश्चर्कः महान तु ते क्षोभका भवत्वत्पायानां तु व्यामोहका भवान्तित्याहासनिति, उत्थथवाहिन्यः: शुद्धन्द्रो

आभासार्थः - यदि कलियुग में वेद, शब्द तथा अर्ध दोनों से नहीं रहा है, तो पाषाण धर्मों हो काम चलाना चाहिए। इसके उत्तर में कहते हैं कि वे (पाषाण धर्मों) महापुरुषों के अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न करते हैं और साधारण पुरुषों के हृदय में व्यामोह पैदा करते हैं। अतः: पाषाण धर्म नाश के कारण बन जाते हैं। जिसका वर्णन इस निम्न स्लोक में करते हैं।

स्लोकः - आस्त्रत्रवाहिन्यः: शुद्धन्द्रोजनुशुभ्यतीः।
पूंसो यथास्वत्त्वनस्य देहद्विणासम्पदः। ॥ १० ॥

**‘गौमयुद्वदमामायुद्वः पृथ्वीवधारणातः सताति सहस्यायथ प्रतिपर्वत्त आयुः।’ श्रुतिः।

**‘उपप्रवत मण्डूकि वर्षानवत्ताधिन मध्ये हस्ये एक्ष्ये विकास्य निगुहा चतुः पदः।’ श्रुतिः।

१-असाम्वन्धः २-प्रवर्गह।
शलोकार्थः — जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह, धन तथा सम्पदा उलटे मार्ग पर जाकर नाश हो जाती है वैसे ही शुद्ध निदान्य उलटी राह में जाती हुई अन्त में सूख जाती है (नाश को प्राप्त होती है)।

शुभोधिनी — उत्पथवाहिन्: स्नेहनद: वर्षासु जाता अक्षमादेव निषिद्ध हृदेना भवति जाता प्रकृतु तोप्योगाय दुःखानमाह
वयस्वत्सात्स्येविन्द्र यपवस्तुस्य देहेनिद्राय-
सम्प्रदोमार्गवाहिन्योऽपि भवत्तयुज्यात्तीष्ठ भवति। १०॥

व्याख्यार्थः — छोटी निदान्य, वर्षा ऋतु में, अचानक विशेष जल याद व उसको धारण करने में असमर्थ होने के कारण, उलटे मार्ग में, इधर उधर बहकर शीघ्र ही वैसे ही सूख जाती है, जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह और सम्पदा उलटी राह पर जाकर नष्ट हो जाती है॥ १०॥

आभासः — भाद्रसम्पत्ता: स्वरूपमाह हरिता इति,

आभासार्थः — इस निम्न श्लोक में बाहर की सम्पत्ति का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — हरिता हरिभि: श्रायोरिद्रोपैश्च लोहिता: ।
उच्चली-श्रृङ्खलेन्ताश्च यृणां श्रीरिव भूरभूतू॥ ११॥

शलोकार्थः — हरी घास से हरी, इन्द्रगोपः से लाल, उच्चलीन्द्रे से छायावाली, पत्तीजना भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी जैसी हो गई॥ ११॥

शुभोधिनी — इत्य सवेन्धे भूूक्षिल्पुणा सति नृणां यथा रघुसम्पत्तिकामसम्पत्तिं भवति तथा जाता, हरिभिर्मिद्धिञः: श्रायोरिद्रोपेऽहरिता श्रायवरणा भृदरिद्रोपे: कोट्सिसवे-लोहितवर्णा उच्चलीन्द्रेर्च्छात्राख: स्तेवतवर्णा कृत्वा वेवेंवच

लोहितशुक्लकृष्ण, इन्द्रगोपः रजेव छय्युविध छह्तारक स्नेवावच-छय्याविनं, अनेन भूमिपितं युजस्माप्तिवं च्वर्णाति, अतो यथा ख्रिङ्गजीविका मरणापर्यवसायिनेव विविच्छ कृपादिः जीविकाकार्य मरणापर्यवसायिनी॥ ११॥

इद्दश स्लोक में यह बताया है कि ब्रज में जो ब्रह्मण इस समय है वे धर्मिन्द्र हैं, कृत्युग में जैसे ब्रह्मण होंगे वैसे यहाँ मण्डल है, और यहाँ इन्द्रियाधीन पुरुष भी नहीं है, सब अन्तर्ग भक्त है अन्तर्ग भक्त इन्द्रियाधीन नहीं होते हैं। 'टिप्पणी'

१-वीर बहुरी-बसाती लाल कोड़ा, २-ठगाक।
व्याख्यार्थ – यह सर्व भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी, राज्य की लक्ष्मी तथा उसके समान धन सम्पत्ति की भावति तीन गुणों वाली हो गई। हरी घास से हरी, पटबीजना से लाल, छाँगक से श्रेष्ठ हुई अर्थात् पृथ्वी हरी लाल और श्रेष्ठ होने से तीन प्रकार की हुई। इस पृथ्वी पर, पटबीजना तो राजा के समान, छाँगक छात्र के समान और घास के तिनके सेना के समान है। जिससे यह जताया है कि पृथ्वी भी मानो युद्ध की सामग्री वाली है। अतः जैसे तत्वार्थ युद्ध से जो आजीविका की जाती है, वह मारने वाली ही है, वैसे ही खेती से होने वाली आजीविका भी, मृत्यु लाने वाली ही है। अर्थात् जैसे युद्ध करने में, मृत्यु का भय बना रहता है वैसे ही खेती में भी मृत्यु का डर रहता है। ॥ ११ ॥

आभास – शर्तकालीनो धर्मस्थायेन च भवत्यन्तस्तोषतद्धावावाह क्षेत्राणीति,

आभासार्थ – यदद ऋषु का धर्म वैसा ही है और इस श्लोक में अन्तःकरण की प्रस्ताव और उसका अभाव चरण करते हैं।

श्लोकः – क्षेत्राणि सस्यसम्प्रदिक्षः कर्षुकाणां मुदं ददः।
मानिनामुपतापम् च दैवाध्येनमजानताम्। ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ – खेत, धान की समृद्धि से किसानों को आनन्द देने लगे। सब (जय-परजय) दैव के आधीन है, इस तत्त्व को नहीं जानने वाले आक्रमणकारी अभिमानियों को दुःखदायी हुए। ॥ १२ ॥

सुबोधिनी – सस्यां सम्प्रतितिभः कृत्य कर्षुकाणां
कृषीवलनां क्षेत्राणि मुदं ददुः, मानिनामभिमानवताः
श्रुति वधार्थ प्रवतुतां वर्षांस्यार्यार्थिभः प्रतिवंश ज्ञाता
विलक्षणामुपतापम् च ददुः, ज्यादंकं सर्व भगवद्धोन, न

| हि वर्षाप्रतिवन्धाभावे सर्वश्च तेषां जयो निश्चयाभावात् तदाह मध्यावधानकार, बावधेनमनानायनमेव, जयो परजयो च दैवाध्येन प्रयोजकन्। ॥ १२ ॥ |

व्याख्यार्थ – खेत, धान की सम्पदाओं से, किसानों को हर्ष देने चाला हुए। श्रुति पर विजय पाने के लिए आक्रमण करने वाले अभिमानियों को, वर्षा से उत्पन्न हुई कोयच्च तो, तथा मार्ग की रक्षा करने वाले सत्य आदि से, खेत दुःखदायी हुए। वे अभिमानी इस शास्त्रीय सिद्धान्त को तो समझने नहीं हैं कि सबकुछ (जय और परजय) दैव के आधीन है, दैव अनुकूल है तो रक्षाओं के होते हुए भी जय होगी और यदि दैव अनुकूल नहीं है, तो रक्षाओं न होने पर भी पराजय होती है। ॥ १२ ॥
आभास - एवमृत्युमयकृत्स्नामुक्तम् मानसन्यायोन्मृत्युद्रादशश्च धर्मानांह जलस्थलौकिकसे
इति द्वादशभ.ि, मासा हि निमित्त धर्मिणोत्र प्रधानगुणा वाच्याः।

आभासार्थ - इस प्रकार जनुतों के न्याय से वर्णन कर अब १२ श्लोकों में, महीनों के
न्याय से द्राकृत प्रकार के धर्म का वर्णन करते हैं। महीने (धर्म के स्वरूप प्राप्त करने में)
कारण है। अतः यहाँ मुख्य जो धर्म है उनके प्रधान गुण कहने चाहिये सो कहे जाते हैं।

कारिका - जीवा नद्य: पर्वताश्र मार्गा कामिन्य एव च।
विद्यावांशन्रमा बही भक्ता वा तापसास्त्रा॥ १॥
गृहिणो वैदिका मार्गा राजान्न्यक्षेत्र तीर्थिता:।
त्रिविधा: सर्व एवैं वातस्भोग्या: प्रकृतिता:॥ २॥
सर्वेश्चेते वृष्टिकाले सुख दुःख च लेविरेः।
पुष्पमार्गस्थिता: सवं सुखं प्रापुर्ण चापरे॥ ३॥

कारिकार्थ - १-जीव, २-नदियाँ, ३-पर्वत, ४-मार्ग, ५-कामिन्यां, ६-विद्यावाले,
७-चन्द्रमा, ८-मूर्ति वा भक्त, ९-तपस्वी, १०-गृहस्थी, ११-वैदिक मार्ग, १२- राजा
लोग ये सब तीन प्रकार के मार्ग न्याय से भोग्य कहे गए हैं॥ १-२॥

ये सब वर्षों के समय में सुख तथा दुःख भोगने लगे, सुख तो उनको हुआ जो पुष्टि मार्गाची
थे, जो दूसरे (पुष्टि मार्गाची नहीं) थे वे दुःख भोगने लगे॥ ३॥

श्लोक: -जलस्थलोकस: सवं नववारिनिषेदया।
अविभ्रद्ध स्थिरं स्थं यथा हरिनिषेदया॥ १३॥

श्लोकार्थ - जैसे हरि की सेवा करने से, भक्त जन सुन्दर स्वरूप को पाते हैं,
वैसे ही जल तथा स्थल के रहने वाले जीवों ने वर्षों के नवीन जल से सुन्दर स्वरूप
को प्राप्त किया॥ १३॥

भूपन, जलचरश्च राजसार्वतीमार्गस्थः, सार्वस्थित्वनूक्तकः्यः
भूपनो दृष्टान्ते भिन्नत्वश्च स्थापितः, सर्वेऽव नववारिनिषेदया नववारिनिषेदया स्वर्यं मनोहरं स्वर्गविभ्रतः,
व्याख्यार्थ – सुख किसको हुआ और दुःख किसको हुआ? इसका क्रम पूर्वक निरूपण करते हुए, प्रथम बताते हैं कि यह वर्ण अन्तः सर्व प्राणि मात्र को सुखदायिनी हुई क्योंकि यह (वर्ण) अन्तः भगवदीय है, भगवदीय किसी को दुःख नहीं देते हैं किन्तु सुख ही देते हैं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

पृथ्वी पर रहने वाले राजस जीवों ने तथा जल में रहने वाले तामस जीवों ने वर्ण से प्राप्त नवीन जल के सेवन से सुख प्राप्त किया अर्थात् नवीन सुन्दर स्वरूप धारण किया, शेष सात्विक तो सुखी हुए ही, उनके सुखी होने के लिये कहने की आवश्यकता नहीं है, सात्विक दृश्य के लिये पृथक् कहें हैं। दोष से (चित्र में क्षोभ आदि होने से) भी रूप में विलक्षणता आ जाती है। इस श्रद्धा को मिलने के लिये जो दृश्य भगवान् की सेवा का दिया है, उससे सिद्ध है, कि ब्रज में जो सब के स्वरूप नवीन सुन्दर हो गए हैं उन दोषों के कारण नहीं हुए हैं, जैसे भगवान् के सेवन से (जीव) चतुर्भुजादि रूप अर्थवा विशेष तेज को प्राप्त करता है। जिसका प्रत्यक्ष दृश्य नवीन सुन्दर ‘गजेन्द्र’ है, भगवान् के सेवन (स्मरण) से गजेन्द्र ने नवीन सुन्दर स्वरूप प्राप्त किया है।

आभास – अभिमानी तु महान् मोहं प्राणोत्तीति समुद्रं निरूपयति,

आभासार्थ – बड़ा, अभिमानी होता है, अतः उसको मोह होता है, जिसको समझाने के लिये इस १४ वें श्लोक में समुद्र का निरूपण करते हैं–

श्लोक: --सरित्व: सद्वा: सिन्धुशुचुर्शोभ श्वसनोपिमान्।
अपवित्रयोगिनिश्चितं कामाक्तं गुणयुगं यथा॥ १४॥

श्लोकार्थ – जैसे अपक्ष योगी का चित्त, काम वासना और विषयों से युक्त हो क्षोभितः होता है, जैसे ही समुद्र, नदियों के मिलने से तथा पवन के वेग से उत्पन्न लहरों से क्षोभ वाला होता है॥ १४॥
व्याख्यार्थ — वर्ष कृत्रिम का समय कामयाब को क्षेप करता है, उसमें भी, जो सिद्धियों के सहित है उनका विशेष क्षेप करने वाला होता है, जैसे कि नवम्बर समुद्र की सिद्धियों हैं वे जब समुद्र से जाकर मिलती है, वर्षा का समय होता है साथ में पवन चलती है तो समुद्र में लहरें उठती है जिससे समुद्र क्षेपित हो जाता है। लहरें समुद्र के गर्भ को प्रकट करती है, वायु चलती है वह बलती है कि समुद्र में रजोगुण बढ़ रहा है, इस वर्षन से यह समझा है कि महाना जो होते हैं वे अन्धे दर्शाए होते हैं। महानों में तो अनर्थ का अभाव होना चाहिए। आप किसी कहते हैं कि महाना अनर्थ दर्शाए होते हैं। इस शंका को मिटाने के लिए ‘अपवयोगी’ का उपासना दिया है।

चित की वृत्तियों के पूर्ण संयम होने को ‘योग’ कहते हैं, यदि योग इस प्रकार परिपक्व हो गया हो, तो फल की सिद्धि होती है; अर्थात् वह योगी कामधीन न होने से क्षेप को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु योगी का योग यदि पूर्ण नहीं हुआ है, तो उसका (योगी का) चित विश्वयों से हुल जाता है। अपकी योग से, परीक्षा के समय अनुशीलन नहीं होता है। विश्वासर्थ होकर, क्षेप को प्राप्त होता है। अतः स्वभाव से सिद्ध दृष्ट, जब तक समूह नष्ट नहीं होते हैं, तब तक महाना भी अनर्थ दर्शाए हो जाते हैं। ॥ १४ ॥

आभास — तत्रापि स्वपनमहान्तो दृढ़ उच्चाभ भगवत्सिद्ध न तु ज्ञानिन् इव सर्वसमा: समुद्रविलक्षणैं वर्षीकृतोपद्रवमाह। गिर्य इति,

आभासार्थ — उनमें भी जो, फिर दृढ़, उच्च तथा भगवान में निश्चित दर्शाते महापूर्व हैं, वे ज्ञानियों की भांति सर्व सम नहीं हैं, समुद्र से विलक्षण (पर्वत) जैसे वर्षा के उपर्युग को सहन करते हैं वे (भगवानिङ्ग) भी, सर्व व्यस्तों को सहन करते हैं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — गिरवो वर्षिकारसि महान्तमाना न विवध्यू:।
अभिभूतमाना व्यस्तमर्माध्योक्षज्ञेतसः। ॥ १५ ॥
श्लोकार्थः – जैसे भगवान् में स्थित चित्तवाले भक्त दुःखों से अभिभूतः होने पर भी, क्षोभः को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही पर्वत, वर्षा की धाराओं से पीड़ित होते हुए भी, व्यथा को प्राप्त नहीं होते हैं॥ १५॥

बुद्धिवंशीः – निर्तंगरं वर्षदारफ़ुभिधूमनाय आप गिस्यो न विव्हशुच्यां न प्राप्तको यत्स्तुःस्ताः सारः, हेयु दुःखको पुष्करजनेयाक्षुरजनाविद्याप्रियाय, वथा व्यस्तः स्वाधिशिरापरङ्गेन्द्रशास्त्रमण्डलविभूमनाय म्यानवविधिति, तथा व्यस्तः स्वाधिशिरापरङ्गेन्द्रशास्त्रमण्डलविभूमनाय म्यानवविधिति, तथा अय्योपक्रमेऽक्रमेऽ में इंद्रियतीतं भगवंति स्थापितिचित्रता न क्षोभः प्राप्तृवित्तति तथा, तद्भन्द्र क्षिप्राख्याताधातुवास्तवितति तत्र॥ १५॥

व्याख्यार्थः – निर्तंगरं वर्षा की धाराओं की मार सहते हुए भी पर्वत व्यथित नहीं हुए, कारण कि, उनकी कन्द्राओं में भगवान् विराजमान है। वे समझते हैं, कि हमारे भीतर विराजमान प्रभु को वर्षा की धाराओं से होने वाले कष्ट को हमने रोक कर, प्रभु की सेवा की है, जिससे वर्षा की धाराओं के दुःख रूप कठिन स्पर्श को यो सुख रूप समझने लगे, जैसे बादल, धूप के स्पर्श को आनन्ददाता समझते हैं। इसी प्रकार, वे महान् पुरुष, जिनके चित्र में इंद्रियतीत्त परवर विराजमान हैं, उनको व्यस्त (ख्रीं आदि अथवा आपदाओं से) पराभव होने पर भी क्षोभः नहीं होता है।

भगवान् का ‘अधोक्षजः’ नाम देखकर यह भाव बताया है कि उनके पास अन्य नहीं जा सकते हैं, कारण कि, आप पोहे हुए हैं। यदि उस स्वरूप में आसक्त कोटे जड़ (पर्वत) भी भगवद्वीय है, तो चेतन जीव उसमें आसक्त हो जाते, उसमें कौनसा आश्चर्य है? समुद्र से रत्न निकाल लेने से, वह नि:सार हो गया है, जिससे उसका चित्र भगवान् में नहीं लगता है॥ १५॥

आभासः – एवं रजसी सात्तिकी व्यवस्थामुक्तव्याम तामसीमाह मार्गः बभूतुरिति,

आभासार्थः – इस प्रकार उपस्थित दो श्लोकों में, रजसी तथा सात्तिकी व्यवस्था बताकर, अब तामसी व्यवस्था निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक: – मार्गः बभूतु: सन्दिग्धासुतृप्तश्च म्यासस्कृतः

नाभ्यामाना: श्रुत्यो द्विजः कालहता इव॥ १६॥
श्लोकार्थः — जैसे अभ्यास न करने तथा समय व्यतीत हो जाने से, ब्राह्मणों को श्रुतियों के स्मरण शुद्ध पढ़ने में कठोर होता है, वैसे ही लोगों का आना जाना न होने से और धार शुद्ध पढ़ने से तथा सफाई न होने से, मार्ग संदिग्ध हो गए, जिससे आने जाने में पद्धतियों को कठोर होने लगा। ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः — वर्ण होने से, उत्पत्ति धारा से, सर्व मार्ग घट गये थे; जिससे वे मार्ग, आने जाने बालों को भी संदेह उत्पन्न करने वाले हो गए कि, यह मार्ग है या नहीं है। अनन्य के लिए तो मार्ग का पता ही नहीं पड़ता। जब तक वे सफर नहीं किये जाएँ, तब तक आने जाने में सकारात्मक ही नये। वह वेद के संस्कार समय थोड़ी ही छोड़ दिया सफाई नहीं की गई तो मार्ग लुप्त हो जाएँगे। जिस राह को बहुत बार देखा है उसमें संदेह किया पड़ा? इस शाखा को दृष्टांक देखकर मिलता है कि जैसे ब्राह्मण वेद का पढ़ा छोड़ दे, तो उसको वेद विष्मृत हो जाएगा, पुनः पढ़ने के समय उनका शाखा होती है, कि ये श्रुतियाँ वैसी हैं या नहीं? इसी प्रकार पद्धतियों को भी मार्ग में न आने जाने से, संदेह पड़ता है। अतः: अभ्यास करना यह वेद का दंड (स्मृति करने वाला) है, वहीं अभ्यास नहीं किया जाता है तो वेद पढ़ने के समय संदेह उत्पन्न होता है कि यह बराबर है या नहीं, वहीं बहुत समय छोड़ गई हो, तो ब्राह्मण वेद के मूल को भूल जाता है।

आभास — एवं गुणातीतसुगुणभेदेन चतुर्थ वर्षाकृत धर्मा उक्तः: पुनर्विपरीतत्वा चतुर्थी निरूपयति, द्वृत्तीय राजसः: प्रथमस्ततः: सांतिकस्ततस्तासो गुणातीतक्षेत्रि तामसभावेन चतुर्थिः निरूपितिः,

आभासार्थः — इस प्रकार निरूपण तथा सुगुण भेद से, वर्ण के चार प्रकार के धर्म कहे हैं। अब विपरीत प्रकार से, वर्ण के चार प्रकार के धर्म का वर्णन करते हैं। प्रथम राजस, फिर सांतिक, अनन्तर तामस, अन्त में निरूपण, इसी क्रम से वर्ण के चार धर्म कहते हैं—तामस भाव से चार प्रकार के धर्म का निरूपण आगे करते हैं।

श्लोक: — लोकवन्स्यु मेघेदु विद्युतशचलसौद्धा: ।
स्थ्यर्य न चक्रुः कामिन्यः: पुष्पेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥
श्लोकार्थ—जैसे कामिनियों गुणवान पुरुषों में भी मन को स्थिर नहीं करती है
वैसे ही वर्षा के समय में लोगों के बस्तु रूप में भिजने स्थिर नहीं रहती है।

व्याख्यार्थ—गुणों से, जीव तीन प्रकार के होते हैं उनमें जो जीव राजस है, उनमें खिराँ
मुख्य है, अर्थात् खिराँ में रजोगुण मुख्य है; अतः उन सतोगुणी पति से, प्रेम कर उसके पास
स्थिर स्थिति नहीं करती है, किंतु राजस वा तामस पति में स्थिर स्थिति करती है। जैसे भिजने
लोक बस्तु में स्थिर नहीं रहती है, प्रकाश कर चली जाती है, प्रकाश से, अपना प्रेम तो
प्रकट करती है, जिन्हें वे समझते हैं कि हमारे पति में लोकश्रेणी (सातवाहन परोपकारी) है,
अपना सब धन (जल) पृथ्वी को दे देंगे जिससे हम दर्द भूखी हो जायगी। इस प्रकार के
विचार कामिनियों का होता है। इसलिए श्लोक में, ‘कामिन्या’ पद दिया है। बिजली कामिनियों
हैं। जिससे यह बताया है, कि लोक में, भी व्यभिचारिणी हिराँ यों करती है, किंतु कुलीन
खिराँ तो इस प्रकार का कर, पति से स्थिर प्रेम करती है। क्योंकि वे समझते हैं कि पति को
अपने पोषण से भी, हमारे पोषण को चित्र विशेषता रहती है। वे जो कुछ दान करते हैं; उससे
उनको भगवान् विशेषता देते हैं; जिससे हमारा भरण पोषण सुख से होगा किंतु कामिनियों
तो प्रत्यक्ष को ही देख, गुणवान से प्रेम नहीं करती है। श्लोक में ‘गुणवान’ विशेषता देकर यह बता
है, कि वे सातवाहन प्रभु इस बात को जानते हैं, कि दान से वृद्धि ही होती है। मेघ गर्जना
कर अपना गुणीपन बताते हैं।

आभास—विजातीया अपि विजातीयेशु शोभां प्राप्तुवन्तीति, प्रावृत्तृकृतृधर्ममाह
धनुरिति,

१—खिराँ।

‘प्रेम में ‘कामिन्या’ केवल ‘बिजलीयों’ थी, वहाँ की स्थिरों में तो ‘कामिनी’ कोई नहीं थी, सब प्रेम में स्थिर
प्रेम वाली थी।

‘हिमाणी’
अभासार्थ - वर्ष ऋतु के गुण से विज्ञात भी, विज्ञात में शोभा पाता है, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: - धनुर्वियत भानेवं निर्गुणं च गुणिन्यभातु ।
   व्यक्ते गुणव्यतिकरेगुणवान् पुष्यो यथा ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ - गुणों की गड़बड़ वाले प्रचंड में गुण रहित पुरूष शोभा देता है वैसे (ही) गुणवाले आकाश में, निर्गुण महेन्द्र का धनुष शोभा देने लगा ॥ १८ ॥

निर्गुणी - वियत्याकाशे महेन्द्र धनुर्गुणमयपि
   गुणयति विधायतिपि विद्याभावावतू प्रकाशं प्राप्तं, गुणवत्
   महेन्द्रोपि वृत्तभावं महान् वा अयम् भूतः यो वृत्तमयोऽधिति
   तत्र महेन्द्रत्वमितिः श्रवणस्वनिन्युक्तः महेन्द्रे निरूपितः; तस्य
   सम्बन्धाद वज्र निर्गुणामयपि समुपे शोभा प्राप्तित तथा
   भगवदीयोऽधिति सर्वं श्रवणां प्राप्तितं फलितं, जीवस्था
   निर्विवादः वयस्कतः भगवद्गृहवन्तो दृष्टवन उपयोगितः, तत्र देवा गुणवत्
   दैत्यादि दृष्टवनां मानविकाः

व्याख्यार्थ - इन्द्र धनुष निर्गुण-होरी (ज्ञा) बिनाका-है और आकाश गुणवान है। गुणवान आकाश में निर्गुण इन्द्र धनुष उपयोग है। (आकाश को गुणवान इसलिए कहा जा रहा है कि श्रुति में आकाश को ब्रह्म का शरीर बतलाया है। शरीर का परिचय शरीर से होता है, विद्या से ज्ञान प्राप्त होता है अतः आकाश-ब्रह्म विद्यावान है-गुणवान है। इन्द्र धनुष का कोई लक्षण न होने से, निर्गुण होने पर भी, शोभास्पद हुआ।

इसी तरह गुणातीत वज्र भी (आयुर्वाकामहम वज्रः के अनुसार भगवद विश्वृति रूप होने से) सघुण महेन्द्र के हाथ में शोभा है। श्रुति कहती है, कि इन्द्र वृत्त को मारकर महेन्द्र बन गया। यहाँ भगवद सम्बन्ध ही इन्द्र का दिखाल गया है। या जैसे सघुण इन्द्र के सम्बन्ध से, वज्र निर्गुण होने पर भी, भगवद गुण वाले इन्द्र के हाथों में शोभा देता है, वैसे भगवदीय भी सर्वातः शोभास्पद है।

*महान् वा अयमभूतः यो वृत्तमयोऽधिति तत्र महेन्द्रत्वम्।
†भगवद् गुणों वालों में गुणातीत शोभा है, तो भगवद् गुण रहितों में तो अवश्य चही शोभना।

१-संसार में।
आभास - गुणेश्वरशिष्टं चन्द्रमहान न सर्जेति,
आभासार्थ - अब इस श्लोक में गुणों में अवश्ये तामस चन्द्र का वर्णन करते हैं -
श्लोक: - न साराजोड़ुपश्चर्त्रः स्वाज्योत्सनाराजितेर्घने:।
अहम्मपत्यं भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥
श्लोकार्थ - जैसे अपने प्रकाश से प्रकाशित अहंकार वाली बुद्धि से आच्छादितः पुरुष शोभा को नहीं पाता है, उसी प्रकार अपनी चाँदनी से प्रकाशित हुए मेघ से आच्छादित चन्द्रमा सुशोभित नहीं हुआ ॥ १९ ॥

+अर्थात् तीन आकृति गुण वाले संसार में गुणालीत भगवद्वीर जैसे शोभता है वैसे इद्द धनुष आकाश में शोभा।
+इद्द धनुष भागवद्वीर है क्योंकि वर्ष ऊँचा द्वारा भगवान की लीला के विनियोग के लिए उभरा है ।
+यहाँ निगुण शाब्द वाच्य समुप शाब्द वाच्य में शोभता है इसी अंश दृष्टि ओर इद्द धनुष का वर्णन है । समुप और निगुण शाब्द अनेक अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं ।

१-सेप बचे हुए । २-ढंका हुआ ।
व्याख्यार्थ — जिस प्रकार, प्रपञ्च में अपने ही प्रकाश से प्रकाश वाली अंह बुद्धि (अथिमान) से युक्त अभक्त पुरुष शोभा को नहीं पाता है, वैसे ही, अपनी ही चांदनी से प्रकाशित मेघों से, शुद्ध जो तारे एवं नक्षत्र है उनका अधिपति होते हुए भी चन्द्रमा शोभा को प्राप्त नहीं होता है।

आभास — एवं त्रिविधानुक्रम्य ये केवल भगवदीय यथा मेघोत्पत्यिकाकृक्षणो बहिःस्ते सुखिनो भकताति वर्षाकृतं तेषु सुखमाह।

आभासार्थ — इस प्रकार वर्षा के कारण, समुद्रों का दशा का वर्षन कर, अब इस श्लोक में कहते हैं कि जो मयूरों के समान निर्गुण भगवदीय है, वे सुख होते हैं।

श्लोक: — मेघागमोत्सवा हुश्च प्रत्यन्तनदवृष्टिकण्डः।

गृहेषु तस्म निर्विवणा यथाच्युतजनागमेऽ॥ २० ॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार धरार में सन्ताप को प्राप्त हुए विरक्त पुरुष, भगवद्वर्क के आगमन से प्रसन्न हो उनका वाणी आदि से सत्कार करते हैं, उसी भाँति गरमे से तपे (दुःखी) हुए मोर मेघों के आगमन रूप उस्वक को देख, उनका कंकालणि से आदर करते थे।

शुभोधिनी — मेघागमोत्सवा-विनित, मेघानामा व उत्तरः। से योक्तिः सत्साक्षुलस्तीवारं तान दुःखु मेघोत्सवां वा वृष्टिविद्वत्तिकानुक्रम्य। मयूर प्रत्यन्तनदवृष्टिकण्डः भक्तमा विचित्रः कृतार्थ स्वभावीयोत्सवम् मन्थन इति, एवं निर्विवणा यद्यपि तद्द्वार गृहेषु तस्म इति, गृहेषु भस्मदा गुहाविविचित्रत्या तस्म दुःसात्स्वादिन्द्रवृष्टिकण्डः। अतः सर्वेषमेव तस्मान मुखायानी।

व्याख्यार्थ — जिस प्रकार, गृहेषु जीवों में भी, केवल भगवदीय मयूर ही मेघों के आगमन से जो आनन्द उत्सव होता है (जैसे कि बेल बुझी वृक्ष आदि हरियाली एवं पुष्प फलों से मुशोभित होते हैं तथा वृष्टि और बिजली आदि से शोभा होती है) उसको देखकर प्रसन्न हो, उनका कंकालणि से अभिनवन्तिः करते हैं, उसी भाँति, घरों में रहने वाले जो गृहस्थों भी दुःसात्स्वादिन्द्रवृष्टिकण्डों से एवं गृह की चित्ताओं से व्यक्त हो दुःखी होते से निराश ॥ १९ ॥
होते हैं, वे जब (वर्ण ऋतु में) देखते हैं, कि हमारे यहाँ भगवान के जन, परमहंस त्रिपण्डारी संन्यासी जिन्होंने इंद्रियों को जीतकर भगवान में मन पिरे दिया है, वे पथरे हैं, तब उनका समादर कर प्रसब्ह होते हैं। उनके साथ से उस दुःख से छुट कर, आनन्द को प्राप्त करते हैं। जिनका मन दुःखों से व्याकुल न हो, यहाँ में आसक्त है, उनका आनन्द नहीं प्राप्त होता है और वे उनका अभिनन्दन नहीं करते हैं। भगवद्गीता में वर्ण ऋतु संसार से तस सब भगवद्गीता को आनन्द देती है।

आभास — प्रकारान्तरण चातुर्विध्यमाह पीतवाप इति।

आभासार्थ — अब निम्न चार श्लोकों से, चार प्रकार के तामसों का पृथक़ पृथक़ वर्णन
करते हैं।

श्लोक: — पीतवाप: पादप: पद्धारासनू नानात्ममूर्त्यः।
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया।

श्लोकार्थ — जैसे, प्रथम तप करने से दुर्बल और थके हुए पुरुष, प्रय पदार्थों
के सेवन से पुष्ट होकर, अन्य रूप वाले होते हैं, वैसे (ग्रीष्म के ताप से शुष्क) पेड़
वांछित जल का मूल से पान कर, हेरे रूप वाले होते हैं।

सुबोधिनी — पादप: सर्वे वृक्षासमस्यू सार्वत्किका;| विलक्षणा नानामूर्तिवित्तिः, पलंदपं निरूपण यदथे तदः
नानात्ममूर्तियम् तादुषा जाता; पावनप्रत्यक्षसिद्धिमित| प्राक्क्षामास्तपसा न केवल
पद्धारासनू पादपविशयों रूढ़ी वा भेदितम्; तेन नीरस्येवै| देहदीर्घयमानि तु तपसा श्रान्तः; इन्द्रियशक्तिपित कृषिणम्
विनशितेन; त्रायेदल तपस्या अन्यं वाप्तसम्मुदायम् तत्वश्च| भविष्यते, ते यदा तप: फलरूप अपमनसेवने तदा प्रत्येकः
शान्ततिपि, ते वर्णायमेव पुष्ट भविष्यति पूर्वत्रेकः| नानामूर्तियो भविष्यति, ते वर्णायमेव पुष्ट भविष्यति पूर्वत्रेकः
स्वभावेऽन्यस्व व्याप्तिः| श्रान्तिः न श्रान्तिमुच्योऽन्यः।
शान्तिः कहिते स्म।

*लेख तथा तिपने जीय में दिए इत्यादिव भावों नाम का सारांश—यद्यपि श्लोक में ‘पक्ष’ में के आगमन से प्रसब्ह हो उनका सत्कार करते हैं यो कहा है, किन्तु इसका भीतर का आशय यह है कि स्वामीनाथों भूमे हों देख, उनका अभिनन्दन करती है, कारण कि वर्ण ऋतु में हो प्रभु वन तथा पृथ्वी आदि पर, जब भूमे विहार करने पथरते हैं, तब स्वामिनाथों वहीं जाती है, में आनन्द वर्ण करने है तो प्रसब्ह होती है, क्योंकि वर्ण के कारण प्रीतम का मिलाप विशेष मिलेगा, नहीं तो घर सीधे होता पड़ता। अब वर्ण के कारण, बहाना मिल गया है। घर आए गीत नहीं करते, अतः भगवद्गीता देने वाले में से सत्कार करती है।

१—प्रकार। २—अलग अलग।
व्याख्यार्थ — जहाँ पदार्थ तामस होते हैं, किनतु उन तामसों में बुद्ध सािलिक हैं। बुद्धों के अपने रूप पृथक् पृथक् हैं, वे मूल से पानी पीते हैं, जिससे उनका पानी पीना कोई भी नहीं देख सकता है। ‘पादप’ शब्द का रूढ़िव अर्थ है। ‘मूल से पानी पीने वाला’ किनतु शब्दों से. जो दृस्य अर्थ निकलता है, वह योगिक’ अर्थ इस प्रकार है—जो अपनी छाया से प्रबल ताप तथा शीत से अपने मूल को रक्षा करते हैं—वे ‘पादप’ कहे जाते हैं।

बुद्ध, एक प्रकार से उपमा नहीं होते हैं, अतः वे अपने रूप वाले तो होते ही हैं, किन्तु यहाँ ‘आलम’ शब्द देखकर यह भाव बताया है, कि गम्भीर के कारण, जो बुद्धों के अपने रूप हैं गए थे, वे बदल कर नाना रूप हो गए जसे कि कहा है, प्रथम तपस्या के कारण देह से दुर्बल और ताप से शान्त होने से जो इन्द्रियों से भी दुर्बल हो गए थे, वे अपने मनोवाचित जल प्राप्त होने से, उसका पान कर अनेक रूप वाले (हे, वात पुष्प फल आदि से) युक्त होकर इन्द्रियों देह से पुष्ट हो गए। यदि इस प्रकार वाचित जल की प्राप्ति न होती, तो विशेष शोक होने से शीत्र कला की प्राप्ति न होती। शब्द में तपस्वी पुष्प का दृष्टांक देकर भी इसकी पुष्पक की गई है। नि गुहः प्रथम तपस्या कर, देह तथा इन्द्रियों से निर्भर होता है; पुनः जब तपस्या का वाचित फल प्राप्त होता है (तब) उसका भीग कर, पुनः विशेष पुष्क हो जाता है। ॥ २१ ॥

आभास — तत्र रजसानामाह सरस्वतिः।

आभासार्थ — तामसों में जो रजस है उनका वर्ण इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — सरस्वत्वशान्तोधस्मु व्यूहुर्धाैपि सारसा: ।
गुहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इत्युपर्याया: ॥ २२ ॥

श्लोकार्थः — हे महाराज! जैसे दुष्ट अन्तःकरण वाले संसारी पुष्प, अखुट करो! ॥

*जो एक पर दृष्टि विश्वास करते हैं, उनको वह मनोवाचित फल देता है जैसे बुद्ध, अपने जीवन रूप जल वाणी कामना करते हैं। किन्तु स्वयं उसकी प्राप्ति नहीं कर सकते हैं, अतः उसकी प्राप्ति करने वाले मूलांकों को रख करते हैं, जहाँ निर्भर( ताप से) तस्माद होती है उसका दृष्टि आश्रय के कथित वर्ण क्रतु पर है, आश्रय के फल वर्ण, जड़ जड़ को वह क्रतु जल देकर तस्माद करते हैं। इसी प्रकार, जो भक्तभगवद् ज्ञान का दृष्टि आश्रय रखता है, उसको उस (भगवद्दीय) से भगवद रस की प्राप्ति होती है। भगवद् ज्ञान आलोक भक्ति का प्रयोग रस का आनन्द दान करतात यह।

‘टिप्पणि’

1-अलं-अलं । 2-लोक में प्रचलित । 3-जड़-पूरे । 4-दीन।
से भरे हुए, घरों में रहते हैं, उसी प्रकार, सार्स पक्षी उन तलावों के किनारों पर जो किनारे सदैव एक समान शान्त नहीं हैं ॥ २२ ॥

सुबोधिनी – सार्स हि सत्यत्व सक्तः; तति वर्षाकाले पूर्वीतानि भवति, उपरि बहुदूर जल ग्रहित कर नीद्रा कृत्या रिख्ता: कृत्ये, ततु कृत्यं जलेन पत्थरितं भवति, तद्विपरि कृत्येत तदनि कर्मचित् कृत्यं पत्थरितं। एवमेवेस्वरुपः

dोषुःकुष्ठियो मां सार्सः सार्सासत्तदासाविष्टा व्यूः; समीपसस्यासः विशेषणव्याख्यातार्थोऽधिकारसि तिष्ठनीति गम्यते।

एतद् वदर्शमुक्तं तदह गुणोऽविचारित, न शान्तं कदाचिदेशः कृत्यं कर्मचितं येषु, न ह्यामस्य गृहविचित्ता कटायणप्रच्छ, तैर्यं

g्राम्यम् ग्राम अतोपन्वा रता इत्यद्यांगमोद्युष्का वा तादृशा अति।

त्रुशुफ्रा अति: करण्डोपुष्का अति, वहनिर्गतानां खेदेन

भगवत्स्तरण तीर्थदर्शन सत्तंका वा भवेत् क्रिया/व्यपुत्री

चिन्ताभावो वा, वर्षिता तु सर्वाभावः ॥ २२ ॥

व्याख्या/र्थ – जिन पक्षियों को सरोवर पर रहने से ही रस (आनन्द) आता है, उनको ‘सार्स’ कहते हैं। सरोवरों में सदैव जल स्वतः रहता है, किन्तु वे वर्षा के समय में पूर्ण भरपूर हो जाते हैं, जिससे जल ऊँचा आ जाता है। जब जल ऊँचा आता है, तब वे पक्षी अपना आवास तकनारों पर बना कर लड़कर रहते हैं और कभी किनारे भी पानी से भर जाते हैं, अर्थात् पानी में

दूब जाते हैं, तो वहाँ भी कलेश होता है, वहाँ रहने में इतने दोष होते हुए भी सरोवर के रस के इत्यादि, उस रस में मृग होने से, वे (सार्स) वहाँ ही रहते हैं। इसी प्रकार जिन घरों में रहने से कभी भी घर के कार्य पूरे नहीं होते हैं, मण्ड पर्यंत घर को चिंता लगी ही रहती हैं, तो भी ग्राम में उत्पन्न होने से, ग्राम में ही जिनको आनन्द आता है, अथवा इन्द्रिय रूप ग्राम को भाग वाले तथा अतःकरण के दोष वाले पूर्ण भी ग्राम वा गृह को नहीं छोड़ते हैं। यदि घर छोड़ बाहर निकले, तो वहाँ दु:ख क्रान्ति होने से भवानृत की स्मृति हो, तीर्थों का दर्शन हो तथा सतसागर प्राप्त हो एवं काम में ही रक्ष के रहने से चिंता का भी अभाव हो जाय, किन्तु इस सब की वर्षा होने नहीं देती है, कारण कि, वर्षा बाहर निकलने नहीं देती है ॥ २२ ॥

आभास – एवं राजसानुक्त्वात् तामसानाह जलौपैरिति,।

आभासार्थ – तामसों में जो सातिक और रजस थे, उनका वर्णन कर अब तामसों का वर्णन करते हैं।

श्लोक: – जलौपैरितिः केतजो सेतनो वर्षीतिष्ठे।

पाषणिनमसध्वादैवेदमार्गः कलो यथा ॥ २३ ॥
श्लोकार्थ — जिस भाँति कलियुग में, पाणिनियों के असद्वादों से, वेद के मार्ग
नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार इद्वर द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से पुल टूट गए। ॥ २३ ॥

सुबोधिनी — जलसमूहः सेतवो निरस्मधितान भिन्ना
व्यापकः च प्रतीकारो न शक्यः। इश्वरः वर्षति परज्ञा
स्कितः स हि सर्वसुखार्थ वर्षति, ततो शक्यप्रतीकारः
सेतवो भिन्ना एव, एतदश यदर्थ तदाध पारिण्यः
नामस्मृद्धेरिति, कल्लु बुधवालारे भगवति तेन प्रवर्धिता:
पायांश्चयास्मादवर्ज्ञना: कुम्भकिर्तिभि: सर्वे एव बद्धमार्गः
कर्मज्ञानमन्यपुपासानि प्रतिपद्यतः: सर्वे एव निरस्माणात्
कल्लु तेम्या प्रयोजनंभावम्। ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ — इद्वर द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से, पुल टूट गए, उसका कोई उपाय नहीं, कारण
कि, वह वर्षा करने वाला इश्वर है अतः वह (इश्वर) जो कुछ करता है, सो सब के हित के
लिए ही करता है। वर्षा होने पर, तो पुल टूटे ही हों, उसका कोई प्रतिकार नहीं है। यह दृष्टान्त
जिस लिए दिया गया है, वह श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं, कि कलियुग में, भगवान् ने
बुधवालारे धारण कर, असद्वादो से कल्पित युक्तियों से, पाषण्ड धर्म चलाए, जिनसे, सब वेद
मार्ग (जो वेद मार्ग, कर्म, ज्ञान, भक्ति और उपासना आदि धर्मों का प्रतिपादन करते थे) सब
टूट गए लुप्त हो गए, क्योंकि, कलियुग में उनका कोई प्रयोजन नहीं है। ॥ २३ ॥

आभास — गुरुवत्स्थानीयायमहर व्यमुख्यतिः

आभासार्थ — तामसो में जो गुरुवत्स्था है उसका वर्णन अभि करते हैं।

श्लोक: — व्यमुख्यन्त वायुभिन्नुन्त्रा भूतेभ्योभामृत्त घना:।
यथाशिल्पो विश्वनय: काले काले द्विजेरिता:। ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — जैसे ब्राह्मणों की प्रेणा से, भूपतिगणं समय समय पर दोनों को
धनादिक देते हैं, वैसे (ही) वायु से प्रेणि में, प्राणिओं को समय समय पर अमृत
जल देते हैं। ॥ २४ ॥

^ब्रज में आएके विराजन से केवल जल को पार करने के लिए जो पुलें थीं वे ही टूट गईं थीं, किन्तु अन्य तेज
धर्म की सेतु नहीं टूटी थी, अर्थात् ब्रज में, वेद धर्म उसी प्रकार ही चल रहा था।

―पाठकोपनी
श्रीमद्भगवत - (सुबोधिनी) दशम स्त्रध्य - समदश अध्याय

सुबोधिनी - वायुभिः प्रेतिता धना भूमेयोपमेह
स्त्रादिजितं महादिजितं वा ममुनुः। अन्तर्व तु जल गड्ढति
महादिजितं वच्चा हि दृश्यते कालदेश्यमण्यदा यत्र यो
कलमपेशंतं तत्रै तत्तद व्रृद्धिति ज्ञायते। भूमेयो हि दृश्यते
कलुभीं, एतदं ज्ञदया तदाद्वधिष्ठितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाधारितयोऽसाध

ब्याख्यार्थ - जो जल, प्राणियों को अमृतः समान (हस्त और मेघ नक्षत्र में पड़ा हुआ जल अत्रादिक को उत्पन्न करता है अतः अमृत रूप है) हितकर होता है, वह जल समय समय पर श्राव्यताः जब प्राणियों को जल की आवश्यकता होती है, तब मेघ कार्य की प्रेणं से उनको देते हैं, जैसे रजा लोग, ब्रह्माण्य (पुरोहितोऽ) की प्रेणा से दीनों को धन अन्नादि देकर, उनको सुखी करते हैं। वर्ष ऋतु में, दीन स्वतः अपने कार्य (धनादि को लाने के कार्य) करने में असमर्थ होते हैं; अतः जो वर्ष समय में दान करता है, वह ही दाता है, इससे ब्राह्मणों की प्रेणा प्रत्यक्ष उपयोग वाली सिद्ध हुई है। ॥ २४ ॥

आभास - एवेकविशवितप्रकारण च स्वरूपेण च चारुवृद्ध वर्णिता, तस्यां प्राणार्थ भागावतोऽगुणानुऽ च सम्माहस सतिः । तत्र प्रथम रमणार्थ भागावत प्रेणेशमाहैवविति,

आभासार्थ - वर्ष ऋतु का इक्कोस प्रकार तथा स्वरूप से वर्णन कर, अब वर्ष ऋतु में भगवान् ने स्वरूप तथा गुणों ने जिस प्रकार समान किया, उसका निम्न संत श्लोकों से वर्णन करते थे । जिसमें प्रथम भगवान् ने समण के लिए वन में प्रेणेश किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

२१ श्री प्रभु चरण 'अमृत' सब्द का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं, कि यहाँ कह आए हैं, कि मेघों ने जल बरसाया, फिर वही जल दुःख को कहाँ, ऐसी शाश्वत निवारण के लिए 'अमृत' कहा, 'जल' नहीं, क्योंकि, जो जल, हस्त आदि नक्षत्रों में पृथ्वी पर भ्रमित है, वह अज्ञात उपयोग करता है। यदि वह ऐसे समय में न पड़े, तो धन उपयोग न होवे, पहले पड़ा हुआ जल व्यर्थ हो जाए, अतः इस जल को जल न कहकर, 'अमृत' कहा है, कारण कि, वह जल धनादि पैदा कर प्राणियों को शुद्धा रूप मूल्य से रक्षा करता है, अतः यह जल 'अमृत' कह क एक पुण्यता दोष को भिन्न दिया है।

२ ब्रज में सब को सब प्रकार की सम्पति प्रभु देते थे; अतः उन (ब्रजवासियों) को दूसरे, किसी का प्रयोजन नहीं था, वर्ष ऋतु भगवान् को लीला के लिए जिसकी आवश्यकता थी, उसकी प्रथम ही तैयारी कर देती थी।

३ जैसे भूपवि, दूसरे की प्रेणा के बिना किसी को भी नहीं देते थे, वैसे ही यहाँ ब्रज में, केवल मेघ हैं, जो दूसरे को (बायु की) प्रेणा ने जलदान करते हैं, दूसरे नियामक तो, अन्य की प्रेणा के बिना (ही) सब को सब प्रकार के पदार्थ स्वयं देते हैं।
श्री सुमोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवात्त प्रकरण - अध्याय ६

श्लोकः - एवं वनं तदन्तर्भिष्णपक्वखजुरोज्जयितम्।
गोगोपालैर्वृतो र्नं सबलः प्रविशाद्धधरिः। ॥ २५ ॥

श्लोकार्थः - इस प्रकार बहुत सम्पदावाले, उस वन में, जहाँ खजुर और जामुन पके हुए थे, वहाँ गौ तथा गोपों से चिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी सहित पढ़े। ॥ २५ ॥

सुबोधिनी - एवं पूर्वकप्रकरण सर्वगुणसमां वनं तत्र प्रसिद्धं वर्षिणं सर्वात्र सहायतान्।
नन्दन सह चौरीहं शीर्षाः
गुःस्तास्मि न सम्भवति भुक्ता गमनेन्द्रिया महदृ निदानमिति
मध्ये शूद्र भवेन्द्रनादिफलानि तु निरुपाति ततः: कथं
स्मां गृहिजय्य पक्वखजुरोज्जयमिदिति, पक्षानि खजुरस्फलानि

जम्बुकलानि च यस्मिनं वने, भगवानु गुणातीति: सत्यं
स्थानीयो वलो रजः स्थानिया गोपाला गावस्तवविश्रामः।
त: सर्वस्मि भगवदावैववृत्तं: प्रकरणेण क्रीडः कर्तृ स्वसम्मादिति
निर्दृष्टिनीवः: सह वनं प्रविशाद्धाः। ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थः - जिस सर्व गुण वाले वन का पहले वर्णन हो चुका है, वह प्रसिद्ध वन, सबसे उत्तम हुआ। वैसे वन में र्मण किया जाएगा तो घर शीश्र कोटना न हो सकेगा और यदि भोजन कर जावें तो भी दिन बढ़े हैं, बीच में भूख लगेगी, वन में वर्षा के कारण, आप्रवत्त मात्र तो भोजन के लिए मिलेगे नहीं, क्योंकि, वे नष्ठ हो गए हैं, अतः भूख होते हुए र्मण कैसे हो सकेगा?
इस शूद्र के निवारण के लिए श्लोक में कहा है, कि वन में आप्रवत्त नहीं है, किन्तु भोजन के लिए पकी हुई खजुर तथा जामुन बहुत है, उसने भूख मिटाई जाएगी, सत्य में स्थित बलरामजी द्वारा गुणों में स्थित गोर और र्मण में स्थित गौ, इन तीन प्रकार के सर्व भगवदीयों से वेष्टित, र्मणातीत भगवानु जिन (भगवानु) ने सब के दोष निवृत्त कर दिए हैं, उन निदौष जीवों के साथ आप उत्तम प्रकार के र्मण करने के लिए वन में प्रवर्तित हुए। ॥ २५ ॥

आभासः - तत्र प्रथमं धेनूनाम शोभामाह,

आभासार्थः - भगवानु जिनके साथ वन में पढ़े उनमें से प्रथम गौओं की शोभा का वर्णन करते हैं।

श्लोकः - धेनवो मन्दगामिन्य ऊर्धोभारेण भूयस।
ययुर्भयगताहता दृतं प्रीत्या स्मुतस्तति। ॥ २६ ॥
श्लोकार्थः — भारी ऊँचे के भार से गो धीरे-धीरे चलती थी किन्तु जब भगवान्
ने बुलाई तो वे स्तनों से दूध को प्रविति करती हुई प्रेम से शीघ्र शीघ्र भगवान्
के पास जाने लगी। ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थः — भगवान् का, वन में प्रवेश, उन (भगवान्) की वीर्य शक्ति
तथा वैशाख शक्ति का शोककृत है अर्थात् यह प्रवेश भगवान् की वीर्य शक्ति तथा वैशाख शक्ति
को प्रकट करता है। ऐश्वर्य शक्ति का वर्णन करते हैं। गौ ऊँचे के भार से धीरे धीरे चलती थी, यों
कहने से यह बताया है, कि उस समय गौओं का धीरे धीरे चलना गर्भ के कारण नहीं था, अर्थात्
वे गर्भवती नहीं थी। यद्यपि ऊँचे के भार से धीरे धीरे चलती थी, तो भी जब भगवान् उनको
बुलाते थे, तब वे प्रेम से दूध को बहाती हुई शीघ्र भगवान् के पास जाती थी। यह उनका
भगवान् के पास जाना भगवान् से डर, वा उनके आयार के कारण नहीं था, किन्तु जैसे भगवान्
प्रेम पूर्वक बुलाते थे, वैसे (ही) वे भी प्रेम से जाती थी। ॥ २६ ॥

आध्यासः — गोपानां सुखमाह वनौक्सः प्रमुदितां इति,

आध्यासार्थः — अब इस श्लोक में गोपों के सुख का वर्णन करते हैं।

**योजनाकार लालू, भद्रजी कहते हैं कि जिस वन में प्रलम्ब आदि रहते थे जिनको भगवान् ने मारा था और
दावानामों का पान किया था वैसे भयंकर वन में भगवान् का प्रवेश उनको (भगवान् की) वीर्य शक्ति
प्रकट करता है।

आदेहः श्लोक की टिप्पणी में श्री प्रभुचरण ने कहा है कि यह लीला परेशावशे संहयुतलीला कही गई है,
भगवान् मदेव रहस्य लीला में आसक्त है तो भी आप जो अब बलाम, गो और गोपों के साथ बाहर रूप
के लिए वन में पश्यार हैं जिससे भगवान् में वैशाख शक्ति है यह सिद्ध होता है अर्थात् भगवान् ने यह लीला
कर अपनी वैशाख शक्ति प्रकट कर्त्ता की है।

१—हवाना या आत्मा (तबं अंगजिसमें दूध रहता है)।
२—बहाती हुई।
३—प्रकाश करने वाला।
श्लोक: — वनोक्ष: प्रमुदिता वनराजीमधुच्युतः।
जलधारा गिरेसत्रासनस्मा ददूशे गुहा:। ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — वन में निवास करते वाले बहुत आनंद में थे, वन की पक्तियाँ रसों को टपकाती थीं, पर्वतों से जल की धाराएँ बहती थी और उनके समीप ही, गुफाएँ थीं, भगवान् ने इन सबको देखा ॥ २७ ॥

दुरुपूर्धिनी — वनवासियों का कालान्तरे तापो
भवलीनी शीतलतात्वः सर्वं प्रमुदितः। अनेन दोषाभाव
उक्त: सहजं च सुखं, भूक्षसमपतिमाहुः,
वनराजारविपक्कः सर्वं एव वृक्षा नानाजातीयमा
मधुच्युतः पूर्णे मधुनिः तस्तोपि प्रवाहमधुपुक्ता जातः।
पेयसमपतिमाहु जलधारा गिरेसत्रातित पर्वतसमम्भियो।

जलधारा अकलुपिता: शीतला: पानयोग्यधारस्थः भवति, वृक्षी स्तातुः शयन च कर्तुः स्थानमाहसनस्मा ददूशे गुहा इति,
आसनः निकटस्थः गुहा विश्रामस्थानात्मि,
एतत्तनिजिवधसम्यक्युक्तः वनोक्षो गोपलान्यांश ददूशे॥ ॥

व्याख्यार्थ — वर्ष ऋतु के कारण, वनवासी जो अन्य समय में ताप आदि से वन में दुख भोगते थे, वे अब शीतल के कारण प्रसन थे। यो कहकर यह बताया है, कि वनवासियों के सर्व दोष निवृत हो गए हैं और सहज सुख की प्राप्ति हो गई है। न केवल शीतलता के कारण आनंद मन थे किन्तु भोजन की सम्पत्ति भी प्राप्त थी जैसे कि सर्व वृक्ष, अर्थात् प्रत्येक जाति के वृक्ष मधु धाराएँ बहते थे और पान की सम्पत्ति भी विद्यमान थी जैसे पहाड़ों से शीतल तथा स्वच्छ जल की धाराएँ बह रही थीं। इसके साथ विश्राम और शयन के लिए पास में गुफाएँ भी थीं, इस प्रकार, तीनों प्रकार की आवश्यक सामग्री वाले वन में वन निवासी गोप तथा अन्य (भीत आदि) को भगवान् ने देखा॥ ॥ २७ ॥

आभास — बलभद्रस्त्र तत्र रमणमाह कवचिदृ वनस्पतिक्रोडः इति,
आभासार्थ — इस श्लोक बलदेरजी के रमण का चर्चन करते हैं।

श्लोक: — कवचिदृ वनस्पतिक्रोडः गुहायां चाभिवर्षिति।
निर्विश्नूः भगवान् रेमे कन्दपूलफलाशनः। ॥ २८ ॥

搔熙 ('प्रकाश'
श्लोकार्थः — भगवान् रमण करते हुए देखते, कि वर्षा होती है तब वृक्ष की खोह में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश करते थे और वहाँ कदम मूल और फल खाते थे। ॥ २८ ॥

सुब्रोधिनी — व्रक्षस्य क्रोडेन कोटां गुहायां वाभिष्यति।
देवं निविष्तश्चर्विविशाः भगवान् समो मूलकं फलानं वनस्पतिः
स्वादिशानि च रेमुक्तिपदाद वर्षास्य विशेषे, विशेषे च वस्त्रयति।
भगवति क्रोडेन पुरान्लीयोपवेशनं फलाहार्न न सम्यकः
सम्पते ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः — कभी वर्षा होती, तो भगवान् (सम) वृक्ष के कोठ में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश कर, वहाँ विराजते हुए कद, मूल और फलः का भोजन करते थे, वन के कन्दनिक सर्व अत्योक्ति स्वादिश होते हैं। श्लोक में भगवान् कहा है किंतु ‘सम’ क्रिया पद से ज्ञात होता है कि यह ‘बलसमजी’ की लीला है, विशेष में इसका स्पष्टीकरण आगे कहेंगे, वृक्ष के कोठ में, और छिपकर फलाहार, यह भगवान् के लिए उचित* नहीं है। ॥ २८ ॥

आभास — भगवतो लीलामाह दध्योदनमिति,

आभासार्थ — इस श्लोक में स्वयं भगवान् ने जो लीला की है उसका वर्णन करते हैं—

श्लोकः — दध्योदनमुपानीतं शिलायं सत्तानिके।
सम्भोजनीये वृंभुजे गोपेः स्वर्णान्त्वित: ॥ २९ ॥

श्लोकार्थः — जल के समीप वाली शिला पर बैठ, स्वर्णान्त्वित के साथ वाले भगवान् ने अपने साथ भोजन करने वाले गोपों से घर से आए हुए दर्शी भात का भोजन किया। ॥ २९ ॥

मुब्रोधिनी — गोपैये गुपकाभिषेकशोदया शरीण्या वा
तदानानुपानीतं दध्योदनं शिलायं पर्वतस्यानुपान व्रती
आनान्येश्च विष्णु ततो सतिः सतिरसस्मितेश्य एव जलार्धमान्तः
गमनाभावाय सम्भोजनीवे: सजातीयेवेपेः स्वर्णान्त्वित

*इस भोजन से बलसमजी को चेतना सकित कहते हैं, यदि २५वें श्लोक में वृक्षशाल हो गई तो यहाँ पुनरंतर समझी जाएगी, तो वह बलसमजी का चरित्र है, जिससे यह समझा कि ‘बीर्या शिक्षा’ कहते हैं।

‘प्रकाश’

‘केदर में छिपकर भोजन करना भगवान् के रूप में होते से यह भगवान् बलसमजी की लीला है।
‘दिष्यानी’
व्याख्यार्थ - जिस समय भगवान् अपने भक्त गोप तथा भ्राता श्री बलदेवजी के साथ समन्वय कर रहे थे, उसी समय गोप, गोपीजन अथवा यशोदाजी तथा रेहिणीजी, जो दही भात लाई थीं, उसका, पर्वत के शिखरों पर धीरे धीरे बादलों के बस्ते हुए पीने का पानी लाने के लिए कहीं जाना न पड़े (ऐसी) जल के समीप वाली चट्टानों पर बैठकर सजातीय (भक्त) गोपों के साथ भगवान् भोजन करने लगे। उस समय श्री बलरामजी भी, आपको साथ में थे। वह भोजन भगवान् ने यहाँ इसलिए किया, कि वर्षा में उत्पत्ति सर्व सम्पत्तियाँ मेरी और मेरे लिए हो गई है जो गोप सजातीय नहीं थे, उन्होंने पृथक् भोजन किया अथवा बलरामजी के साथ फलाहार किया।

आभास - नन्द गोपु विद्यमानासु ताध्योददवता कथं भगवान् भुज इतिश्रुतं वायुययाति
शाहूलोपरि,

आभासार्थ - भगवान् ने गोपों के साथ भोजन किया, किंतु आपके साथ गो बैल आदि
थे, उनको भोजन न करा के आपने कैसे किया? इस श्रुति का निवारण इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः - शाहूलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेष्कणाः
तृषान्त वृषणी वत्सतरानु गाश्र्य स्वोधोभर्ष्यमा: ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ - तृस हुए, वृषा और बछड़े हरी घास बैठकर आँखें मीठकर जुगारी
करते थे और गो, और के भार से थककर, बैठी हुई जुगारी करती थी।

सुमोहनी - शादृश्य अर्थसंग्रहवेष्टत्र संविश्य
चर्वतो रेमावम्यु कुंवाणानु तृषान्त वृषणी वत्सतरानु गाश्र्य
द्वुषु इतिस्म्याः: रेमावम्यु न तेभो देय्य, तिरिवि

ganita:; तत्र गो पासे देय इत्याचिक श्रुत्या गार्मीह
स्वर्योभर्ष्यमा दिति, स्वर्योभर्ष्यमा भरण श्रमो यानाः
स्थर्योभर्ष्यमा भरण - स्वर्योभर्ष्यमा निरूपिता: ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ - भगवान् ने देखा कि हरी घास वाली भूमि पर तृस हुए बैल, बछड़े तथा गो
जुगारी कर रही हैं, जिस समय वृषा आदि जुगारी करते हैं, उस समय, उनको खाने के लिए नहीं
देना चाहिए, क्योंकि वे तृस होकर बैठे हैं और चरे हुए पदरथ के सस का स्वाद ले रहे हैं। गो
घास तो देना चाहिए था, इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गो तृती के कारण औद्योगिक के भार से

यो का अंश भर गया, यह तृती का चिन्ह है, जिससे भगवान् की यशा शक्ति प्रकट होती है, तात्पर्य यह है कि
भगवान् के कारण, गो इस प्रकार तृती होती है कि उनका औध दृढ़ से इतना भर जाता है कि उसके भार से थक
जाती है, अत: तृती को घास देना व्यर्थ है।

"प्रकाश"
श्रमित हुई थी, अर्थात् थक गई थी अतः उनको गौ ग्रास ऐसे समय देना व्यर्थ था, इस प्रकार, सबको भोजन, पान और शयन के विहार का वर्णन किया है।

आभास — एतादृशय वनस्य भगवत्कृतमभिनन्दनमाह प्रावृत्तिष्यमिति,

आभासार्थ — इस प्रकार के वन का, जो भगवान् ने किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — प्रावृत्तियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतसुखावहाम्।
भगवान् पूजयाध्वक्र आत्मशक्तयुपवृंहिताम्।

श्लोकार्थ — सब जीवों को आनंद देने वाली उस वर्षा की सम्पत्ति को अपनी शक्ति से समृद्ध देखकर भगवान् ने उसकी पूजा की।

सुबोधिनी — आधिदेविक श्रद्धा: स्वकीय तद् शक्तिस्वताभिषेकृतस्वपीतिकृतमभिनन्दनमाह।
समागमा, आधिदेविकोपसे वीक्ष्य भगवान् पूजयाध्वक्रे,
पूजामहं हेतुत् सर्वभूतसुक्तावहस्तवत्मानो यावस्था।

व्याख्यार्थ — त्रज में आधिदेविक वर्षा ऋतु आई, उसको देखकर भगवान् ने उसका आदर सत्कार किया, क्योंकि वह (वर्षा ऋतु) तीन कारणों से सत्कार के योग्य थी, १—सर्व प्राणियों का हित करने वाली थी, २—भगवान् की सर्व शक्तियों से समृद्ध (बहुत समझदारी) थी, ३—आधिदेविक रूप धारण कर आई थी, इन तीनों गुणों वाली इस वर्षा ऋतु में भगवान् ने रमण द्वारा उसका समादर किया, यदि भगवान् रमण नहीं करते, तो प्रावृत्त ऋतु का तीन गुणों को प्रकट कर आना व्यर्थ हो जाता, जिससे वह अपना अपमान वा अनादर समझती, अतः गुणज सर्वनर्त्यां भगवान् ने उसकी को हुई सेवा को प्रहण किया।

आभास — इदानीं पूर्वलीलामुपसंहस्तन्तौलान्तरकस्मिनार्थ शरद्वर्षमाहैवमित्वण्याशायिः,
सामान्यत: श्रद्धा मृदुतिरिङ्के समविश्वस्स्मक्तत: प्रतायिः, तत्र प्रथमत: तस्या: प्रवृत्तिमाह, एवं
लीलां कर्मण्योस्तस्मिन्वेव वने निवसतो,
आभासार्थ — वर्षा ऋतु की लीला के वर्णन की समाप्ति कर, अब अन्य लीला के कहने का प्रारंभ करते हैं, जहां लीला शादू ऋतु में को हुई कहनी है अतः अवाह रलोकों में शादू का वर्णन करते हैं, जिससे इस एक रलोक में, शादू को प्रवृति का वर्णन कर, शेष १७ रलोकों में उसके कार्यों का वर्णन करेंगे।

रलोक: — एवं निवसतोस्ततमिन् रमकेलश्योर्वर्योऽवे।
शादू सामभवद्वै ब्याया स्वच्छाम्ब्यपरस्थानिल। ॥ ३२ ॥

शर्लोकार्थ — इस प्रकार बलगमजी और श्रीकृष्णचन्द्रजी के वन में (ब्रज में) रहते हुए शादू ऋतु आई, जिसके आने से बादल बिखर गये, जल निर्मल हो गया और वायु मन-मन्द चलने लगी ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी — रमकेश्वरयोऽ: सहस्र्यं च निवसतोऽ:।
शादू सामभवद्वै ब्याया स्वच्छाम्ब्यपरस्थानिल। ॥ ३२ ॥

व्याक्यार्थ — भगवान् राम तथा कृष्ण इस प्रकार रमण करते हुए, वन और ब्रज में रहते थे, तब इनका वर्षा ऋतु में रमण देख, शादू ऋतु को भी इच्छा हुई, कि मैं भी वहाँ चलूं तो मुझ में भी प्रभु रमण करेंगे, इस आशा से शादू ऋतु भी वर्षा से पृथक्। लक्षण वाले तीन गुणों से युक्त होकर आई, १-वर्षा में जो आकाश, बादलों से घिर रहता था उसको अभ्य रहत बना के स्वच्छ कर दिया, २-वर्षा में नदियों का जल, मलवाला हो जाता था उसको निर्मल बना दिया, ३-वर्षा में पवन का स्पर्श तीव्र प्रतीत होता है उसको बदलकर शीत मन्द मन्द वायु चलाई, इस प्रकार शादू ऋतु ने अपने निवृत्ति पदायण गुणों से निवृत्ति धर्म प्रत्ययर्थ सेवा की और वर्षा ऋतु के प्रवृति धर्म को बन्द किया। ऊपर तो आकाश निर्मल किया नौचे जल स्वच्छ बना दिया और चाँदों तरफ वायु में निर्मलता प्रकट कर दी।

प्रवृति धर्म में, उत्पत्ति का होना मुख्य है, निवृत्ति धर्म में, उत्पत्ति हुए पदार्थों की शुद्धि होना मुख्य है, भूमिसे जल महान है और परिधिे से वायु बड़ी है, अतः वैसी शादू में, भगवान् रमण करेंगे क्योंकि इस (शादू ऋतु) में स्वीकारों (प्रभों भक्तों) का आनन्द प्रतिष्ठित है ॥ ३२ ॥

---

१-भिर । २-शुद्ध-सफ । ३-जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है । ४-स्थित ।
आभास - शुद्ध्यर्थमस्य: प्रवृतिरिति शोद्धकलासहित जीव्य ससदस्तत्मकस्य शुद्धिरूप्ये।

आभासार्थं - निवृत्तः धर्मः वाली शरद् ऋतुः शुद्धि के लिए आई है, अतः जो जीव, ससदशाल्मा (१६ गुण और १ गुणों स्वर्य जीव इस प्रकार जीव ससदशाल्मा) है, उसकी शुद्धि के वर्णन का क्रमश: प्रारम्भ करते हैं-

कारिका - जलानं सर्वभूतानामभागानं ज्ञानिना तथा।
कुटुब्बिनां दरिद्राणां विवक्तानां विमुक्तिनाम्।
योगिनां गोपिकानाच्छ शरसम्बन्धतो हरि।
दशं दोषानु निवार्यां चित्तस्थापी निवार्यं च।
सर्वस्वाम्बश्रयं देवं षडःगुणोऽश्रयमानवः।
गावः पदानि भूमिश्र बराँश्रैव विभाविताः।
शरदः कार्यमेतावदृ भगवानविशारद् यत्।

कारिकार्थं - भगवान् ने शरदूः के सम्बन्ध से, जलों, सर्व भूतों, मेघों, ज्ञानियों, कुटुब्बियों, दरिद्रों, विवक्तों, मुक्तों, योगियों और गोपीजनों के दश प्रकार के दोष निवृत्त किए तथा चित्र के दोषों का निवारण किया, इस प्रकार, सब के दोष मिटाकर सब को हरि ने सुशोभित किया ।

यह कार्य शरदूः ऋतुः ने किया है, क्योंकि भगवान् ने इस शरदूः ऋतुः में प्रवेश किया है ।

इन कारिकाओं में, जो एक एक जल आदि पदार्थ कहे हैं, वे निम्नलिखित श्लोकों का सारांश लेकर कहे हैं-अर्थात् इन पदार्थों का एक-एक श्लोक में, विवेचन है जैसे कि इस ३३ वें श्लोक में जलों के दोषों के मिटाने का वर्णन है ।

श्लोक: - शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं यथूः।
भगवनामिव चेतांसिन पुनर्योगिनिषेवया। ३३।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवात्त प्रकरण - अध्याय ६

श्लोकार्थः - जैसे योग सिद्ध होने से, जो योगी योग शुद्ध होकर जन्म लेते हैं, वे पुनः उसी दूसरे जन्म में योग द्वारा निरोध रूप से प्राप्त करते हैं, अर्थात् शुद्ध होकर (योग सिद्ध कर) अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही वर्षों के कारण, मल युक्त हुए जल, तार (कृत्रिम) के कारण, कमलों को उत्पन्न कर, शुद्ध बन अपने मूल निर्मल शुद्ध रूप को प्राप्त करते हैं।

योग सिद्ध होकर, अर्थात् उसी दूसरे जन्म में योग द्वारा निरोध रूप से प्राप्त करते हैं, वैसे ही वर्षों के कारण, मल युक्त हुए जल, तार के कारण, कमलों को उत्पन्न कर, शुद्ध बन अपने मूल निर्मल शुद्ध रूप को प्राप्त करते हैं।

पीडत एव स्वातः, न केवलमेतः भौतिकतायकायुक्तः शारदेयं अद्यावधें: सर्वाणी भौतिकतायुक्त शुद्ध भद्रता भासते। अन्यायाम भौतिकतायुक्तायाम शरदेयं द्वितीय निरोधगुणस्त्रोताम।

श्लोकार्थः - जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होंगे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि को है। किस प्रकार जलों की शुद्धि को, उसका शरीर करते हैं कि, शरद ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्वजनिक रज के पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वभाव आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरंद बाला आध्यात्मिक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की जल दूर कर देते हैं; जिससे वे जल, नीरज़े हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए।

व्याख्यायार्थः - जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होंगे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि को है। किस प्रकार जलों की शुद्धि को, उसका शरीर करते हैं कि, शरद ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्वजनिक रज के पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वभाव आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरंद बाला आध्यात्मिक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की जल दूर कर देते हैं; जिससे वे जल, नीरज़े हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए।

श्लोकार्थः - जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होंगे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि को है। किस प्रकार जलों की शुद्धि को, उसका शरीर करते हैं कि, शरद ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्वजनिक रज के पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वभाव आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरंद बाला आध्यात्मिक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की जल दूर कर देते हैं; जिससे वे जल, नीरज़े हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए।

व्याख्यायार्थः - जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होंगे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि को है। किस प्रकार जलों की शुद्धि को, उसका शरीर करते हैं कि, शरद ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्वजनिक रज के पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वभाव आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरंद बाला आध्यात्मिक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की जल दूर कर देते हैं; जिससे वे जल, नीरज़े हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए।

1-मैल-दोष । 2-बिना रज दोष वा मैल बाले । 3-सहयोग । 4-प्रस्तु । 5-अशुद्ध।
आभास - एवं सर्वशुद्धिहेतुभूतस्यान्तः करणस्य जलस्य च शुद्धिमुपपाद्य महाभूतानां
शुद्धः कष्ट्यश्रामणां शुद्धिप्रकारसाहः,

आभासार्थ - इस प्रकार सब की शुद्धि के कारण, रूप, अन्तःकरण और जल की शुद्धि
का प्रतिपादन कर, महाभूतों की शुद्धि कहते हुए, आश्रमों को शुद्धि का प्रकार बताते हैं-

र्लोकः - व्योमोब्र्ह्द भूतशाबल्वं भुवः पद्मपां मलम्।
शरजू जहाराश्रमिणां कृणो भविष्यथाशुभम्॥ ३४ ॥

र्लोकार्थ - जैसे श्रीकृष्ण में की हुई भक्ति, चारों आश्रम वाले पुरुषों का पाप
(दुःख) हरण करती है, वैसे ही शरद ॠतु ने महाभूतों की सहेंता (जैसे अग्नि तथा
वायु की मिलावट, भूमि तथा जल की कीच, आकाश के मेघ, इस प्रकार चारों का
चारों मल) दूर की ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ - जब महाभूत शुद्ध हों, तब देह भी शुद्ध रहेगी, क्योंकि देह महाभूतों से बनी
है। इस प्रकार, चारों आश्रम शुद्ध होंगे, तो धर्म की भी शुद्धि रहेगी अन्यथा नहीं, अतः सरद
ने जिस प्रकार, आकाशादि एवं आश्रमों की शुद्धि की, उसका वर्णन करते हैं। शरद ॠतु प्रत्येक
के मल को निवृत करती है, 'मल' उसको कहा जाता है जो कार्य में वा स्वरूप दर्शन में रुकवात
ठाले, जैसे 'मेघ' आकाश के मल है क्योंकि मेघों से आच्छाद होने पर आकाश का शुद्ध स्वरूप
श्री सुभोभिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण 'प्रमेय' अवानार प्रकरण - अध्याय ६

देखने में नहीं आता है। शरदु ने आकर में को हटकर आकाश का मल मिटाया, जिससे, आकाश का स्वच्छ स्वरूप देखने में आने लगा। महाभूतों की मिलावट, अग्नि और बायु का मल है, स्पर्श एवं भूख के लिए इनकी (अग्नि और बायु की) आवश्यकता है। पृथ्वी और जल का मल कोह कहें, इन सब मलों को शरदु ने हरण कर लिया।

शरदु ने जैसे महाभूतों के मलों को मिटाया, वैसे ही आकरों के मल भी निवृत किए। जैसे कि, संयासियों का धर्म घूमने का है, उनके लिए एक स्थान पर रहने का शाखा ने निवृत किया है, किन्तु वर्षा, इस संयास आश्रम के धर्म में सकारात्मक दालती है, जिससे, वे एक ही स्थान में रहते हैं, वहाँ एक ही स्थान का शोभन करते हैं उससे दोषों की उत्पति का सम्भव है; ब्रह्मचारी भी वर्षा के कारण भिक्षा मांग कर गुरु को देना, उनकी आज्ञा से, भिक्षात्म भोजन करना, इस धर्म का पालन नहीं कर सकते हैं। वर्षा के कारण समय के अन्तर से, बृहस्थी भी अग्नि रूप समयानुसार नहीं कर सकते हैं। वानप्रस्थी भी, इस कारण से, समय का रखते हैं, इससे दोष उत्पन्न होने का सम्भव है। इसी प्रकार, वर्षा में, सर्व आश्रम वालों में, दोष आने की, जो सम्भवना थी उसके शरदु ने आकर मिटाया। शरदु ध्रुव से भगवान का साधित्य होने से, आधिदैविक के समान वह (शरदु) भी दोषों को देखने वाली हुई है। शरदु ध्रुव किस प्रकार दोषों को मिटाती है, उससे लिए दृश्य देते हैं, कि जैसे श्रीकृष्ण की भक्ति, दोषों (पापों) को मिटाती है। भक्ति, शोक से आँखों में उत्पत्त आँसू रूप, हुद्याकाश के में को नष्ट करती है, अर्थात, हृदय के शोक को मिटाकर हृदय को शुद्ध (आनन्दित) बनाती है।

जीव साधिक, राजस तथा तामस भेद से, तीन प्रकार के हैं। उनको आसन्य तथा अग्नि मिला देते हैं, अर्थात एक समान दिखा देते हैं। जैसे आसन्य, सब जीवों की इंद्रियों में बल उत्पन्न कर, उनको संसार में प्रवृत्त करते हैं। वाणिज्य की अधिकारी देखता अग्नि, वाणिज्य में बल देकर, अन्यों से संग करती है, इसी प्रकार, संसार एवं संग में सब जीव समान से दिखते हैं। जिससे, उनमें दोष आ जाते हैं, किन्तु जब उन जीवों में भक्ति का उदय होता है, तब उनके वे सर्वे दोष पिट जाते हैं। आसन्य तथा अग्नि जो जीवों में दोष उत्पन्न करते वाले थे, वे ही भक्ति के प्रताप से, दोषों के नाश करता होता है, आसन्य, उन दोषों को दूर करता है और भक्ति उनको भस्म कर देती है।

*वर्षा ध्रुव में सर्व पदार्थ गीले रहते हैं अत: वे शुष्क हों तो, उनका स्पर्श किया जा सके अर्थात् वे कृषि में लाने के योग्य हों, इसलिए अग्नि तथा बायु की आवश्यकता रहती है। वर्षा के शीतत वर्षा काल में बायु का प्रकोप होता है, जिससे भूख नहीं लगती है, उसके लिए मदद हुई अश्वार्द ने प्रदीप करने के लिए, औषध सेवन की आवश्यकता होती है। इससे समझा जा सकता है, कि अग्नि और बायु का सांकर्य है। जिससे मनोर्थित तथा गौरवपन होता है। उसको शरदु ने आकर मिटाया।

१-शक्ति।
भक्त को भक्ति करने से भगवतप्रसाद की प्रापति होती है जिससे हृदय रूप भूमि की कोच नष्ट हो जाती है।

जब तक, भक्ति द्वारा, भक्त भगवान के चरणों को लेख रूप जल से आर्द्र कर, हृदय में स्थापित नहीं करता है, तब तक हृदय में, शोक से उत्पन्न जल की आर्द्रता रहती है। भगवान के चरणों के बिराजते ही, शोक रूप जल से उत्पन्न वह आर्द्रता मिट जाती है, कारण कि, भगवान के चरणार्धिन्द्र आधिदेविक भूमि है। भूमि जल को चूमती है, यह तो प्ररिक्ष ही है कि भक्त सर्व प्रकार के जलों का मैल दूर कर देता है, क्योंकि भक्त के हृदय में भगवान बिराजते है, जिससे, भक्त तीर्थ रूप हो के, तीर्थों के मल को नाश कर, तीर्थों की सुधि तीर्थ बना देता है।

ब्रह्मचर्य में ब्रह्मचारी गुरु को जलदान करता है, भक्ति ब्रह्मचारी के इस श्रम को दूर करती है, कारण कि भक्ति करने से ब्रह्मचारी भक्ति से उत्पन्न अलौकिक दान के सामथर्य से भगवान की प्रीति रूप जल का दान गुरु को दे देता है।

गृहस्थश्रम में, अनेक प्रकार के जीवों से संग होता है, जो दोष रूप संसारासकत करने वाला है। भक्ति उस संग को मिटाकर, गृहस्थश्रम को सुखदायी बना देती है। यह स्थान देखने ये आता है, कि भक्ति का उदय होने पर, जीव (गृहस्थी भी) निःसज्ज हो, भगवतप्रसाद ही रहते हैं।

जैसे भूमि, कीच रूप मल से दूषित रहती है, वैसे (ही) वानप्रस्थी भी मल युक्त (केश, नख, दाढी आदि धारण करने से) मल युक्त) रहते हैं, किन्तु भक्ति प्राप्त होने पर, वानप्रस्थी भगवतसेवा करते हैं, तो उनको निर्मल स्वच्छ शुद्ध रहना पड़ता है, देव+ बनकर (आन्तर बाद्ध शुद्ध स्वच्छता रखकर) देव की सेवा करे अतः भक्ति, वानप्रस्थ का मल भी दूर कर देती है।

संन्यासी चार प्रकार के होते हैं, -१-कुटीचक, २-बहूदक, ३-हंस और ४-परमहंस। इनमें से कुटीचक को एक ही स्थान पर रहना पड़ता है, शेष तीनों को भ्रमण कर भिक्षा द्वारा उद्द पूर्ति करनी पड़ती है, अतः उन तीनों का यह भ्रमण कर भिक्षा माँग भाग (कर) उद्द भरने का कष्ट भी भक्ति मार्ग पर चलने से मिट जाता है, अर्थात्, जब वे भक्ति पथ के पाथिक बनते हैं, तब उनको, एक स्थान (देवालय) में निवास करना पड़ता है, वहाँ ही भगवतप्रसाद से उद्द पूर्ति करते हुए भगवान धयान में मनन रहते हैं, जिससे उनका भ्रमण एवं भिक्षा माँगने का कष्ट मिट जाता है। इतना ही नहीं किन्तु जो पाप, अन्य उपयोगों से नहीं मिटते हैं, वे भी भक्ति से मिट

'वैश्नाव विद्या में भगवान के चरणों को आधिदेविक भूमि कहाँ है।' "प्रकाश"

+देवो भूल्यं देवं प्रजेता।

१-सेवा । २-गीतायणः।
आभास - एवं विषयसङ्गे दूरिकृतियात्रोत्पादका ने मेघानार दूरिकृतिवत्ततियाह,
आभासार्थ - इस प्रकार, शरद ने इन महाभूत (तथा आ में) के दोष मिटाए अब अन के उत्पत्ति करने वाले मेघों के दोषों को जिस कार मिटाया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोक - सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः श्रुत्वचर्चा: ।
यथा त्यक्ष्येणा: श्रान्ता मुनयो मुक्तिकल्पिणा: ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ - जैसे श्रान्त मुनि लोग, तृणम का त्याग कर, पाप रहित हो, स्वच्छ (श्रृध्व) तेज वाले होने से शोभते हैं, वैसे (ही) मेघ अपना सर्वस्व (जलूप धन) छोड़ने से स्वच्छ हो के, शोभा उक्त हुए ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ - जैसे मरण के समय, कोई भी प्राणि अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं जा सकता है. वैसे ही, शरद ऋतु रूप काल के आने पर, मेघ भी अपने पास कुछ भी नहीं रख सकते हैं अतः शरद के आते ही, मेघों ने अपना सर्वस्व (जल) दान कर दिया, क्योंकि वह मेघों का
धर्म है। धर्मनुसार आचरण कर, सर्वस्व त्याग देना ही सर्व पापों का प्राय: हित है, वह प्राय: हित मैथियों ने जानवीकर लिया है, जिससे स्वाच्छ तेज वाले होकर सुशी: हित हुए। पाप का रूप काल है और पुण्य का रूप स्वच्छ है, सर्वस्वदान से मैथियों का पाप रूप काला रंग नष्ठ हो गया और 
पुण्य रूप स्वच्छ रंग प्रकट हुआ। मैथिय केवल स्वपन्न रूप वाले, (ही) नहीं हुए किन्तु विशेष तेज वाले भी हुए। केवल स्वच्छ तो वृद्धिवस्था में केंद्रों में भी आ जाती है, वैसी स्वच्छ! 
मैथियों में नहीं आई, किन्तु इससे विलक्षण, कालवश से, ही दीपित युक्त स्वच्छ आई।

तब (शारद ऋतु में) मैथियों में समान अथवा दीपित हो तो दृष्टिनीचर नहीं होती है, इस प्रकार की शाक्त को मिटाने के लिए कहते हैं कि मैथियों में जो दीपित आई वह शाक्तानुसार प्रारंभ थी, उसका विशेष्य करते हैं कि, अन्तःकरण चार (चित्व, बुद्धि, मन तथा अहंकार) प्रकार का है, इनके चारों प्रकार के दोष जाते हैं। तब बाहर के त्या से, वह दीपिताय होता है, यदि त्या नहीं तो शोभता नहीं। अब अन्तःकरण के एक एक वृत्ति (विभाग) के दोष बताते हैं:—१—चित्त के दोष 
तीन ईश्वर हैं, २—बुद्धि का दोष अतिशय मूर्खता, ३—मन का दोष बाहर के विषयों में आसक्ति, 
४—अहंकार का दोष भ्रम होने से सत्त्रात्मक रूप है। इस प्रकार उनके दोष बताकर अब रूप से उनका निपटान कहते हैं। ईश्वर तीन है, १—लोकेश्वर, २—मित्रेयन और ३—अर्थेश्वर। 
इनमें लोकेश्वर दो प्रकार को हैं,—(१) भूवन को (लोक को) कामना, (२) जन (सेवकति) की कामना। २—मित्रेयन—सर्व पदार्थ मात्र के कामना, ३—अर्थेश्वर—क्षी और पुत्र की कामना। इस 
ईश्वर कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषों की कामना। इन तीन पुरुषों की कामना के त्या से वे तीन ईश्वर नष्ठ होती हैं, जिससे शांति प्राप्त होती है, यह सत्त मृण से भी होती है, किन्तु यदि अन्य मृण रो वा तमो गुण का प्रभाव बढ़ने लगे, 
तो वह शांति लुप्त हो जाती है, अतः ‘मन’ परसात्मा में पिरेने से, जो स्वरूपात्मक शांति प्राप्त 
होती है, वह लुप्त नहीं होती है यह शांति सत्त मृण उदय होने पर, भगवान! कि से प्राप्त होती 
है, इस प्रकार जो मन को परसात्मा में पिरे देते हैं वे इसे है।

जिन्होंने अहंकार रूप दोषों को मिटा दिया है और बाहर के सर्व पदार्थों को त्या दिया है, 
वे शुद्ध तथा तेज वाले होते हैं। यह शारद् के द्वार ही होता है कि आध्यात्मिक शारद् 
में भगवान् स्वयं बिराजते हैं अतः आगे कहेंगे कि शारद् की सर्व प्रतियाँ भगवान् की लीला की 
रात्रियाँ हुईं।” ३५।

आध्यात्म एवं चार्टक्तां दोषनिर्वृत्तिमुक्तचा गुप्तनामं गिरयो ममुचुरिति,

*‘चेतं तत्त्वात् सेवा’ सिद्धात मुक्ताताय में श्री महाप्रभुजी ने कहा है।

१-देना। २-समझकर। ३-स। ४-प्रकाश। ५-निर्जय।
६-बलक्षो इच्छा। ७-मिटना। ८-भगवान् की सेवा।
आधारार्थ — इस प्रकार सादृश्य तथा ने जिस भूति दोषों की निर्विरूढ़ि की, उसका वर्णन कर अब उसके गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — गिरयो ममुचुत्तोयं क्वचिन् न ममुचु: हिष्वम्।

यथा ज्ञानमूर्दं काले ज्ञानिनो ददते न वा। ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थः — जैसे, ज्ञान लोग, अपना ज्ञान रूप अमूल्य किसी समय देते हैं और कभी नहीं भी देते हैं, वैसे (ही) पर्वत अपना निर्मल जल किसी स्थल पर छोड़ते हैं कहीं नहीं भी छोड़ते हैं। ॥ ३६ ॥

सुब्रोजिनी — ज्ञान हि गुरुपत: साठीप्रेरित तथा ज्ञान
शुद्ध स्वदीर्घानशक्ति, तत्र जल किन्नपन्त द्रुततन्तं हिष्वतः
पवत: क्वचिन् तथायमुचु: क्वचिन् न यह इत्यादिमारमाग्न
भवति तत्र 'मुचुत्तथा: स्थितं जलं न तु वर्येदस्तुरं तदादि
हिष्वतः मार्यात् सुनवनु, महत्त्र इत्यादिप्रभावान्त
न सूर्यविनाणि तेषां तापः शक्यते कतः, तेनापूर्वकमिच्च
बुद्धि: तमाः स्विता स्वाभाविकम्यति तिच्चत्या
श्वास्थानिकतः शादो न रापि प्रतिविख्यति ज्ञातक्षतः वदनः
शादस्त्र प्रयोजककुलम यथा ज्ञानमूर्दतम्यति
ज्ञानमेवामूर्दत: सर्वत्र दीर्घानशक्ति वदने
सर्वस्वाभाविकतात्वे पुरुष: विशेषेषे स्वयं ज्ञानपूर्णां
अयो देशानिर्दिष्टीतादिकारि कुम्भः ज्ञानयोगयथा दूल्दातः
सम्प्रदायकांभा: अपराजहिताय विचारच्यूस्तत: तदादि
लोकाण्यता तु न ददते निदिति, 'विद्वयन सहितों विद्वयन
मित्रजयनु विद्वयन न त्वयुक्ताय तदु ददाते
कः विद्वयनिदिततिनिश्चयः!' सुद्रेः सर्वविद्वयनिदित्वति शर्यः
प्रयोजककुलम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ — ज्ञान रूप गुण उनमें है, जिनके अन्द्र सत्य तत्त्व है, वह ज्ञान शुद्ध तथा दोषों
को मिलते नाला होता है। यहाँ जल का निरुपण करते हुए, उस ज्ञान का, दृष्टांत से निरुपणः
करते हैं। पर्वत सर्व स्थान पर जल नहीं बरसते हैं, जो स्थान योग्य समझते हैं, वहाँ बरसते हैं
जैसे कि, जहाँ पर्वतों में ऐसे स्थान हैं, जहाँ से वह जल स्रोतों के रूप में बहकर नीचे जाता है,
वहाँ ही बरसते हैं। उस स्थान पर बहना नहीं चाहते हैं, जहाँ जले न बन सके और आगे
का बरसाया हुआ पानी खुदी में भय भरा मलतांन हो जाए। पर्वतों के ऊपर के पानी का गुण
'श्वम' शब्द से प्रकट करते हैं जिसका तात्पर्यः है कि वह जल शंकान, शीतल तथा स्वादिश्व
है। जैसे पर्वत के अन्दर का जल शीत एवं शान्त है, वैसे (ही) महान पुरुष का अन्तःकरण
शान्त तथा शीतल होने से, सूर्य आदि के ताप भी उनके अन्दर ताप (दुःख) आदि नहीं कर सकते
है। इससे यह बताया, कि जैसे पर्वत योग्य स्थान पर जल बरसते (छोड़ते) हैं अन्यत्र नहीं,
वैसे (ही) महान पुरुष भी योग्य अधिकारी को ज्ञान का दान करते हैं।

1—विचार करते हैं। 2—झासों या चरमो। 3—भाव।
उनके, ये दो प्रकार के रूप स्वाभाविक हैं? अथवा अपनी उद्ध से किए हुए हैं? ऐसा विचार कर, निर्णय करते हैं, कि स्वाभाविक रूप में तो शरद् ऋतु का कोई बल नहीं चलेगा इसलिए उद्ध ? किए हुए होने से, शरद् का बल चल सकता है, अर्थात् शरद् अपना प्रभाव डाल सकती है। ज्ञान ही अमृत (मृत्यु को मिटा देने वाला) है, जब शुभ समय होता है, तब ज्ञान सब से परिपूर्ण होते हुए भी देश, काल तथा ज्ञान लेने योग्य अधिकारी को देख और ज्ञान लेने के अनतर इस समय (ज्ञान मार्ग) को स्थिर करता होगा एवं कुमारे पर न जाएगा, इन सर्व विषयों का पूर्ण विचार कर, जब समझते हैं कि ये ज्ञान देने के योग्य है, तब उनके ज्ञान देते हैं अन्यथा नहीं देते हैं, शास्त्रों में आज्ञा है कि "ज्ञानवान् महापुरुष शरीर छोड़ देंगे तो भी बिना विचारे अन्धिकारी को किसी सूत्र में भी ज्ञान न देंगे।" महाभुतात्मा की शुद्धि शरद् ऋतु ने की है, अतः शुद्धि से उद्ध (ज्ञान) भी शुद्ध हो गई है, जिससे किसी ज्ञान देना चाहिए (और) किसी नहीं देना चाहिए, पर्वत कहाँ जल छोड़ें कहाँ नहीं छोड़ें इत्यादि सर्व ज्ञान शरद् के कारण हुआ है। II 36 II

आभास — एवं शरद् ज्ञानपयोगित्वमुक्त्वा वैःभ्योयोगित्वमाह नैवाविद्यित्वति.

आभासार्थ — इस प्रकार शरद् के ज्ञान के लिए उपयोग सिद्ध कर, अब इस श्लोक में, वैःभ्यो के लिए भी शरद् उपयोगी है यह बताते हैं।

श्लोकः — नैवाविद्यिनू श्रीयमानं जलं गाथालेचरा।

यथायुन्वहें क्षय्यं नर मूढः तुद्भिं। II 37 II

श्लोकार्थ — जैसे कुटुबी मूख मनुष्य, अपनी नित्य क्षय होती जा रही आयु को नहीं जानते हैं, वैसे (ही) उथले जल में रहने वाले जल के जन्तु नित्य क्षीण होने वाले जल को नहीं पहचान सकते हैं। II 37 II

यथापूर्वतिः, आयु वह पुस्तार्थः सम्पदनीयात्वकायः

यथापूर्वतिः, आयु वह पुस्तार्थः सम्पदनीयात्वकायः

परिमितं तादृशेनात्मायु वृह व्ययमानं गृहं पतियज्ज

परिमितं तादृशेनात्मायु वृह व्ययमानं गृहं पतियज्ज

निर्विभः भगवाच्यवर्षणं चेदं गच्छेत तदा न काचिन्

निर्विभः भगवाच्यवर्षणं चेदं गच्छेत तदा न काचिन्

क्षतिनाथिदिस्मित्वायुः पूर्णस्य तत्र विहितान्तवात्

क्षतिनाथिदिस्मित्वायुः पूर्णस्य तत्र विहितान्तवात्

सर्वपिप्पस्मादेन प्रवर्तत इति प्रवृत्तःपाके ज्ञानाभाव एवं

सर्वपिप्पस्मादेन प्रवर्तत इति प्रवृत्तःपाके ज्ञानाभाव एवं

हेतुः अत्यजान निद्वान आयुः श्रीयमानं न विदुर्विति।

1-नहीं तो। 2-अनुकूल। 3-छिछले या थोड़े।
श्री सुभाषिनी की हिन्दी टीका - तापस प्रकारण 'प्रमे' अवाज़त प्रकारण - अध्याय ६

व्याख्यार्थः - एक तो जल जन्तु, यों ही उठले हुए जल बाले सरोवर में रहते हैं, फिर शरद ऋतु
उस जल का धीरे २ शोषण करती रहती है, जिसका ज्ञान उन जनताओं को जल में रहते हुए भी नहीं
होता है। वे तो, उस उठले पानी में ही, क्रिया शक्ति का कार्य (चलना, फिरना और खेलना आदि)
आनद से निश्चित होकर करते रहते हैं और न उस उठले पानी के साथ, किसी अधयाय जल बाले नदी
में चले जाते हैं, प्रयतनकर, यदि चले जाते तो, कोई चिंता नहीं रहती, किन्तु, न जाने का परिणाम,
यह होता है, कि पानी नष्ट होते हैं, वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, यदि यह जल का नष्ट होना स्वाभाविक होता,
तो शरद ऋतु का कोई उपयोग न रहता, अर्थात् यदि वह पानी स्वतः ३ सूख जाता तो शरद की
आश्वयकता नहीं पड़ती। इस शाखा सिद्ध विषय को समझने के लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे आयु
है, आयु से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जा सकते हैं, किन्तु एक तो, वह
आयु परिवृत् है, फिर हम ऐसे स्थान में रहते हैं, जहाँ उसका अपवेष्ट होता है और न उस स्थान
(गृह) को छोड़ कर उसी दूसरे निर्भर स्थान (भगवान् के चरणार्थविन् रूप गृह) का आश्रय करे तो
किसी प्रकार की हानि न हो, किन्तु वहाँ आश्रय करने से पूर्ण आधिदैविक आयु की प्राप्ति तथा सर्व
प्रकार के इत्यादि सिद्ध हो। इतना होने पर भी जीव यों नहीं करता है, उसका कारण अज्ञात ही है।
अतः अज्ञात की निद्रा करते हुए कहते हैं कि अज्ञात से ही, वे इसको नहीं समझ सकते हैं, कि हमारी
आयु प्रति दिन क्षीण होती होती जाती है। यहाँ क्षीण शब्द देने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई चाहे तो वह
क्षीण न हो, तो वह अक्षय भी हो सकती है। क्योंकि ‘आयु:’ का भावार्थ कोई वर्ष वा मास बताने का
नहीं है किन्तु आयु वर्ष का अर्थ प्राण विशेष बताता है अर्थात् इसकी इतनी आयु है, जिस कारण का भाव
यह है कि इसको इसे ‘प्राण’ मिलते हैं। पूर्व में यह भी कह आयें है, कि ‘शातायुव: पुरुषः’ पुरुष की
आयु शत करं वर्ष की है इसी प्रकार ‘मृत्यु:’ भी सर्वत्र कहें हैं तथा उनके प्रत्यक्षार्थ भी बताते हैं। आयु
क्षीण होती है एवं प्रतिदिन क्षय हो रही है। क्योंकि मनुष्य को यह विषय ध्यान में आ जाए कि भरी आयु
दिन-प्रति-दिन क्षय होती जा रही है, इसको में अक्षय बनाने के लिए भगवान् के चरण का आश्रय
करें। ऐसा विचार हो जाए, तो मनुष्य पश्चातप बनाने से बच जाए, किन्तु वैसा होता नहीं, कारण कि
अज्ञात है। अज्ञात होने के १-नल्क, २-मूहल्क, ३-कुटुम्बित्व ये तीन कारण हैं। इन तीनों से ज्ञान नहीं
होता है। नल्क-मनुष्य स्वभाव, वैसा है जो उस और सूची करने नहीं देता है, २-मूहक-मूहकता के
कारण शाखा ज्ञान न होने से, अज्ञात नहीं मिलता है। ३-कुटुम्बित्व-इससे चीरा, पुत्र, धार्मिक चिन्ता में सबके
होने से भी अज्ञात नहीं मिलता है।

\[१-मूक्ष जाने पर। २-कुटुम्ब। ३-अपने आप। ४-सीमावार्ती।\]
\[५-नर्थ नाश, फिजी त्रथ। ६-पथाय। ७-आसक्त।\]
आभास — नन्दकविचिद्दानमपि सुखकरं भवति तथा नरत्वायोऽयोग्यों तैराग्याभावं
प्रभृतिं सुखं भविष्यतीत्याशंक्वयाह गाधवारिचार इति,

आभासार्थ — जैसे किसी समय अज्ञात भी सुखकर हो जाता है, वैसे (ही) वे (अज्ञात के
तीन कारण नरत्व आदि) भी सुख देने वाले होते हैं, वैशालय के अभाव में उनसे लोक के सुख
भोगे जाते हैं, इस प्रकार शांति हो तो उसका निवारण इस श्लोक से करते हैं—

श्लोक: — गाधवारिचरास्तापमविन्दुर्वदर्दक्षणम्

यथा दर्शिः: क्रपणं: कुटुम्बविनितेन्द्रियः: ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ — जैसे दर्शिः क्रपण और अजितेन्द्रिय कुटुम्बी पुरुष, संसार के दुःखों
को भोगता है, वैसे (ही) उथले जल में रहने वाले जंतु शरद के सूर्य के ताप को सहन
करते हैं ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ — अज्ञात, सुखदायी तब हो सकता है जब काल अथवा कर्म, प्राणी को दुःख
न दे सके, वे तो अज्ञात दशा में भी दुःख देते ही हैं, जैसे कि उथले जल में रहने वाले अज्ञाती
जनुओं को शरद सूर्य तथा जलशाल के बीच में अत्यावस्था ढालने वाले मेघों को दूर कर जल
को तात कर शुष्क करने वाले सूर्य द्वारा उनको दुःखि करती है ।

जहाँ चार दोष (१-अन्तःकरण, २-इद्रिय, ३-शीर्ष और ४-विषय) नहीं है वहाँ दुःख नहीं
होते हैं । जैसे चर्मः त्रस्तु में वर्णन है, कि ब्रज निबोध होने से, वहाँ किसी प्रकार का पापण्ड
भर्म नहीं है, जिससे दुःख हो । यहाँ भी दुःखान्त से इतने समझाते हैं, कि यद्यपि ये अन्तःकरण
आदि चार स्वयं अथवा दूसरों से मिलकर प्राणियों का पोषण करने वाले तथा सुखदाता हैं, तो वे सब स्वाभाविक दोष वाले हैं। जिन दोषों में से दोनों सर्व विषयों को वाण करने वाली तथा बहिःखों को दुःख देने वाली है, सम्पन्न अन्तःकरण का लोभ रूप दोष है, यदि गरीब होते हुए भी लोभी नहीं है, तो वह दुःख को प्राप्त नहीं होता है। यदि मनुष्य एकाकी हो तो भी हानि नहीं, किन्तु कुटुम्ब वाला है, यह देख दोष है। कुटुम्बी होकर, यदि जितने बन जाए तो भी कोई चिन्ता न हो, किन्तु इन्द्रियों को जीत नहीं है। अतः अज्ञान होते भी काल कर्म वश दुःख भोगना ही पड़ता है सुख प्राप्त नहीं होती है।

आभास - एवं शर्तकृतं दोषनयुक्तवा गुणसहितं केवलानु गुणानाह शानेः
शेनेत्येकादाशियः।

आभासार्थ - इस प्रकार शरद् कुतु के किए हुए गुण सहित तीन दोषों का वर्णन कर, अब एकादश (११) श्लोकों से शरद् के निर्दोष गुणों का वर्णन करते हैं।

श्लोकः - शानेः शनेनर्जुहुः पद्यं स्थलान्यामं च वीरुधः।
यथाहम्मपतां धीराः शाश्रिगदिःस्वात्मसु || ३९ ||

श्लोकार्थ - जैसे धीर पुरुष धीरे धीरे, अनात्म रूप शरीर आदि पदार्थों में से अहन्ता एवं ममता का त्याग करते हैं, वैसे (ही) स्थलों (भूमि) ने कीच को तथा लताओं ने कच्चे पेड़ का त्याग किया।

सुवोधिनी - शानेः शानेः क्रमेणेव स्थलानि पद्यं जाहुः। 
तामसः स्वाममसदौरवं जाहुः, 
वीरीयो लतागुल्मादय आयुमकाव्याः जाहुः, 
चकाराद वृक्षा अथि सुतंत्रोक्ता आयुमहेष्याः जाहुः, 
पूर्वकं देवाय यथाहम्ममपतां भीत्र, 
ममता पद्ध्वस्थानीया, अहन्तामात्रस्थानीया, अहन्तामस्थानीया, अहन्ताममतात्यागे यदापि शाश्वस्तं हेतुस्तथापि शैर्यभावातः स्वाभाविकदोषधेयं हृतिदता:
शात्त्वीयं न मन्यन्ते।तो भैर्यमेव हेतुस्त्वनाह यतःता
ममताव्यवस्थायपि महतात्रममतामपि महतात्रममतामपि।

दत्तमात्रस्वममथ्यागः, अहहहुः श्रेष्ठादेव नैतिकविद्यारुः
हिन्दूः नान्ति तत्रा भृत्तिभृत्तिविश्वास त्रयमात्रमभावमस्तत
इत्यादः, तदात्मायित्यादिः, स्वयंत्व त्रयमात्रमभाव, गीतप्रकृति
त्यागमहत्त, करणपस्तु ममता कार्यां इति न त्यागः, अतः
ऐत धीर इत्युक्तं न तु भक्तं, आदिशास्त्रे पुजादयः, 
तदात्मायित्यादि भैरविक तह्यात्रेव पुज्यं भाष्यां च
श्रृंगध्यागध्यायांत्यापि शुद्धद्रापमार्थ त्यागे भिषवत् हेतुमहति
तदुपराधवत्यात्मस्विता। || ३९ ||
व्याख्यार्थ - धीरे, धीरे, अर्थात् क्रम के अनुसार, ज्यों ज्यों समय बीतता गया, लोगों लोगों, भूमि ने कीच को छोड़ा (भूमि सुशी सोने लगी) जिससे, वह जाता है कि तामसों ने अपने दोषों का त्याग किया। बेल और ज्ञानियों ने अपना कच्चा पन छोड़ दिया, मूल श्लोक में ‘च’ (और) कहने का तत्त्व यह है, कि सात्त्विक वृक्षों ने भी कच्चे पन को छोड़ा। जैसे वर्ष कत्ते के प्रकरण में, दृश्नत देखकर समझाया है वैसे (ही) यहाँ भी दृश्नत देखकर समझाते हैं।

जैसे भूमि में कीच, वैसे ही मनुष्य में ममता है, जैसे लता वृक्षादि में कच्चा पन है वैसे (ही) मनुष्य में अहंता है। इन दोनों (अहंता तथा ममता) के छोड़ने में शास्त्र कारण होते हैं किन्तु धैर्य के अभाव से तथा स्वाभाविक दोषों से पूर्ण मनुष्य, शास्त्रों में कहे हुए ज्ञान आदि साधनों को नहीं मानते हैं; अतः धैर्य को यहाँ अहंता ममता के त्याग का कारण कहा गया है। लोक में देखा जाता है कि महान पुरुषों को केवल ममता होती है। अन्यों को अहंता तथा ममता दोनों होती है। इसलिए दोनों (अहंता, ममता) का अभेद बताने के लिए दोनों (अहंता तथा ममता) एक ही है। श्लोक में कहे हुए ‘श्रीरामदिव’ में जो आदि शब्द दिया है जिससे इन्द्रिय, प्राण तथा अतः करण कहा है उसका भावार्थ अहंता त्याग ही जाना जाता है, तो दो उसके साथ ममता को बोलते जाते है इस प्रकार की शब्द मिटाने के लिए ही उपयुक्त विवेचन (दोनों एक ही है) आचार्य श्री ने किया है।

१-कोई अहंता तथा ममता का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं। आत्मा के साथ तात्त्विक सम्बन्ध (आत्मवत्-आत्मा की तरह हो जाना) अहंता है और उस (आत्मा) से केवल सम्बन्ध ममता है, अतः अहंता का त्याग नहीं हो सकता है (न करना चाहिए) केवल ममता का त्याग हो सकता है और वह करना भी चाहिए।

२-ब्रह्मवाद तथा तैयानिक आदि सिद्धांत में अहंकार (अंहंकार) उत्पत्ति करने वाली अहंता नहीं है, किन्तु शरीर आदि को आत्मा समझना और उसी प्रकार कर्त्त्व करना यह अहंता है। यही शुद्ध वैदिक सिद्धांत सम्मत मत है।

३-देह आदि में आत्मा का जो अध्याय (एक पदार्थ को दूसरा समझना अध्याय है, जैसे देह को आत्मा समझना यह देह में आत्मा का अध्याय कहा जाता है) किया जाता है वह अहंता है।

४-आत्मा के साथ तात्त्विक (एकी भाव) अहंता है यों भी कोई मानते है। (यह ऊपर बताया है) यह अहंता सर्वथा त्याज्य है, गोपण पक्षवाली होने का भी नहीं करनी चाहिए। केवल तभी जो भी महाप्रभु भी मद्यान्याचार्य चरण भी अहंता का यह स्वरूप मानते हैं। —अनुवादक
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकरण ‘प्रवेय’ अवनति प्रकरण - अध्याय ६

ममता का त्याग नहीं करना चाहिए जब वह ममता भगवानु की सिद्धि के लिए हो, तब वह ‘ममता’ लीला की सिद्धि में करण (साधन) होती है अतः त्याग के योग्य नहीं है। इसीलिए ही श्लोक में ‘धीरा:’ पद देखकर बताया है कि धीरे पुरुष इनका त्याग करते हैं किन्तु भक्त नहीं करते हैं।

श्लोक में दिए हुए (आदि) शब्द से श्री पुत्र आदि में अहन्ता होती है, यों किंतु कहते हैं। वेद में कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार तो, श्री और पुत्र में अहन्ता ही होती है, जैसे कि कहा है (‘आत्मा वै पुत्र नामासि’ ‘स पति: पतलीचाभवताम्’) ‘तू स्वयं पुत्र रूप है’ ‘वह पति और पतली दो रूप हुए, अर्थात् पतली पति का आधा शरीर है। त्याग किए हुए अंश को फिर ग्रहण नहीं करने के लिए धीरे धीरे त्याग करते हैं कहा है, और त्याग में करण बताते हैं कि वे आत्मा न होने से अपने से भिन्न हैं इसलिए त्याग योग्य है। ॥ ३९ ॥

आभास - एवं बहिर्दोषं परिहल्य ततोन्नतर्क्कोषपरिहारायथ समुद्रं निरुपयति। निश्चलस्मृतिः।

आभासार्थ - इस प्रकार बाहर के दोषों का परिहार कर अब इस श्लोक में भीतर के दोषों के निवारण करने के लिए ‘समुद्र’ का निरुपण करते हैं।

श्लोकः - निश्चलाम्बुर्भूतू तृणी समुद्रः श्रद्धागमे। आत्मन्युपरते सम्यः मुनिव्युपरतागमः।। ४० ॥

श्लोकार्थ - जैसे अन्तःकरण के उपरामः पाते ही मुनि, वेद से निवृत्त हो जाता है, जैसे ही शरदू आने पर समुद्र स्थिर जलवाला हो शान्त हो गया। ॥ ४० ॥

व्याक्यार्थ - पृथ्वी से जल उत्तम है, जल में भी समुद्र उत्तम है, उसमें जललता दौष है,
समुद्र के जल में रज का (पृथ्वी की मिट्टी व कूड़ा) मेल स्वभाव से नहीं है, गरजना की ध्वनि रूप दोष जल के चलने से उत्पन्न होता है। ये दोनों दोष (चंचलता तथा ध्वनि) राजस है, तमोगुण का दोष पृथ्वी में है, इसमें नहीं है। शारद के आने से, वे दोनों दोष नष्ट हो गए जिससे समुद्र स्थिर जल चाला बन कर, शान्त हो गया। वर्षा के समय, यहाँ भी दुःखान्त देखकर समझाते हैं कि, जब अन्तःकरण तप तथा विश्वेषता रहित होकर शान्त हो जाता है, तब मनन करने वाले ‘मुनि’ को वेद के अर्थ का अनुसंधान नहीं करना पड़ता है वा नहीं रहता है। कारण कि, इस मुनि ने मनन, निनिद्ध्यासादि साधन पूर्ण कर लिया है। आगमं शब्द है और चंचलता का अभाव यह उपलब्ध है। तात्पर्य यह है, कि जैसे मुनि को, वेद ध्वनि वा उनके अर्थ के अनुसंधान करने की आवश्यकता न रहने से, शान्ति प्राप्त होती है, वैसे (ही) शारद में समुद्र भी चंचलता व ध्वनि बन्ध हो जाने से शान्त हो जाता है।

पृथ्वी के तामस दोष और जल के राजस दोषों के (३९वें तथा ४०वें श्लोकों में) दूर करने का वर्णन किया। सातिक दोष तो होते नहीं हैं। || ४० ||

आभास — जलभेदान् निरूपयति केदरेभ्य इति,

आभासार्थ — अब इस श्लोक में जल के भिन्न-भिन्न भेदों का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — केदरेभ्यस्तव्योगङ्गहुन्त् कर्षुकः दृढःसेतुभि:।

यथा प्राणः: सर्वजुः ज्ञानं तत्त्वरोधेन योगिनः। || ४१ ||

श्लोकार्थ — जैसे योगीजन प्राणों के द्वारा निकल जाते (सवित) हुए ज्ञान को, उन (प्राणों) का नियमन (निरेठ) कर रोक रखते हैं, वैसे ही किसान भी वह जाते हुए जल का दृढ़ मंड़ों से पकड़ रखते हैं और समय पर क्यारों में पुनः भर देते हैं। || ४१ ||

शुभोदिनी — केदार धान्योपतितिश्रेयोगणि विभक्ताकानि

तेथ्यो नि:संस्थितयोः कर्षुकः अर्थहुन्त् गमनार्थमुद्रोषेऽ, तद्यद्

दृढ़सेतुभिरित्यो जलाते सर्वथादार्थित्यो जलगतिकिरित्यो धृतत्वमुक्ताः

अस्यां गुणस्य स्वभावकिंचिन्तरीय दृढ़त्वार्थाः यथेति, शारद वृष्टिदृढ़त्वे भिति जलाधिनि तत्त्वरोधे उचितस्थायित्वा फलसाधकाये साधनीयं जलाभावेः सर्वेऽ

कृष्टिर्वेष भवेदिति भाषाया दार्शमपि निरूपणपि, प्राणाद्यो चार्यो यदा बहिनि: सर्वति तद्र ज्ञानसहिता एव नि:सर्वति

तथेहनिद्रायणयो, ज्ञानप्रक्ष्यासिद्धतुष्टको हि भगवानु

ज्ञानप्रक्ष्यायं तथोपयोगच्यो भरायते प्राकः तु निष्कं तु एव, ज्ञान हि प्रकटपुस्थे शालो जातो 'सवविन्द्रस्तौत्त्येन ज्ञानं

वैवाकार्येऽं' इतिवाक्यत, ज्ञानविषयेऽहि योगप्रवृत्त,
व्याख्यार्थ — खेती में किसान अत्र के उत्पादन के लिए पृथक पृथक क्यारे बनाते हैं, जिनमें धान बोते हैं, धान के लिए पानी चाहिए। वर्षा ॠतु में वे क्यारे भर जाते हैं, किंतु शारदू आते ही वह पानी सूख जाता है वर्षा भी निक्खित रूप से पड़ती नहीं, ऐसी सूत्र में यदि पानी न मिले तो खेती नष्ट हो जाए, अतः किसान लोग प्रथम ही साबधान होकर पढ़ाड़ नदी आदि जहाँ से भी पानी निकल जाने का मार्ग होता है उस मार्ग पर दृढ़ बाधा बनाकर पानी को रोक रखते हैं जब भी आवश्यकता होती है तब खेती के लिए क्यारों में पानी ले लेते हैं, जिसमें, खेती नाश से बच जाती है धान भी पुकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार योगी जन भी, प्राण वायु तथा इन्द्रियों द्वारा निकलते हुए ज्ञान को रोकने के लिए योग के साधन रूप बान्धों को बनाते हैं अर्थात् योग के साधन करते हैं।

भगवान की ज्ञान और क्रिया दो शक्तियाँ हैं उनके साधन, प्राण और इन्द्रियाँ हैं। यदि वे दोनों शक्तियाँ प्राण तथा इन्द्रिय सहित निकल जाते तो उनके अभाव के कारण, भगवान भी वहाँ न रहें और इन्द्रियों विषयों में आसक्त हुई तो ज्ञान नष्ट हुआ। ज्ञान नष्ट न हो, इन्द्रियों विषयासक्त न हो, तदर्थ ज्ञान की रूप के लिए इन्द्रियों को समार्थ पर चलाने के लिए योग शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

कार्यक्रम — ‘ऊर्ध्वे इन्द्रियस्तु विक्षेपो ज्ञानस्याधो विवाहारणम्’।

निरोधे पुज्ञभावेन स्वकार्य साधयेद् धृवम्॥

कार्यक्रम — ऊर्ध्वं इन्द्रियाँ (जिन इन्द्रियों का निरोध नहीं हुआ है) उनके ऊर्ध्वं इन्द्रियाँ कहते हैं) से ज्ञान बह जाता है (बाहर निकल जाता है) और नीचे से जाते हुए, योग नष्ट हो जाता है जैसे छिद्रवाले घड़े से पानी बहकर नष्ट हो जाता है, अतः निरोध से उनका संयम कर, योगी को अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए।

सुबोधिनी — प्राणेन्द्रियनिरोधेन स्वकार्य ज्ञानमयूहु नित्यः। योग, अपना ज्ञानारम्भ अवतृत तत्त्र योगार्थ द्विगत्वं इति, केदारभद्ध इति नुसारः, योगः शारदी सिद्ध्योगति च शुद्धिकार च हेतुः॥४६॥

शेषभाग — योगीजन प्राण तथा इन्द्रियों का निरोध कर बहते हुए ज्ञान को रोक लेते हैं। इस (ज्ञान को रोकने) में योग के जो मार्ग है वे दृढ़ बाधा है। मूल श्लोक में ‘केदारभद्ध’ यह पद चौथी विभक्ति का है जिसका तात्पर्य है पानी को रोकने का कारण ये क्यारे हैं अर्थात् क्यारों के लिए पानी रोक जाता है। मूल श्लोक में ‘तु’ शब्द इसलिए दिया है कि केवल पानी रोक रखने से भी सिद्धि नहीं होती है उसकी सदेव देख भाल करनी ही चाहिए, जैसे योगी की साधन दशा में योग नित्य करना पड़ता है। आसन, प्राणायाम आदि योग के अंग जब स्थिर हो जाते
श्रीमद्भागवत - (सुबोधिनी) दशम स्कन्ध - समदर्श अध्याय

है, तब फिर, जान निकल नहीं सकता है। योग, शरद ऋतु में सिद्ध होता है क्योंकि शरद ऋतु, महाभूत आदि की शुद्धि कर देती है, उनकी शुद्धि होने पर ही, योग की क्रिया, की जा सकती है और तब जहाँ क्रिया योग को सिद्ध करने में समर्थ होती है || ४९ ||

आभास - एवमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकी च जलस्य शुद्धिमुक्तवाच्यिदेविकप्रकरणे
शुद्धिमाह। शरद्कर्षणानिन्ति,

आभासार्थ - इस प्रकार जल की आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक* शुद्धि कह कर अब इस रूप में, आधिदेविक प्रकार से शुद्धि कहते हैं।

रूपकः - शरद्कर्षणास्तात्यानु भूतानामुद्धयोहरत्।
देहाभिमानजं दुःखं मुकुन्दो ब्रजयोगिताम्। || ४२ ||

रूपकार्थ - जैसे मुकुन्द भगवान ने जस की चित्तों का देहाभिमान से उत्पन्न दुःख (ताप) हरण कर लिया, वैसे ही चन्द्रमा ने शरद के सूर्य की चित्तों से उद्भूते भूतों का ताप नाश किया || ४२ ||

सुबोधिनी - सल्लकालीनो योगः: सोतयनं उस्तस्यांशयः पचिते तथा तन्यानितास्तापि ज्ञानविदयादकवंनापि
श्राव: अस्त्रामपुष्प भवेत न, भूताना जाताना। चन्द्रोऽहि जलाधिभौतिकीयां प्रकृतिस्तदायिकानि च भूतानातस्तापि
तापनिवारकल्यं तथा चन्द्रोऽहि, उस्तस्यांशय: पर्यायः न कामस्तक्तरकाल्यं तथा, नृतानामापि
तापनिवारकल्यं उपश्रावग्नि शरदोऽहुः, उपवेद दृश्यतः, यथा चन्द्र आधिभौतिकोऽहि द्विवेदनं भावानात्मात्मिकानि तापं
हरववन, स द्विवेदोऽहिदेहाभिमानरूपः: स क्रमेन पुष्टिवार्गप्रवववेनादि
सहो देहाथानं भावितं विनियोगाद् न केनाध्येष्यं तापः:

*ः जयोपिताभिषिक्तति, तदा ता एव सिध्यताः, चन्द्रसमानोऽहि
निवार्यदास्त्राचारेव देहाभिमानाः: खोताधिभौतिकीं नामं
कामस्तक्तरकाल्यं तापः: नृतानामापि तापनिवारकल्यं कथं?
ततोऽहि मुकुन्द दृश्यत, वोशानारमाये
पूर्वविश्व व्याजनीयवेग, अत: उपवेद एव लघः: अन्वयः
श्रावण तत्व एव चयुक्त विद्यामाने भावितं मांस्त्रात्मविश्व
सर्वभावेन तत्वोऽहि एव तस्य तापाभिमान: शापी विकाले
कालवादुः: वेगः: केनाध्येष्यत एव वायाः: शुद्धिरं च मन्त्रे
मसस्निरूपयुक्त एव तेजः: || ४२ ||

* (१) प्राण की शुद्धि कहने से जल की आध्यात्मिक शुद्धि कहता है क्योंकि श्रृद्धि में 'आपौमयः प्राणः' कहा है तथा इसे जलमय है।

(२) 'शुद्धि' पद का तापमय है अतनहीं कार्य करने की सक्ति।

प्रकाशः

१-पृष्ठ हुआ।


**आयामार्थ** — जैसे शरद का सूर्य तीत्र ताप वाला है वैसी ही उग्र ताप वाली उसकी फिरियों भी हैं। भूत अनेक है, ताप से उदय रोग भी अनेक हैं, उन भूतों के रोगों (तापों) को नाश किया यह बताने के लिए मूल शलोक में ‘ताप’ शब्द बहुवचन दिया गया है। ताप हरण करने वाला ‘चन्द्र’ क्यों हुआ? इस शब्द की नियृति करते हुए कहते हैं कि ‘चन्द्रमा’ जल का अधिपति है तथा जल प्रकृति वाला है और भूतों जगद्धामक हैं अतः अधिपति होने के नाते उनका ताप मिटाना चन्द्रमा का यह कार्य योग्य ही है। चन्द्रमा को मूल शलोक में ‘उदः’ नाम इसलिए दिया है कि वह ‘उदः’ (नक्षत्रों को) ‘प’ (पालने वाला) है। इससे चन्द्रमा नक्षत्रों द्वारा भी ताप को हरण करने वाला है। चन्द्रमा स्वयं ताप को हरण करे अथवा नक्षत्रों द्वारा ताप मिटावे इन दोनों प्रकारों में शरद कारण रूप है। अब पूर्ववत् दुःखान देकर समझाते हैं जैसे चन्द्रमा ने आधिभौतिक ताप को मिटाया, वैसे (ही) भगवान् ने आध्यात्मिक ताप को नाश किया। वह आध्यात्मिक ताप देहाभिमान रूप है, जीव जब पुष्टि मार्ग में प्रवेश हुआ (होता है) तब धीरे धीरे उसका देहाभिमान से उत्पन्न ताप का हरण हुआ। पुष्टि मार्ग में प्रवेश होते ही देहादिका का भगवान् में विनियोग होता है उससे (विनियोग होने से) सब ताप नाश हो जाते हैं किसी अंश से भी ताप नहीं रहता है।

भगवान् ने जब सोममन्तनियों का ताप हरण किया, कारण कि उस समय, वहाँ वे ही स्थित थीं। भगवान् ने उनका ताप चन्द्रमा की भौति निवारण किया। चन्द्रमा रत्न के समय, ताप को मिटाता है, प्रभु ने वह उनके दूरे का अभिमान, काम और उससे उदय ताप ये तीन दुःख रत्न में ही मिटाए, कारण कि, स्थिरों को ये रत्न को ही होते हैं।

भगवान् ने उनके तापों का नाश किया, जिससे उनका जाति धर्म (स्थिरों का स्वाभाविक धर्म खीत आदि) भी नाश हुआ। इसलिए भगवान् को उनके तापों को नाश नहीं करने चाहिए थे? ऐसी शब्द का निवारण ‘मुकुन्द’ नाम देकर किया है। भगवान् मोक्ष दाता है, जब मुक्ति दान करने का समय होता है, तब पूर्व अवस्था (बन्धन में जमकर रहने वाली कामादि अवस्था) को छोड़ना योग्य होता है, इसलिए जाति धर्म का लय योग्य ही है। यदि उनका लय न करे, तो शरद में उनकी मृत्यु हो जाती, भगवान् की उपस्थिति में उनका मोक्ष न होता। किन्तु भगवान् ने उनका सर्वात भाव से अडूँकर किया था, इससे उनको तापाभिमान हुआ। शरद ऋतु का तो दर्शक की भौति इस लोक में न्ययोग है। पूर्व शलोक में व्याकों का दृष्टान्त दिया, जिससे वायु की शुद्धि कहीं, इस शलोक में सूर्य चन्द्र के निरुपण से तेज की भी शुद्धि बताई। ॥ ४२ ॥

**आभास** — आकाशत्य शुद्धिपूर्वक गुणमाह खमशोभतेति, निमेंंखमपशोभत, शरदा दुःखान विमलास्तारका यस्य,
आभासारथ — इस श्लोक में आकाश को शुद्ध कह कर, गुणों का वर्णन करते हैं। शरद के कारण, जिसमें निर्मल तारे हैं और मेघों का अभाव है, वैसे आकाश शोभा पाने लगा।

श्लोकः — खमशोभत निर्मितं शारदिमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चितं शब्दब्रह्मार्धंदर्शनम्॥४३॥

श्लोकारथ — वेद के अर्थ के प्रकाश होने से, सत्त्व गुण वाला चित्त, जैसे शोभा पाता है वैसे ही मेघ रहित शरद के कारण निर्मल तारेंगण वाला आकाश शोभा पाने लगा॥४३॥

कारिका — मासाष्ट्रं तथाकाशो तपस्तापिं कृतं रजः।
मेघेवरपोहते सम्यगत: शारदि निर्मला:॥१॥
सर्व नभो दिशाचैव तारकाशचन्द्र एव च॥१॥

कारिकारथ — आठ मास पर्यंत (चातुर्मास के बिना) आकाश में सूर्य के तारों ने जो रज रूपी तम किया उसको मेघ (वर्षा क्रृतु में) पूर्ण प्रकाश से मिलते हैं, जिससे शरद क्रृतु में सम्पूर्ण आकाश, दिशाएँ तारागण और चन्द्रमा भी निर्मल होते हैं॥१॥

सुवभूदिनी — तदाह, शारदीमल, मेघागमो
दोषाभाव आधिभौतिक विमलतात्मात्मिकी तारागुणम्,
आधिवैदिकायं शारदिति अपलियं दृष्टःतमाह सत्त्वयुक्तप्रभिमति,
सत्त्वगुणं युक्तं चितं शारदब्रह्मो वेदस्य दर्शनं यत्र
tादशूदशम्शोभत, चित्स्य रजस्तमसी दोषः सत्त्व—
sमभस्ये,प्रभास्ति, गुणसुं सर्वदपर्यास्तार्थानं तत्त्वते ज्ञानः

c पदार्थः—श्रुत्येकसमधिकम्—शुद्धेन्नत:करणे
वेदभावनथा स्थपितः, शुद्धे हृतुच्छहुद्रयम्; मेघाः
भावस्थानियं सत्त्वं सिमलस्थानियं शब्दब्रह्म तत्थजानं
tारकाशचन्द्रीयं एदं वायुवर्त्यं दोषा आकाशो वाहव आध्यात्मकः
शुद्धो निर्पितः॥४३॥

व्याख्यारथ — शरद ने आकर, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिवैदिक तीन प्रकार के

dोष आकाश के नाश किये। आकाश में मेघों का होना आधिभौतिक दोष था, शरद ने उन (मेघों)
को हटाकर, आकाश का आधिभौतिक दोष निवारण किया, आकाश में रज, आध्यात्मिक दोष
था, शरद ने उस (रज को नष्ट कर आकाश को निर्मल बना के उसका आध्यात्मिक दोष दूर
किया। तारागण गुण हैं उसमें आकाश का सुशोभित होना आधिवैदिकी शरद हैं, यह बताने के
लिए दृष्टान्त देते हैं, चित्त के दो दोष, रजोगुण और तमोगुण हैं। वे दोनों ही, सतोगुण का जब
चित से समवृत्त होता है, तब चले जाते हैं, जिससे सतोगुण युक्त चित में, वेद के अर्थ का प्रकाश होता है उस प्रकाश से वह (चित) शोभा पाता है। सर्व पदार्थों का तत्त्व से (वास्तविक प्रकाश से) ज्ञान होना ही गुण है। वे पदार्थ श्रुति द्वारा ही समझे जाते हैं। शुद्ध हुए अन्तिकारण में, वेद की भावना से वे स्पर्श होते हैं। शुद्धी करने वाली होने से शरद का यहाँ उपयोग है। जैसे आकाश में मेघ न होने से आकाश स्वच्छ रहता है, वैसे (ही) चित में सच्चा आने से (रज तम जाते हैं) चित शुद्ध हो जाता है। जैसे आकाश निर्मल हो तो शोभा देता है वैसे (ही) चित्र शद्ध ब्रह्म से निर्मल हो सुशोभित होता है। जैसे आकाश में तारे चमकते हैं तो आकाश अलंकृत सा दिखता है वैसे ही चित्र को वेदों के अर्थ का ज्ञान तारों के समान चमकता है तथा अलंकृत करता है।

इस वर्णन से दूर करने योग्य दोषों का (मेघ, रज तथा तम) तथा महाभूत आकाश, एवं भौतिक के आकाश (चित्र) की शुद्धि का निरूपण किया।॥ ४३ ॥

आभास — तत्त्व हृदये भगवच्चोभाववा कृ प्रथमत आकाशे चन्द्रशोभामाह महाभूतान्तरं मनस्: क्रमभाविताद, अखण्डमण्डल इति।

आभासार्थ — पूर्व श्लोक में कहे हुए, सच्चा युक्त चित में, भगवान् की शोभा का वर्णन करने के लिए, इस श्लोक में, प्रथम आकाश में हुई चन्द्रमा की शोभा कहते हैं, कारण कि मन, महाभूतों के अन्तर ही आता है।

श्लोक: — अखण्डमण्डलो व्योमिन साजोदुगणो: शशी।
ध्यय यदुपति: कृष्णो वृषिणचक्रावृतो भुवि।॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ — जैसे यादवों के पति श्रीकृष्ण, भूमि पर यादव मण्डल से आवृत हो शोभा देते हैं, वैसे (ही) सम्पूर्ण मण्डल सहित चन्द्र, तारा मण्डल से आवृत हो आकाश में शोभित है।॥ ४४ ॥

सुबोधिनी — अखण्ड मण्डल चन्द्र तारों: पर्यंतमाश्रयादिभगवद्वायो बोधुगणे: सह राज, बनवदेवव्युत्त्वत्वं शस्त्र निरूपित।, सोपा चंद्रो ज्ञेयादिभिदिपुरुषयान एव तथा, अघो वा तस्मान प्राकान्तस्य यथा। हृदये, यदुपति: कृष्णो भुव्यन्त्रमण्डलो राजते यथा। यदुपति: सर्वस्त्रेय राजते, कृष्ण एवावप्यात्प्रभृतिम् तथापि वृषिणचक्रावृतो वर्गोऽदिते। साशार्य्यान्तर्वेष शोभिते।॥ ४४ ॥

?—प्रकाशित।
व्याख्यार्थ - इस श्लोक में दो प्रकार के चन्द्रमाओं की शोभा का वर्णन किया है। एक की शोभा का आकाश में और एक की शोभा का पृथ्वी पर वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण बिम्ब वाला पूर्णिमा का चन्द्र तारागणों के साथ जैसे आकाश में शोभता है वैसे ही पृथ्वी पर यादों से आवृत श्रीकृष्णचन्द्र शोभते हैं। मूल श्लोक से 'अख्दमण्डल' शब्द से निष्कल्प सम्पूर्ण भगवदीय चन्द्र का वर्णन किया है और 'शशी' शब्द से कलेकवाला लौकिक चन्द्र कहा है। जैसे लौकिक चन्द्र को आकाश में नक्षत्र सुशोभित करते हैं वैसे (ही) भगवदीय चन्द्रमा के लिए स्वामिनीयों के मन नक्षत्र रूप हैं अतः जब स्वामिनीयों उन अपने नक्षत्र रूप मन से, भगवदीय चन्द्र (भगवान् के मुखचन्द्र) का दर्शन करती हैं, तब भगवान् का मन भी स्वामिनीयों में संलग्न होने से सुशोभित बनता है अथवा आगे उनका प्रकट होगा, जैसे हुदय में।

श्लोक में 'व्योमि' पद दिया है जिसका अर्थ है कि यह लौकिक 'चन्द्र' आकाश में शोभता है और 'अलौकिक चन्द्र' (श्रीकृष्ण) भक्तों के हुदयाकाश में प्रकट होकर शोभा देता है।

यद्यपि चलनुसार सर्वत्र अन्य अवतारों में भी शोभा देता है, तो भी यादों के चक्र से आवृत अवतारों साक्षात् भगवान् तो यहाँ ही सुशोभित होते हैं।

आभास - शरदो मासान्तरकृत्यमाहासिलिष्यति,

आभासार्थ - इस श्लोक में शरद ऋतु के द्वितीय मास का कृत्य वर्णन करते हैं।

श्लोक: - आशिलघ्य समशितोष्ण्य प्रसूनवनमालुतम।

जनास्तायं जहुर्गियो न कृष्णहृत्वेतस�:। ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ - जिस (शरद) में पृथ्वी वाले वन की समान उष्ण और शीत युक्त वायु से आलिखन कर, मनुष्यों ने तो अपना ताप मिटा दिया, किन्तु जिनका मन श्रीकृष्ण ने नहीं मिटा, वैसे गोपीजनों का ताप उस वायु का चित्त से स्पर्श न होने से नहीं मिटा।। ॥ ४५ ॥

★ एक चन्द्रमा जो आकाश में स्थित है, द्वितीय चन्द्र (भगवान् ही चन्द्र, अथवा भगवन्-वर्धमान) पृथ्वी पर है।
★ यह भाषार्थ प्रभुवर्गों को 'टिपणि' से लिया है। -अनुवादक

१-आकाश में।
श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - भगवान प्रेमेय अवतार प्रकरण - अध्याय ६

व्याख्यार्थ - शरद प्रीतु के कारण, वन की वायु, गर्मी और ठंडी समान होने से मंद मंद चलती थी, और पुष्पों के समन्ध से वह वायु सुगन्धो युक्त भी हो गई थी। इस प्रकार सर्व गुण युक्त वायु का आलिंधन कर मनुष्यों ने अपने ताप मिटा दिए। यह स्वाभाविक नहीं है, अतः दृश्यता रूप से यह नहीं दिखाई है, किन्तु इससे वायु की होनता प्रकट करते हुए कहते हैं कि गोपीजन का ताप नहीं मिटा, कारण वह उसके चित्र को भगवान ने हरण कर लिया था, अतः वह चित्र भगवान के पास था, जिससे वायु के साथ तो चित्र का आलिंधन न हुआ किन्तु भगवान ने भी उस (चित्र) का आलिंधन नहीं किया था, जिससे गोपीजन का ताप मिटा नहीं, चित्र स्थान पर होना भी ही सच्चे यह हरण किया हुआ होने से, स्थान पर नहीं है, अतः भगवान का भी आश्लेष न हो सका है, ताप मिटकर, सुख चित्र को होता है, इस चित्र का, कुष्ठ के समन्ध वाले देह में स्थित है। अतः गोपीजन के लिए यह आध्यात्मिक सरद सुखदायी नहीं है, आध्यात्मिकी शरद का वर्णन आगे कहते हैं।

आभास - आध्यात्मिकयः प्रसज्जातुप्योगातमरस्याय गाव इति,

आभासार्थ - आध्यात्मिक शरद के प्रसज्ज में उसका अन्य उपयोग (लाभ) इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक: - गावो मृगा: खगा नार्यः पुष्पिण्यःशङ्काधवनूः

अन्वीयमाना: स्ववृषेः फलकृष्णिया इव || ४६ ||

श्लोकार्थ - गावे हरिजयः, पक्षीनां (चिंडियाः) और स्त्रियाः शरद से पुष्प वाली 'ऊतमती' होती हैं तथा पति उनके पीछे लग जाते हैं तब, जैसे ईस्वराधिन रूप कृष्णाओं से फल प्राप्त होता है वैसे ही वे भी फल प्राप्त कर लेती हैं। || ४६ ||

---

1-संज्ञन
श्रीमद्भागवत - (सुबोधिनी) दशम संख्या - समस्त अध्याय

सुबोधिनी - गर्भाधानकालोत्सव वर्षमित्रवित्त्वस्तुः।
गावो मृगाः खगात्मामसदिवेशितः। एव नविः स्वर्यः।
स्यवतः वा ता एव शरद कृतः सुधिप्रयः। अन्तः प्रविशः
शरद ज्ञेयविकारसः कृतः तासामुत्कारसः जातः इत्यः।
अथव्यासः तु नारीणेषु नेत्रिमन्त्रं स्वव्रृतः। स्वपति-भिन्नोऽपभिन्नीयाः।
वनेत्रेण्यायमाः। अथव्यासः तु अभिमतियोजना।

व्याख्याय्य - वर्ण के कारण, पृथ्वी में से बीज उत्पत्ति होते हैं, अतः इससे सिद्ध होता है,
कि यह काल गर्भाधान का है, गाईं, हरिकारों, चिड़ियां ये तामस भेद वाले जन्तुओं की खिड़कियों
है इनके अतिरिक्त खिड़कियों (मनुष्य जाति की हो) भी कहीं हैं, किंतु इस बात को स्पष्ट समझाने
के लिए वे पृथ्वी कहीं हैं, तामस जाति की खिड़कियों ही शरद ऋतु में पुष्पवती (गर्भ धारण योग)
होती हैं जिसका अन्य कोई विषय नहीं है केवल इससे जाना जाता है कि नर (पति) उनके पीछे
लगे रहते हैं, जिससे निश्चय होता है कि शरद ने इनमें प्रवेश किया है। मनुष्यों की खिड़कियों की
रज (पुष्प वा ऋतु) तो चिन्हवाली होने से प्रकट दिखाई देती है।

फल अवश्य होता है इसके लिए दृश्यत देते हैं कि भगवस्मवन्धी क्रियाएँ जैसे अभिलिङ्ग फल को देती ही हैं वैसे ही शरद भी देती हैं, कारण कि, भगवान् के सम्बन्ध होने से शरद
में वे पुष्प प्रकट हुए हैं जैसे क्रिया के फल सिद्ध करने में भगवान् ईश (पति) है वैसे ही वहाँ
'पति' 'ईश' समझना चाहिए। फल अभिलिङ्ग हो वा सहज हो दृश्यत तो अभिलिङ्ग सिद्ध
का है} ॥ ४६ ॥

आधार - जड़मानामुक्तज्ञान स्थायित्वाभासंहोदह्यशत्तितिः।
आधारसार्थ - जड़मानं का वर्णन कर अब स्थायित्व का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - उद्धवत्त वारिजानि सूर्योऽथने कुमुद विना।
राजा तु निर्भया लोकया यथा दस्यूनम विना नृप।} ॥ ४७ ॥

श्लोकार्य्य - हे नृप! जैसे चोरों के अतिरिक्त अन्य सब लोग राजा से (राजा
के होने से) निर्भय होते हैं, वैसे ही सूर्य के उदय होने पर कमोदी के अतिरिक्त अन्य
कमल प्रकुपित हो गए।} ॥ ४७ ॥

1-चाहा हुआ । 2-स्वाभाविक-सरल । 3-चलने फिरने वाले चेतन्य प्राणियों ।
4-जड़-पुप्पादि।
व्याख्यार्थ — सूर्य के उदय होते ही, कुमदिनी के अतिरिक्त अन्य कमल प्रकुपलित होकर अपनी प्रसरणा प्रकट करते हैं, कुमदनी तो समय पर जब चंद्र उदय होता है, तब खिलने लगती है । साल्विक ही साल्विकों के पति की ओर स्वयं खिच जाते हैं, अन्य जो साल्विक नहीं हैं वे खिचते नहीं । यदापि साल्विक सुखदाता है, तो भी वह सुख, साल्विकों के सिवाय अन्यों को नहीं मिलता है, कारण कि अन्यों का आनंद कृतित है । राजा (चेतन) का दृष्टिलेख इसीलिए दिया है कि स्थायियों की भौतिक नेत्रों में भी यों होता है, जैसे कि राजा का उदय होते (राजा का संध्या पर विराज राज्य की वाग्दोर हाथ में लेते) ही सब लोक निर्भय होने के प्रसन्न होते हैं, किन्तु चार निर्भय न होने के कारण, प्रसन्न नहीं होते हैं । श्लोक में महाराजा को ‘नृप’ कह कर यह बताया है कि आपको भी इसमें सहमति है । श्लोक में ‘लोक’ राज्य देने का भाव यह है, कि राजा से सब ‘भूसन’ निर्भय बनते हैं, न कि, केवल (वह स्थान) जहाँ उसका राज्य है वह निर्भय होता है, अतः राजा के कारण शास्त्र में कही भी चोरी नहीं होती है, जिससे सब भूसन निर्भय कहते हैं ॥ ४७ ॥

आभास — एवं लोकिकं सर्वभुवुष्ठा वैदिकमहान पुष्पघिर्षिति,

आभासार्थ — इस प्रकार शास्त्र से हुए लोकिक सर्व गुण आदि का वर्णन कर, अब इस श्लोक में, जो वैदिक गुण हुए उनका वर्णन करते हैं ।

श्लोक: — पुष्पग्रामेश्वरायणैर्दियेश्यं महोत्सवं ।
बभो भू: पवनस्त्यायः कलाभ्यं नितरं हो: ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ — पक्ष हुए धान से समृद्ध भूमि, नगरों तथा गाँवों में होने वाले श्रौत और स्मार्त वजादि तथा लोकिक महोत्सवों से तो शोभा देती (हो) थी किन्तु हरी की ढोंग कलाओं से, विशेष शोभित होने लगी ॥ ४८ ॥
सुबोधिनी — पुस्तिवसतिकाकैन ग्रामा राजस्थान आयोजनी श्रीतानश्रीपीती ग्राम प्रस्तुतित महोत्सव
लोकिकाः, चक्राबर्तकचारणं, पुरुषायत्वितुष्वचारणं
प्रविष्टा आयु गृहीतः, समे: कूला भूषण भोज, तथा
आयुत्त्वलिकाः श्रीभागवत प्रवस्ययथायतिः, पक्ष्यः:
सर्वप्रसादः, अभिस्वादितामाह कलाब्रह्ममिति, गमकुण्डाय्यः
सद्यस्यक्रृष्टाय्यः, भारसन्धि हि ताधेवातिः, विशेषप्राधाः

व्याख्यात्र — सात्त्विक नगर और राजस्थान ग्राम, दोनों में, श्रीत (वैदिक) तथा स्मार्त यज्ञ आदि
तथा लोकिक महोत्सव और कुल धर्म इत्यादि होने वाले सर्व उत्सवों से भूमि सुशोभित होने
लगी। पृथ्वी की शोभा एक प्रकार से नहीं हुई, किन्तु दोनों (आयुत्त्वलिकाः एवं आयुत्त्वविद्वानाः)
प्रकार से होने लगी। चारों तरफ़ धान्य आदि पक जाने से, आयुत्त्वलिकाः शोभा हुई तथा भार
हरण के लिए प्रकट हुए सद्यस्य और श्रीकृष्ण से आयुत्त्वविद्वानाः शोभा हुई। इस प्रकार, केवल
साधारण शोभा कह कर, अब विशेष शोभा का वर्णन करते हैं, कि यह भूमि भगवानः के चरणों
से, उनके प्रभावों से तथा उनकी लोकाः से सम्बन्ध बाली हुई, अतः विशेष सुशोभित होने
लगी।

यह प्रस्तु भूमि का ही है और भगवानः का नाम यहाँ हरि कह कर यह बताया है, कि उस
(भूमि) का ही दुःख हरण करने के लिए आप प्रकट हैं, वह (दुःख हरि) पुश्यायत कह गई है और
भार हरण कार्य सद्यस्य ने कहा है वह (सद्यस्य) उन (पुश्यायत) का कलारूप भी है अतः
इस कला रूप से भी भार हरण (देवता का वध) कर, हरि ने भूमि का दुःख दूर किया है।

श्लोक में दिया हुए ‘हे: कलाध्याम्’ पद से शब्द होती है, कि भगवानः श्रीकृष्ण स्वयं भगवानः
है यहाँ उनकी ‘कला’ कैसे कहा है? इस शब्द को हिन्दी के लिए आचार्य श्री कहते हैं, कि
आपने अपनी चित्र और आनन्द कलाओं (अंशोः) को प्रकट कर, भूमि के दुःख को हरण किया
है अतः कलाध्यां: पद दिया है और भागवत २१७२६ के ‘सितकृष्णकोषः’ कहने का भी यह
भाव है। सत्त्व कला (अंशोः) तो सिद्ध ही है (प्रकट ही है)।

आभास — उपसंहारार्थ शरद: सर्वसाधकत्वमाह वर्णितिः,
आभासार्थ — शरद् के वर्षन का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए इस श्लोक में कहते हैं कि यह (शरद) सब को सिद्ध कर देने चाहती है।

श्लोक: — वणिक्षमनुनपननाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।

वर्षुरुध्र यथा सिद्धा: स्वपिण्डानु काल आगते॥४९॥

श्लोकार्थ — जैसे बहुत वर्ष आने से जिन्होंने संयम कर, अपने को सिद्ध बना लिया है, वे समय आने पर अपनी देहें (देवादि) को प्रास करते हैं, वैसे ही वर्ष के कारण घर में रुके हुए वैश्य, मुनि, राजा और स्नातक शरद का समय होते ही बाहर निकल अपने अर्थों को प्रास हुए॥४९॥

मुब्रोधिनी — वणिक्षमनुनपा वैश्यब्राह्मणश्चैव-श्रेष्ठस्तर निर्मयम प्रणवन् प्रदेशान् प्राप्तवत्। तद्हार्थानु प्रपेदिर इति। अर्थशरदो हि लोके प्रसिद्धे वक्तव्यसनातो वैदिकस्त। स्मार्त इति। अर्थ: तमः प्रदेशान् ततः स्तन्ते ततो रज्जः। अनेन स्थिरानां न सिद्धिनिरं तस्तां कोषिकपञ्चायते वैदिकपञ्चायते चौपक्षाः पूर्वविकृताः। स्नाता: स्नातकस्त। हि तीव्रयासिनसते यथाभिलक्षणताः धर्मार्थकामनाः प्रपेदिरे। प्रत्येकसमुदायाः वा धर्मार्थकामाः उक्ताः। अत्रापि पूर्ववर्त दृष्टान्तायं वर्षुरुध्र। इति। वर्षुरुध्र हिन्दुस्तान किन्तु हिन्दुस्तान किन्तु सिद्धा: पश्चात् प्रासफलाः। स्वपिण्डानु पूर्वविकृतस्त। काल आगते प्रपेदिरे। योगादिनाः बहुकालं स्वविनोदं कृत्ता ततः। सिद्धा: सततः तत्तत्तमन्त्रमुः पुनः काले प्रलये समागमे मोहसाभक्तवत् पुनःस्ताने देवदेवानु गृहिणि स्वपिण्डानु फलविधान वा काल: स्तताः। पूर्वकालस्त। साधवतिमन्नस्त। फलविविधत्वार्थपीतिकां: धातुर्वित्बमेधेन निरूपितात् कालप्राधृष्टस्मयभागतं इति। एवं स्नातकाः। शरदू वर्णिणा॥४९॥

इति श्रीमद् ब्राह्मणमुब्रोधिनो श्रीमद् ब्राह्मणशरदकृति चित्तायाः दशस्तरकथायिविवरणे समाध्यायिविवरणम्॥

व्याख्यार्थ — वैश्य, ब्राह्मण और श्राविष्यों में जो श्रेष्ठ (उद्दीभ समस्त करने के उद्देश्य) थे वे अपने कामों पर जान लगे अर्थार्थ अपने अर्थ प्रास करने का उद्देश्य करने लगे। ‘अर्थ’ शब्द तो लोक में प्रसिद्ध ही है, वह अर्थ वैश्यों के लिए ‘धन’ है, मुनियों के लिये वैदिक अर्थ (धम्म) है और राजा (श्राविष्यों) के लिए वह अर्थ स्मार्त (काम) है। इन तीन प्रकार के अर्थों में जो ‘धन’ अर्थ है वह तमोगुण प्रधान है, वैदिक अर्थ (धम्म) सतोगुणी है और स्मार्त अर्थ ‘काम’ रजोगुणी है। इस प्रकार के धन की प्राप्ति जो घर में बैठे रहते हैं उनको नहीं होती है अतः शरद होते ही वैसे (वैश्य और मुनि) राजा उपकार का कार्य करने लगते हैं। स्नातकों

(1) वैश्य व्याग्रार्थ तथा गंगातान आदि अपने कर्तव्य से राजा का उपकार करते हैं तब राजा प्रजा को संयुक्त कर सकता है।

(2) मुनि लोक धम्म द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर वर्ष आदि करवाते हैं तथा अर्थम् के नाम से गंगारति का नाश करते हैं जिससे प्रजा सुखी हो राजा के गुण गान करती है। इस प्रकार दोनों राजा पर उपकार करते हैं।
ने (तीर्थ वासियों ने) भी अपने वांछित धर्म, अर्थ और काम को पृथक् पृथक् अथवा साथ में सिद्ध किया।

यहाँ भी पहले की भाँति दृश्यत देते हैं-बहुत वर्षों से संयम कर बैठे हुए सिद्धों ने समय आने पर, फल को (प्रथम स्थित देहों को) प्राप्त किया अर्थात्-योग आदि से बहुत समय तक इद्द्रिय प्राण आदि का निरोध करने से सिद्ध हो उस सिद्धनं के फल का अनुभव कर, समय (प्रलय का (फल प्राप्ति का) समय) आने पर फिर उन देह देहों को प्राप्त करते हैं। जब वे योगाभ्यास आदि करते हैं, तब वह काल साधक (फल को सिद्ध करने वाला) काल, आध्यात्मिक काल है, और यह काल, फल काल होने से आध्यात्मिक है। फल को प्रधानता व्यापक करने के लिए ही भगवान् पद्धारे हैं। इस प्रकार लीला के साथ शरद का वर्णन किया। ॥ ४९ ॥

लेखक का आशय-प्रत्येक वस्त्र में जब उसका स्व (अपना) भाव (स्वरूप रूप) पक्रत हो व उसमें ये रस प्राप्त होता है तब ही लीला समापन होती है। भगवान् रस को प्राधुर्भूत करने के लिए ही लीला करते हैं। रस का प्राधुर्भूत काल करता है वह काल भगवान् ही स्थापन कर सकते हैं अतः भगवान् काल को स्थापना के लिए प्रकट है।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वांच्छ के १७३वें अध्याय की श्रीमद्भागवतप्रायचित्तरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के नामस्त्र प्रमेय अवान्त्र प्रकरण के 'वैरम्यो' निरूपण छठे अध्याय के हिंदी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

राग मलार

dेखियों गंवाईन गिरियारी।
सचन पठ चढ़ौं दिसियों धाई चमकति है चपला री।
गजजत मंद मंद धन बसयत मानों में अंध पुलवा री।
जतुना-पुलिन मनोहर सुंदर वृद्धावन सुखारी।
बासीबड़ कुंजनि तहतर मानों होत कुलाहल भारी।
देखियों स्नाप नर कौतुक भूले 'कृष्णदास' बतिहारी।
श्रीमदभागवतमहापुराणम्
श्रीमद्भागवतमहापुराणम् विरचित सुबोधिनी दीक्षा के हिंदी अनुवाद सहित

दशम: स्कन्ध: (पूर्वार्ध: )

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणाम्

‘स्मतोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १८वाँ अध्याय
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २१वाँ अध्याय

कारिका - अष्टादशो गोपिकानामासाक्तिवर्ण्यते स्फुटा ॥
वर्णवर्णकभेदेन गोपानामापि सोच्यते ॥ १ ॥
प्रवेशकृत जने तासामुद्रोधोधय निलपिते ।
तदरुगुणोपरुसस्य हि तदास्तत्त्व भवति हि ॥ २ ॥
आसक्ति: प्रेमपूर्वक प्रेमापि हरिणा कृतम् ॥
उद्वोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचितु ॥ ३ ॥
आसक्त्या वर्णनं तस्माद विद्यान्ते वर्णवर्णस्फुटम् ॥
कालाधिको हरिष्चात्र पुरुषोत्तम एव च ॥ ४ ॥
त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृष्ठकृ पृष्ठकृ ॥ ४ ॥ १ ॥
कारिकार्थ — अठारहवें अध्याय में गोपीजन की आसक्ति प्रकट रूप से वर्णन की जाती है, वर्णनीय वस्तु तथा वर्णन करने वालों के भेद से, गोपीजन की आसक्ति भी कही जाती है। ॥ १ ॥

उनकी (गोपीजन की) आसक्ति को जगाने के लिए भगवान का वृद्धावन में प्रवेश तथा उनके वेणुनाद करने का वर्णन किया गया है। जो भगवान के गुणों में आसक्त है वे ही भगवान में भी आसक्त वाले होते हैं। ॥ २ ॥

प्रेम के अन्तर आसक्ति होती है। वह (प्रेम) हरि ने ही कराया है, और उद्वृथोधन भी हरि ने कराया है, हरि के सिवाय, कोई अन्य उद्वृथोधक नहीं है। ॥ ३ ॥

इस कारण से, पश्चात परम्परक विद्या के वर्णन के अन्तर आसक्ति से उसका स्पष्ट वर्णन किया जाता है। ॥ ३६ ॥

यहाँ जिस हरि का वर्णन है, वह पुरुषोत्तम है, कारण कि काल से अधिक है। ॥ ४ ॥

अतः तेस्त प्रकार की लीला, पृथक् पृथक् कही गई है। ॥ ४३ ॥

श्लोक — गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन तो है ही नहीं?

उत्तर — इस अध्याय में यह कथा है कि गोपीजन ने दिन में भगवान के गुणों को गाते हुए, सारा दिन पूर्ण किया है, जिससे भगवान के गुणों में गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन है, अतः आचार्य श्री, कारिका में कहते हैं, कि 'तदु गुणेपु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि' भगवान

**जागरण**

**संयोजन**

1. भगवान में आसक्त होती है वे ही भगवान के गुणों में आसक्त होते हैं।
के गुणों में जो आसक्त है वे ही भगवान् में आसक्त वाले हैं, अर्थात् गोपीजन भगवान् के गुणों
में आसक्त हैं अतः भगवान् में आसक्त हैं ही। यदि भगवान् में उनकी आसक्ति न होती, तो वे भगवान्
के गुणों का गान ही न करते, जिसमें आसक्ति होती है, उसके ही गुण-गान किए जाते हैं।
परोक्षमें उसके गुणगान के सिवाय, जीवन दुर्भर हो जाता है अथवा रहता ही नहीं है।

जो कि, वर्णन का विषय एक ही भगवान् का चरित्र है, तो भी, जैसे दिन का चरित्र और
रत्रि का चरित्र पृथक् पृथक् होने से, चरित्र के दो भेद हैं, जैसे ही चरित्र के कहने वालों के
भी दो भेद हैं, दिन में चरित्रों का गान करने वाली गोपीजन हैं और रत्रि में चरित्र गान करने
वाले गोपियों हैं, अतः इस भेद के होने से गोपियों की आसक्ति भी कही गई है। गोपियों का जो पाँच
अध्यायों में आसक्ति रूप निरोध प्रभु ने किया है, वह उनका निरोध भी गोपीजन के कार्य को
सिद्धि के लिए ही किया है।

शाश्वत - भगवान् ने वेणु कूजन किया? जब कि आसक्ति का उद्देश्य तो कोकिल की
कुड़ी, ध्वनि से भी हो सकता है?

उत्तर - भगवान् ने केवल, वेणु, ध्वनि से आसक्ति का उद्देश्य नहीं किया है, किन्तु सब
कुछ जो भी लीला के लिए आवश्यक था, वह स्वयं भगवान् ने ही किया है, जैसे कि, आसक्ति
तब होती है जब प्रेम हो, इसलिए भगवान् ने प्रथम 'प्रमाण' प्रकरण की लीलाओं द्वारा 'प्रेम'
प्रकट किया तदनन्तर 'आसक्तिवर्थ 'प्रमेय' प्रकरण की लीलाएँ की, उस आसक्ति को जगाने के
लिए 'वृद्धावन प्रवेश' और 'वेणुकूजन' किया।

वृद्धावन प्रवेश और वेणुकूजन से सिद्ध है कि
भगवान् का इन पर (गोपीजन पर) प्रेम था, वृद्धावन में आप अकेले नहीं पढ़ते हैं किन्तु गोपीजन
और गोपियों के साथ पढ़ते हैं।

मान्यके वह है, कि प्रेम से अती-कृति के कारण लीलार्थ अपक्षित
संगीती है ने ही सिद्ध की है। कोकिल कूजन से वा अन्य के वेणुउद्धार से, इस अती-कृति
आसक्ति का जागरण नहीं हो सकता है, न केवल इतना (ही) किन्तु अन्य साधन से भी, वह
नहीं हो सकता है; अत: श्री हरि ने ही उसका उद्देश्य करने के लिए यह लीला की है।

पुष्पि गांव में, 'प्रभु की प्राण का साधन प्रभु स्वर्य है' अतः 'यमकृष्ण व्रृष्टि तेन लभ्य pleasures' इस
श्रृव्यि के अनुसार प्रभु, कृष्ण पूजनक अथीकार कर, जीव के सर्व साधन, आप सिद्ध करते है।

यदापि गोपीजन दिन को गोकुल में अपने घर में बैठी थी और भगवान् वन में जो जी लीलाएँ
करते थे उन सर्व लीलाओं का गोपीजन भगवान् के उद्देश्य से अनुभव कर सकते थी, जिससे वे लीलाएँ
घर में बैठे बैठे गाया करती थी, एवं गोप भी भगवान् की रत्नी लीलाओं का गान
गोपीजनों के समाक्ष करते थे। यदापि रत्रि लीला रहस्य लीला होने से, शुकदेवजी ने गोपियों की
गाई हुई लीलाओं का समय वर्णन नहीं किया है तो भी, ‘अन्ये तदनुपराणि’ इस श्लोक से गोपियों

---
1-उसकं पीछे 2-बढ़ जाना
ने लीलागान किया है इसका संकेत मिलता है | यद्यपि गोप, बालक थे और बालको का स्वभाव है जो कुछ देखे या सुने उसके जाहैं तहाँ कह देते हैं किन्तु गोप, बालक होते हुए भी इस बात को समझते थे कि यह ‘भगवच्चत्र’ हमारा सर्वस्व धन है, वह जिस किसी को देने योग्य नहीं है अतः इसके योग्य भगवदस्पति, निरुद्द गोपीजनों को ही योग्य समझ, उनके आगे वर्णन किया करते हैं | इससे सिद्ध है कि गोप भी गोपीजनों की भौति आसक्त चित्र वाले निरुद्द भक्ति थे, इसीलिए भगवान् इनको अनतर्देश लीला में ले गए हैं | वहाँ साक्षी रूप से रहकर, लीलाओं का अनुभव कर, आनन्द मगन हुए हैं, अर्थात् पूर्णनन्द प्रास किया है |

‘कुसुमित वनराजी’ श्लोक में अन्य पदार्थ भी आसक्ति के बोधक कहे हैं, तो भी सर्व का वास्तविक उद्देश्यक भगवान् ही है, क्योंकि इनका वर्णन करने वाले, श्री शुकदेवजी स्वयं भगवद् गुणों में आसक्त हैं |

यद्यपि ‘यमेवैष वृषुते तेन लघुः’ इस श्रुति का अक्षरार्थ इतना ही है कि भगवान् जिस जीव को अशिक्त करते हैं उसको वे मिलते हैं, किन्तु इसका गूढ़ पदार्थ स्वार्थों यह है, कि आसक्ति तक जीव पहुँचा हो, तो भी जब तक विद्या (पश्चिमला) दान हरि नहीं करते हैं, तब तक प्रभु के स्वरूप का तथा उनके गुण एवं लीलाओं का ज्ञान नहीं होता है |

भगवान् ने वेणुनाद द्वारा आसक्त गोपीजन में अपने लिए काम (मिलने की कामना) उत्पन्न किया, गोपीजन भी कामवश होने से, भगवान् में अपने लिए काम (मिलने की कामना) का उद्देश्य करार्थ अपनी सखियों को समुख भगवान् के गुणों का गान करना प्रारंभ करने लगी, किन्तु उनकी आसक्ति विद्या रहित थी, अतः प्रभु गुण-गान करते ही लोगों के लाभ से चित्र विकसित हो गया जिससे गुणादिका का गान न कर सकी, तब स्वभक्त जन पश्चिमली पुष्टि, प्रभुने भक्तों का दुःख न सह सकने के कारण शुक्ल द्वारा ‘बहाँपिड़े’ श्लोक से, विद्या का दान उनको किया, तदनत्तर वे विद्या प्रास कर १३ श्लोकों से गुणागान करने में समर्थ हुई ।

प्रभु ने गोपीजन को प्रथम नाद ब्रह्मरूप अमूर्त* विद्या का अनन्त करण में अनुभव करके,

* आज कल के हम वैज्ञानिकों को इस प्रथ्यान देना चाहिए कि विद्या (ज्ञान) के सिवाय प्रभु के स्वरूप, उनके गुण तथा लीलाओं का साधारण (अनुभव) दर्शन नहीं होता है । अतः: हम लोगों को विद्या प्राप्ति के लिए प्रभु कृपा समयदान करनी चाहिए ।

- अनुक्रम

*विद्या के दो रूप हैं, एक अमूर्त और दूसरा मूर्त। अमूर्त विद्या अप्रकट रूप से भीतर अनन्त:करण में अनुभव करती है और मूर्ति विद्या, प्रकट रूप से, अंग संग द्वारा, स्वरूपान्तर का अनुभव करती है ।

- अनुक्रम

1- अभिप्राय । 2- काम ।
उस (अमूर्त) विद्या का जो फल रूप स्वरूप है, उसका भी अनुभव तेरुसी में नाद द्वारा अन्तःकरण में ही करया है, आगे रासोत्सव में व्यापि वैकृष्ण की मूर्तिमति विद्या, स्वरुपानन्द के अनुभव का दान करेगी यह प्रस्तुत ‘फल’ प्रकरण में विशेष स्पष्ट होगा।

‘विद्या’ भी एक भगवत् शक्ति है, अत: श्रुति कहती है ‘विद्याःमृत्मशुन्ते’ विद्या से ही अमूर्त का भोग होता है, अर्थात् इस भगवत् शक्ति रूप विद्या को प्राप्ति विना भगवत् स्वरुपानन्द नहीं मिलती है। अत: यहाँ ब्रजभक्षि को भी विद्या का दान हुआ है। जब पशुपति विद्या (१-वैराग्य, २-सांख्य, ३-योग, ४-तप और ५-भक्ति) प्राप्त हुई तब तत्क्षणं गोपीजन भगवद् गुणगान करने में समर्थ हुई। यह गुणगान साधारण गुणगान नहीं हुआ है, किन्तु फलदान होने का प्रारम्भ हुआ है, अर्थात् यह निष्ठा हो गया, कि इस (गुणगान) से अविलम्बं निष्ठा ही फल को प्राप्त होगी।

यह पशुपति विद्या भी अलौकिक है, उसका दान श्री गोपीजन को हुआ है। इस अलौकिक विद्या का स्वरूप निम्न प्रकार का है, १-वैराग्य-भगवान् के सिवाय सर्व पदार्थ मात्र में अनुप्रगति का अष्टाद अस्तित्व केवल भगवत्स्वरूप में अनुप्रगति-वैराग्य है। २-सांख्य, परम्परा का स्वरूप रसमय है इस ज्ञान को सांख्य कहते हैं। ३-योग-चित्त भगवान् में यो तत्क्षण हो जाए जैसे मनीकर में तागाँ लीन हो जाता है। ४-तप-भगवान् के वियोग से उत्पन्न ताप कलेश का अनुभव ‘तप’ है। ५-भक्ति-चारोः पुरुषार्थों की कामना (को) त्याग भगवान् में पूर्ण आसक्ति ‘भक्ति’ है।

यह पशुपति विद्या पुष्टिमार्गीय है, जिसका दान गोप उपासनियों को हुआ है। इस विद्या के पशुपति पर्व भगवदसंक्ति रूप भक्ति का निरूपण इस अध्याय में हुआ है।

भगवान् ने गीता में, कहा है कि ‘श्याम्भाममभिज्ञाति’ जीव में जैसा हूँ, जो हूँ, जितना हूँ उसको पूर्ण रीति से, भक्ति द्वारा मुझे जान सकता है, अत: गोपीजनों ने विद्या के अन्तिम पर्व पुष्टि-मार्गीय भक्ति द्वारा ‘बहुपार्ज’ श्लोक में वर्णित जिस स्वरूप का अनुभव किया उसका वर्णन ‘अक्षर्वतांफलमिद’ श्लोक में किया है, तदनत्तर गुण-वर्ण प्राप्त हुआ है, इससे सिद्ध है कि गोपीजन का यह वर्णन आसक्ति पूर्वक किया हुआ है, अत: वह साधन रूप होते हुए भी फल रूप ही है। इसलिए कार्यकी से आचार्य श्री ने कहा है कि ‘विद्यान्त वयस्ते स्फूत्म’ फल रूप होने से ही विद्या के अन्त में इसका वर्णन हुआ है।

गोपीजनों ने ‘अक्षर्वतां फलमिद’ इस ३७वें श्लोक से ‘गा गोपकुँ’। इस १९ वें श्लोक तक,

**धर्मं, अर्थं, काम और मोक्ष।**

1-उसी क्षण में। 2-शीघ्र। 3-प्रेम। 4-धारा, दोरा।
तेस्र श्लोकों से भागवान् के गुणों का वर्णन किया है। २०वें श्लोक में श्री शुकेश्वरजी ने इस अध्याय को सम्पूर्ण किया है।

१३ श्लोकों में भगवान् के गुणों का वर्णन इस आश्रय से गोपीजनों ने किया है, कि जिस स्वरूप के गुणों का हम वर्णन करती हैं, वह स्वरूप द्वारस्त्र अशुभ तथा द्वारस्त्रमात्रक काल पुरोप से अति अर्धभाव उतम है। जिसके कहने का भाव यह है, कि यह पुरोपत्तम स्वरूप प्रभु तथा इनके गुण, लीला एवं स्वरूप सब कालान्तर होने से निर्य है और यही 'इन्द्रिय वालों का प्रभु फल' है।

॥ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ॥

आभास - भगवान्लीलार्थ पूर्वधार्मान्ते शरद वर्णिता तलोत्र लीलार्थ भगवान्

आभासार्थ - १३वें अध्याय के अन्त में भगवान् की लीला सामग्री सिद्ध करने वाली शरद ऋत्वु का वर्णन हुआ है। अब इस १८वें अध्याय में भगवान् लीलार्थ वृद्धावन में प्रविष्ट हुए जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उच्चार ॥

श्लोक: - इत्यम् शरस्तं चर्चजलं पवाकरसुगन्धिनिः

न्यविशद्व वायुना वातं सगोगोपालकोनुचुः। ॥ १ ॥

श्लोकार्थ - श्री शुकेश्वरजी कहने लगे, कि इस प्रकार की शरद थी, जिससे (जिस वन का) जल स्वच्छ हो गया था और जिससे कपोलों की सुगंधि से व्यास वायु लग रहा था, वैसे वृद्धावन में, भगवान् ने गो और गोपों के साथ प्रवेश किया।

॥ ॥

निरस्त्रावर्तमान: इत्यम्भूवा या शरद त्य वर्णितं जलं

वास्मेऽ वृद्धावनं दाहासुभस्यो व्यवस्थितिसम्भव्यः। नार्थि

पूर्ववदायित्वकार्यः शारस्वतिभिलाली वक्तव्या, ततः

नायाक्षप्त्यंत्येऽम्यथेहः, तत्रापि गामोगुणभाविका

गोपालोऽस्मातः निम्नम्यलयर्वेन्द्रे वारं: साधिता:।

सम्यं जलास्त्यत्तमेन द्वितिक्यं निर्मयस्मेण च वायोपक्ष

जताक्रीठाद्भिः तु गीत्क्षम्यो शीताभवा, शाला

नायत्मक्ष्यं शीताः-
व्याख्यार्थ - इस प्रकार की शरद ऋषि ने निर्मल जल युक्त हुए चूड़िश्वर में अच्छुत (भगवान) ने प्रवेश किया। इस अध्याय में पहले की भांति ही आधिकृतिक साक्षात् को साथ की हुई लीला कहनी चाहिए। इस लीला में लीला का नायक श्रेष्ठ अत: उनका उत्कृष्ट बताने के लिए (अच्छुत)॥ शब्द दिया है, उस (लीला सामग्री) में भी गौ अनुभव करने वाली है और गोप सेवक है, शक्तियों के निर्मित् के लिए ये देव (गोप) साधक॥ है। रमण, जल में और स्थल में, होता है, अत: रमण दो प्रकार का है। निर्माता में रमण के समय में वायु की आवश्यकता होती है, जल की क्रीड़ा में तो निर्मिता होती है और शैतलता का अभाव होता है। शरद ऋषि के वर्णन से ये दोनों (निर्मिता और शैतला का अभाव) बताए दिये हैं। जैसे कि श्लोक में 'शक्ति-स्वरूप जल' से स्मृत कहा है, कि शरद ने जल को स्वरूप कर दिया है, जिससे यह बता दिया है, कि वैसे स्वरूप जल में शक्ति प्रवेश किया है। श्लोक में विशेष कर 'वन' कर्म नहीं दिया है इससे भी जल में प्रवेश को कहा, समझा जाता है। वन में प्रवेश के समय जो वायु चल रही थी उसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि वह वायु कमलों की सुगन्धि से सुगन्धि शालाएं एवं ठंडी तथा धीमी थी। जितनी क्रीड़ा में अपेक्षा थी उनमें ही सुगन्धि ठंडी तथा धीमी पन धारण की हुई वायु थी। श्लोक में विशेष (वन) शब्द क्यों नहीं कहा? इसके उत्तर में कहते है, कि यहाँ विशेष (वन) से भी विशेषण धर्मों की प्रशान्त है अत: विशेषण यहाँ नहीं कहा है, कारण कि, प्रधान विशेषणों से (वन के गुणों से) स्वतः विशेषण (वन) का ज्ञान भी हो जाता।

†यहाँ 'श्री गोपीजन के साथ' स्मृति न कहकर शक्तियों के साथ लीला करने की कहाँ है, उसका कारण श्री प्रभुकृति दिपणीजी में कहते हैं, कि एक तो जिन अज्ञातीयों को श्री गोपीजन के अन्तर्गत, निवेद्य तथा स्वाभाविक धर्म वाले स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ये (गोपीजन) भी भगवान के समान हो सर्व अन्तर्गत धर्म तथा स्वरूप वाली हैं, इसका ज्ञान नहीं है उसमें भगवद् भोग्य श्री गोपीजन के साथ हुई लीलाओं की गुल रखने के लिए 'शक्ति' शब्द दिया है।

‡स्वरूप की कभी भी किसी प्रकार भी चुति (क्षण-नाश-कमति) नहीं होती है।

§प्रभुत्वण दिपणी में 'साथी' शब्द का भाव बताते हैं कि, जैसे उपनिषद में भगवान को साथी कहा है, वैसे ही यहाँ (इस लीला में) गौप भी साथी है, कारण कि, वैसे स्वार्थ अथवा स्वार्थ बिना फल भोग का दाता तथा अधिकार अनुसार उसमें प्रवृत्त करने वाला, साथी कहा जाता है, वैसे ही यहाँ गोपों में ये लक्षण हैं तथा वे अन्तर्दृष्ट भक्ति हैं अत: इनको (संकुच गोपों को) साथी कहा गया है।

१-वल्लि। २-निर्मित्यन। ३-गाह।
श्रीमद्भागवत - (सुबोधिनी) दशम स्कन्ध - अष्टदश अध्याय

है। 'निः' उपसर्ग देने का यह भाव है कि भगवान् ने केवल आधिपत्यीक (दृश्य) वन में प्रवेश नहीं किया किन्तु आधिदैविकः गुण वन (निकुञ्जोः) में भी प्रवेश किया+। ॥ २ ॥

आभास - प्रवेशमुक्तचा देवतोद्वोधनमाह कुसुमितेति,

आभासार्थ - प्रथम श्लोक में प्रवेश का वर्णन कर अब इस श्लोक में देवता के उद्वोधन का वर्णन करते हैं।

श्लोक: - कुसुमितवनराजिशुद्धिभृज्ञकुलजुगसर: सरिन्महीध्रम् ॥
मधुपतिरवागाहा चार्यन् गा: सहपशुपालबलशचूक्रज वेणुम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ - पूर्ण हुए वन की पड़कितियों से उत्पन्न रस तथा गन्ध के मद से उन्मति हुए भ्रमर तथा पक्षियों के समूह से सेवित, तलाब, नदी और पर्वत वाले वन में प्रवेश कर, गोप तथा बलदेवजी के साथ गौरी को चराते हुए मधुपति भगवान् ने वेणु का कृजन किया। ॥ २ ॥

सुबोधिनी - मधुपतिरवागाहाद्यनः वेणु चुक्रजः
स्नानाभिभिधत: सरस: श्रुताराम्यम् धर्म कुर्वनु क्रियाजाताः
शकितस्यहो देवतोद्वोधनाय वेणानादं कृजवान, उद्वुद्धः
देवता: सामायनिकायं रत्न भवतीति भगवान् मधुपतिधर्म
निविरयति, विश्रावशदोः निरूपयति, कुसुमिताः या वनार्थः
स्त्याभिभयै: शुभिणो मला जाता भूनगा: पक्षीनुष्ठप पराधाम
कृलन्यभावनातैत्रन्यं निश्चित: सरस: महीध्रम्: पर्वताभाग्य यशस्ततवं च च, एवक्षरः, एवाधिधमागाः
तत्त्तान्यपि त्रिविधानुद्वोधितन्तु केवल श्रुताराम्यमेव कृजन कृजवान् । ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ - वसन्त के अधिपति सस्त्रे श्रुताराम्यः ने धर्म* को (गोचरण रूप धर्म को)

*आधिदैविक शब्द 'परेशवाद' से निकुञ्ज प्रवेश बताने के लिए दिया है।
+ जहाँ (निकुञ्जोमें) देवता आकर अपना २ कार्य नैतिक तथा भृज्ञकृति के विलासों से करते हैं।
+ 'लेख'

श्री विकुलेश प्रभुवरण 'धर्म' शब्द का भाव 'टिपण्णीजी' में स्वविश्वास करते हुए कहते हैं कि 'धर्म' सामस्त अथवा परमपरम भेद से 'धर्म', 'अर्थ', 'काम', 'और 'मोक्ष' चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला होता है, जिस जिस स्थान में जैसी २ लीला कार्यों योग होती है वहाँ जाकर वैसी लीलाएँ की जाती है। किसी लोकिक कार्य के सिद्ध करने के बिना, यी ही वन में जाना लोक के विरुद्ध है, अर्थात् वन में किसी कार्य निरङ्करण करने के लिए ही जाना चाहिए, जिसी अपने गुत्तिज कार्य के लिए जाना हो उसका अन्य को ज्ञान हो जाय (पता पड़ जाय) तो उससे श्वासयं (सत्सपना) निकल जाते है तो वह रस विरुद्ध है, अतः भगवान् वन में जिस रसस्य लीला के लिए पाषाणों से उसको तो गुत्तिज रस जैसे उसका सत्सपन बना रहे और गोचरण रूप धर्म को प्रकट दिखाया, जिससे पुरुषार्थ (अपने इच्छात्मक कार्य) को भी सिद्ध की है, अतः वह लीला कार्य न लोक विरुद्ध हुआ तथा न रस विरुद्ध हुआ।
करते हुए देवता के उद्वीधनों के (जागृत करने के) लिए क्रिया और ज्ञानशक्ति के साथ हो वेश्य का जीवन किया। भगवान् को ‘मधुपिता’ इस लिए कहा है कि आप वसन्त के स्वामी होने से, जैसे वसन्त में सर्व प्रकार की सस रामग्री सिद्ध (स्थित) होती है वैसे ही भगवान् में भी सर्व सस रामग्री विद्यमान है अतः आप सस शुद्धात्मा मधुपिता हैं। जिससे उद्वद्ध किए हुए देवताओं को लत होने में किसी प्रकार प्रतिवेदन नहीं हुआ, वे (देवता) जागृत होते ही, रत (क्रीड़ा) होने लगे। इस प्रकार भगवान् का (मधुपितव) सिद्ध कर, अब रस को उद्धीस करने वाले, जो विश्वास है उनका वर्णन करते हैं कि-भ्रमर और पक्षी, वन की पक्कियाँ को खिले हुए पुष्पों वाली देख के तथा उनसे आते हुए रस, वन एवं सुगंधिपुक्त वायु का सेवन कर मत बन गए और उन मत भ्रमर एवं अनेक जाति वाले पक्षियों से नदी, सरोवर तथा पर्वत सेवित हैं। इस प्रकार के समलक्ष्यत रस में प्रवेश कर, वहाँ रहने वाले तीन प्रकार के देवताओं को जगाने के लिए कंवल शूर्कार के लिए ही कुजन किया। । ।

आभासं - एवमुद्भोधनमुक्तमाता ताभि: सह रमणे कामिनीकामोद्भोधकल्वातु कृजितस्य ब्रजस्त्रियोप्युद्धुरुङ्गकामा जातास्ति: कामवशादू भगवद्वद्भोधार्थ स्वसिद्धेऽ: स्वसमानशिलाल्यसनाथस्वदगुणान् वर्णितुमारेभिर इत्याह तद्भ्रजस्त्रिय इति,

आभासार्थं - इस प्रकार उद्वीधन कहकर, यह बताया कि उन देवताओं से एक प्रकार से रमण हुआ जिससे, उस कुजन से कामिनियाँ में कामे उद्धीः हुआ, वह देखकर ब्रजसुद्रियाँ में भी अभिलाषा जगी जिससे (कामवश होने से) वे ब्रज सुद्रियाँ भगवान् में अपने लिए काम पैदा करार्थ, अपने जैसी (समान शील और व्यसन वाली) सखियों के आगे उनके गुणों का वर्णन प्राप्त करने लगी। जिसका वर्णन ‘तद्भ्रजस्त्रिय’ इस निम्न श्लोक में कहते है।

‘उद्वीधन’ का भावार्थ है, शृद्धार रस को जगाना, शृद्धार का अर्थ (भाव-आशाय) है। ‘प्रेम’ ‘रत्न’ उसको (प्रेम को) जगाने के लिए उद्वद्ध प्रेम ही आसक्त कही जाती है।

योजनाकार कहते हैं कि मधुपिता, सदैव ही ‘या सर्वः सर्वशक्तिः’ इस शृद्धि के अनुसार सदैव लीलात्मा ज्ञान शक्ति की साथ में रहते हैं, अतः अब भी क्रिया शक्ति रूप गोपी को (अन्तर्ग्रह कार्य के लिए उनको) साथ में ‘गोपालिणुरुप धर्म’ भी करते हैं, और ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी द्वारा लीला में प्रतिवेदन देतीं का वथ्य एवं भक्ति रक्त करते हैं। (अन्तर्ग्रह लीला में आपको साथ नहीं लेते हैं कारण कि आपका (बलरामजी का) वथ्य अखाराक नहीं)

‘देवताओं’ शब्द से तलाव, सरोवर तथा पर्वतों के समीप रहने वाले ब्रज सुद्रियों समझने चाहिए, अर्थात् ब्रजसुद्रियों में प्रेम को जगाकर उनको आसक्त दृढ़ की।

---

1-वन सुदुरियों । 2-अभिलाषा । 3-उत्पत्ति, पैदा।
श्लोकः — तद्व व्रजस्तिव आशुतोष वेणुगीतं स्परोदयम्।
काशिश्त्य परोक्षं कृष्णस्य स्वसख्यभ्योजनवर्णणं॥ ३ ॥

श्लोकार्थः — र्रज की स्त्रियों ने काम को जगाने वाला वह बंशी का नाद पूर्ण रीति
से सुना। उनमें से कितनी ही गोपीजन श्रीकृष्ण के परोक्ष में अपनी सखियों के आगे
उसका वर्णन करने लगी॥ ३ ॥

सुबोधिनी — आसमनाचुल्लाबिष्किरिकल्यात, अन्यथा
कव्य वनस्थितो वेणुनादो ब्रजस्तिवाभिमाणिकामिकामित श्रृंगेत ?
यथा सर्वे देवा उद्निर्वा एवं स्मरणे, उद्दीपनविवाह—
त्यागाद्यत् तमात् मनोपत्रकार नूर्धिष्ठानात् एव काशिश्त्

c

व्याख्यार्थः — भगवान् ने वेणुनाद वन में किया था और उस समय गोपीजन र्रज में स्थित
धी-वन में हुआ प्रथम वेणु कृजन पश्चात् (नाद)+ र्रज में स्थित गोपीजन × ने ही पूर्ण रीति
से (पूर्ण) सुना, उसका कारण यह है, कि वह कृजन ‘आधिदैविक’ था। यदि वह आधिदैविक
न होता तो, र्रज स्थित गोपीजन ही उसको नहीं सुन सकती थी कितन अन्य भी सुनते ह। इस
नाद ने उद्दीपन विवाह होते से, जैसे सब देवों को जगाया वैसे काम को भी जागृत किया क्योंकि
वह भी देव है। काम के जागृत होने से, काम के कारण कितनी ही (र्रज स्त्रियाँ) मूर्खत हो
गई वे तो अज्ञानवस्था में पड़ी रही और कितनी ही जिनको मूर्ख न हुई, वे भगवान् की कृपा
से (अतः स्थित भगवान् का) सहृद्य प्राप्त करने के अनन्तर कृष्ण के परोक्ष में वहाँ विवाहमें
अपनी सखियों के समक्ष भगवद्गुणगान करने लगी॥ ३ ॥

आभास — तासामपि पुनः कामोद्वृत्ते विशेषतः वर्णनाशकृतजगतित्वाह तद्,
वर्णयुर्मिति।

+ नाद—(लीला विशिष्ट रस स्वरूप को स्यत्र शब्दों में कहने वाला गान)।
× गोपियों ने ही सुना जिसका कारण यह है कि भगवान् ने स्मानिनि वाह स्थापन कर जिन र्रज भक्तों का
अविकार किया है, वे ही भगवान् की वज्ञ से वेणुनाद में स्थित मूर्ख गान कर भगवद्गुण बने अतः उन्होंने
ही सुना अन्यों ने नहीं सुना, नाद आधिदैविक है अतः: अन्य अधिकारी नहीं।

१ मौजूद, स्थित।
आभासार्थ — वे गोपीजन* (जो मूर्च्छत नहीं हुई थी) वे भी भगवान् में काम् जगाने के लिए सखियों के आगे वर्णन करने की इच्छा करने लगी, किन्तु काम के उद्देश्य से वर्णन करने में असमर्थ हुई—जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तद्वर्णयितुमार्थ्यः स्मरत्वः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरणेन विशिष्टसमनसो नृप। II ४।।

श्लोकार्थः — हे नृप! गोपीजन ने वर्णन करना आसम्भ किया, किन्तु भगवान् की लीलाओं का स्पर्श करने से उत्पन्न काम के वेग से व्याकुल हो गई, जिससे वर्णन नहीं कर सकी। II ४।।

सुवोधिनी — वर्णयितुमिति तत् स्वानुपृत्त भवमद्रायः।
वेषुगीता वा वर्णयितु कार्यत: कारणः फलतः स्वरूपकारः।
निरूपयितुमार्थ्यत्वसद्बोध्यतो यो वर्णनारं कृष्णचेष्टितः।
जितेन्द्रभावः। II ४।।

व्याख्यार्थः — गोपीजन, अपने अनुभव किए हुए भगवान् के स्वरूप का अथवा वेणु गीत का कार्य से, कारण से, फल से और स्वरूप से निरूपण करने के लिए प्रस्तुत हुई, किन्तु वर्णन करने के लिए जो कृष्ण की लीलाओं का स्पर्श करने लगी, तो उस स्पर्श से स्मरेः का वेग

* कुछ गोपीजन जो वेणु कृजन से मूर्च्छत हो गई थी श्री श्री (जो मूर्च्छत होने से बची थी) वे वर्णन करने लगी।
परंतु वर्णन प्रारंभ करते हुए जो श्री कृष्ण लीलाओं का स्पर्श हुआ, तो वे भी चित्त के विकृति से गुण-गान न कर सकी किन्तु जब वह श्री कृष्ण शान्त हुआ तब निम्न श्लोकों से चार प्रकार से वेणुगीत का वर्णन करने लगी।

१—वन-द्वारं सखि मृदू सिद्धि कीति — इस श्लोक में कार्य से वर्णन किया।
२—अश्रुऽक्तां फलादिन्तं न परं विद्यां — इस श्लोक में कारण से वर्णन किया।
३—गोप्यः किमास्वरूपं कुस्मां स्मः — इस श्लोक में स्वरूप से वर्णन किया।
४—यागोपकर्मः नन्तोद्धरं वेणु स्मृतः — इस श्लोक में फल से वर्णन किया।

१—प्रेम, काम। २—जग्ने। ३—वैयार। ४—काम।
शीतमुखांति (सुबोधिनी) दशम स्कन्धः - अध्यादेश अध्यायः

सुबोधिनी - वाद्याथौंति कर्णनियो न तु रूपमात्रः, तथा सति रूपं वेंगुनादः; क्रोञ्जा चेति जयं वर्णं स्वद्योऽन्यसमभेः प्रकाशितेच्छवं, एतासु वायुविभद्द वेणोः: रथानूः पूर्णानं वृंदारणं द्रविषादितिसमभेः, स्वरपुरुषादिति उक्ता: क्रोञ्जानं, बहुः मद्यपितां स एवापिंदा: शिशोपुरुषं यथा रथपुष्य:; तुष्मन्यगृहनुकरणात्मकृत, सो चोदुष्म रथ एव तत्तथे भगवतोऽयुरुद्धसामायमेव सुचितं भवे, अस्तु युधिता-शक्तितिभावं, नवदेव वर्षवर्षवानं, ससो हि द्रविषिं 'धर्म सहितं: केवलश्च, केवलो नाताय प्रसिद्धे धर्म सहितं: सम्भोगः, भगवतोऽयुरप्रवयविधयमयं उक्तं नवदेव वर्षविधि, वर: प्रयाग्भोजनः, भगवानस्तु हंदे रिप वर्तते: तातापि नानानिविवधि न तस्माः सुवर्तमिति ज्ञापितः वर्षुः भरण निरूपये, न तु स एव तथा, कर्णनो: कार्यकारकसम् वसय, अनुकुलसमिति, बिब्रह्मिति वा सर्वं, कार्यकारकस्तु शून्यपौरुषोऽवै: शून्यार्थमुन्यायोगवायोगादेश द्विविधः, श्रोऽति तद्वभगव्यासिस्तारे, तत्सो: कार्यकारकस्मर्देश पूर्व निरूपितो रस उच्चारितो भविः, तद्वद्वस्तुस्तो गुण एव रसायनाधित: इति प्रतापमेव वर्णमिति कनककपिलं वासो बिब्रह्मिति, उद्वद्धुः ससो गोपिका वासोः गृहे विद्याकर्मकनक तुल्यता निरूपितः, कनकक्षुस्त कपिलम् पीतमिति, मया हि सा, अतो यत्र वसनपूर्वकेति न स्मार्तसन्तोऽक्तवत तः तेन वसनते पुष्यः ससं कात्मुद्गार्येतुः; ? ततो ज्ञानाचार्याकामाः.

श्लोकः - बहुर्रूपं नवस्वपुः: कर्णयो: कर्णिकारः बिभ्रद्वासः: कनककपिलं वैजयण्तीमालामुः।
रथानुः वेणोराजसुध्या पूर्णान्गोपक्रमे वृंदारणं स्वपदस्यां प्रविष्टा गीतकारिः।

श्लोकार्थः - शिर पर मोर पिन्च का मुकट, कानों में कनेर के पुष्प, श्री अञ्जङ्ग पर सुवर्ण सम पीत पट और कपड़े में वैजयण्ती माला धारण किए नट और वर के समान रूप वाले, अपने अधरामृत से वेणु के छिद्रों को पूर्ण करते हुए गीत कीर्ति (जिनके को कीर्ति का गान हो रहा है वैसे) भगवान् ने गोपों के साथ अपने चरणों के स्पर्श से सुंदर तथा समृद्ध स्थल बने हुए वृंदावन में प्रवेश किया।

"1-व्याकुल:"

- व्याकुल:
व्याख्यार्थ — यहाँ वाक्य के अर्थ का वर्णन करता है क्योंकि उससे रूप, वेशुपाद तथा क्रीड़ा इन तीनों का वर्णन हो जाता है, केवल रूप के वर्णन से तीनों का वर्णन नहीं होगा; तीनों का (रूप, वेशुपाद और लीला का) परस्पर सम्बन्ध होने के कारण वर्णन का यह विशेष प्रकार है। अब वाक्यार्थ का प्रकार कहते हैं—वैसे वसु (श्री अंशकोश) को धारण करते हुए और वेशु के रूपों को भ्रम एवं वृद्धि में प्रविष्ट हुए। यह सम्बन्ध (वाक्यान्वयन—वाक्य का सम्बन्ध) है इस वाक्यार्थ से स्वरूप, गुण और लीला तीनों क्रम से कही।

जिनके श्री अंशकोश का मयूर पिच्छ ही शिरोभूषण है, और जिनका नृत्य भी मयूर का अनुकरण है। मयूर नृत्य तब करता है, जब उसमें सस्पेंड होता है, इससे (मयूर के नृत्य का अनुकरण तथा मयूर पिच्छ की शिर पर धारण करने से) यह बताया कि भगवान् में भी सस्पेंड हुआ है, जिससे भगवान् के स्वरूप का समर करते ही गोपीजन के चित्र आकुल व्याकुल हो गए और वे गुण-गान न कर सकी यह योग ही है। प्रभु का रूप (श्री अंशकोश) दो प्रकार का है,
एक नट के समान और दूसरा चर के समान; कारण कि, आप रस स्वरूप हैं। रस दो प्रकार का होता है; अत: आपका रूप भी दो प्रकार का है। रस के दो प्रकार बताते हैं—१—एक रस ‘केवल’ होता है और दूसरा रस ‘धर्म सहित’ होता है। ‘केवल’ रस, नात्य में होता है उस रस में भोग नहीं होता है, वहाँ नट मात्र। इत्यादि से रस के आनंद का अनुभव करता है, क्योंकि, वहाँ उद्दीपन सामग्री का अभाव होता है। किन्तु ‘धर्म सहित’ रस में, उद्दीपन करने वाली सर्व भोग सामग्री सिद्ध होती है। अत: वहाँ भोग करता है, जिससे रस का अविभाज्य होता है, अर्थात, धर्म सहित रस प्राप्त होता है। अत: ‘केवल’ रस को ‘विप्रयोग’ शृंगार रस कहते हैं और ‘धर्म सहित’ रस को ‘संयोग’ शृंगार रस कहते हैं।

भगवान् चर भी है, नट भी है, अत: आपके श्री अज्ञ में, दोनों रस सदैव स्थित हैं। वर, नृत्त पदार्थ का भोक्ता होता है, यद्यपि भगवान् गोपीजन के हृदय में भी है, तो भी जनिनों के समान उनको हमने से ही सुख की प्राप्ति नहीं हुई, अत: भगवान् ने उन (गोपीजन) को रस दान करने के लिए ‘चणु’ को धारण किया। शरीर धारण करने का भावार्थ यह है, कि जैसे कोई मनुष्य किसी को, कोई पेय। पदार्थ पिलाना चाहता है, तो प्रथम वह पेय किसी पात्र में भरता है उसके द्वारा पीने वालों को पिलाता है अन्यथा (अर्थात् पात्र बिना) वह पेय पदार्थ बह जाता है, इसी प्रकार भगवान् ब्रजजनों को रस पिलाना चाहते थे, अत: रस रूप आप अपने रस रूप का धारन करने के लिए श्रीअज्ञ रूप पात्र बने; उसमें उस रस को धार गोपीजनों को पिलाया, जिससे वह रस इधर-उधर बह नहीं सका। भगवान् ने रस को धारन करने के लिए श्रीअज्ञ रूप पात्र बनाया, उसमें दोनों रस धरे उनको जगाने के लिए आपने दोनों कानों में कनेड के आभूषण पहने, क्योंकि, कनेड के पूरा शृंगार (रस) को जगाने वाले हैं। वैसे उत्तरुक्त (स्वतंत्र रंग हुए) रस को गुस खना चाहिए, क्योंकि गुस्सा ही रस को उत्पत्त करता है। अत: भगवान् ने रस को गुस्सा करने के लिए पीताम्बर धारण किया है, पीताम्बर होते हुए भी रस के जागृत होने से, यदि गोपीजन, उस वक्त की परवाह न करे तो कहते हैं, कि वह पीताम्बर, कनेड़ के समान चमकीले वर्णमाला यामोहक माया का रूप, जिससे गोपीजन उस पीताम्बर को भी जब न देख सकती तो उससे वेष्टित उद्भव रस को कैसे खोल सकेगी।

भगवान् ने रस को गुस्सा करने के लिए वैसा केवल पीताम्बर (ही) धारण नहीं किया था किन्तु उससे भी विरोध आच्छादन के लिए, कोौनिकों वनमाला तथा वैज्ञानिक माया को भी धारण किया था। “वैज्ञानिक” माया के “वै” और “जयन्ति” दो पदों से, यह स्पष्ट होता है, कि जिसने इसको धारण किया, उसकी अवश्य जय होगी। क्योंकि यह माया निर्मच्छ से जय करने वाली

---

उत: तस क्रीडा करते हुए आपने काम पर जय पाई।

अनुवादक

1—केवल, सिरं।
2—वैश्वाओं व संकेतों (इशारे)।
3—शरीर।
4—रस।
5—मुख्य।
6—कृपया हुए।
अब नाम लीला रूप वेणुनाद का वर्णन करते हैं। अर्थात् भगवान् ने जो बंशी बजाकर लीला की है, वह ‘नमोलीला’ है, उसका अब श्लोक के उत्तरार्थ (स्थानु ‘वेणु’:) से वर्णन करते हैं। वेणु के छिद्र सात है, सुधा तीन प्रकार की है, १-देव भोग, २-भगवद् भोग्या और ३-सर्व से अभोगः। (जिसका सब कोई भोग नहीं कर सकता है) १-देवभोग्या सुधा वह है, जिसका भोग देव कर सकते हैं (यहाँ देव शब्द से स्वर्ग में रहने वाले देव नहीं समझने चाहिए, किन्तु ‘देवा: अत्र साधितः’ इस आचार्यश्री की उक्ति के अनुसार जो लीला में गोप, गौ आदि थे वे देव समझने चाहिए) उन देवों के भोग योग्य सुधा को ‘देव भोग्य’ सुधा कहा है।

२-‘भगवद् भोग्या’ सुधा वह है जिस अधर सुधा को भगवान् ‘वेणुनाद’ द्वारा भक्त हदय में (गोपीजन एवं वृद्धावन के नदी पुष्प आदि पदार्थों में) प्रवेश कराके पुनः आप्र (प्रभु) स्वर्य उनके द्वारा पान करते हैं वह ‘भगवद्भोग्या’ सुधा है। ३-‘सर्वभोग्या’ सुधा वह है जो द्रव पदार्थ के समान सर्वत्र प्रसरण’ करती है, यह सुधा द्रवावत्सलक प्रभु का स्वरूप है इसका प्रवेश कर्ण द्वारा सीधा हदय में होकर सर्व इन्द्रियों में प्रसरता है।

इस त्रिविध सुधा को ‘सुधा’ इसलिए कहते हैं कि वह प्रभु ने अपने लोपात्मक अधर में स्थापित की है। अतः यह सुधा सब सुधाओं से उत्तम है, इस सर्वोच्चीतिः सुधा का साक्षात् अनुभव उद्देश्य से (मुख द्वारा) नहीं होता है किन्तु कर्ण द्वारा पान होता है। वह सुधा कर्ण द्वारा हदय में पहुँच कर सर्व इन्द्रियादि में फैलकर सब को भगवदीय बना देती है। वह प्रकट द्रवीभूत सुधा, ब्रह्मान्न द्वारा भी अधिक आनन्द रूप है तथा आनन्द की सामूहिक है। वह किसी प्रकार भी स्वतः साधित रूप नहीं होती है। अतः प्रभु ने इसको अमूर्तः होने से, नाद ब्रह्म में मिलाने के लिए नाद को उत्पन्न करने वाले वेणु के छिद्रों में प्रवेश किया। प्रभु ने वेणु में भरा तो सही, किन्तु उस (वेणु) के स्पर्श किये बिना ही नाद के साथ मिल कर सीधी भक्तों के कर्ण द्वारा उनको हदय में प्रवेश करती है। इसके (प्रवेश होने के) पश्चात् गोपीजन निष्काम हो, भगवद्गुणान्न करने में समर्थ होती है। वर्णन करने के समय, वह सुधा मुख में आकर, मुख को भी भोग योग्य बना देती है। जब तक रस के पूर से, वह अंश भीतर प्रवेश नहीं करता है, तब तक उस भोग की साक्षात् योग्यता नहीं होती है। इसलिए ही गोपीजन का यह गुण वर्णन है। इस प्रकार रस के प्रवेश होने से, निरेख पिछल होता है। इस कारण से, गोप तथा भोग्य गोपीजन से भिन्न अन्य सर्वोत्तम रस अतिशय अघोर् है। यह ही कारण है, कि जिससे निरेख का भक्ति के पश्चात्, निरुपन किया है। इस सृष्टि में (लीला रूपी में) उत्पन्न जीवों को यहाँ तक ही इस प्रकार का उत्कृष्ट भोग प्राप्त होता है। अतः यह भोग की चर्मावर्त्स है, उसके पश्चात् भगवान् मोक्ष और अपना

---

१-जगाना। २-बल के दंडना। ३-शोभा उत्पन्न करने वाला। ४-फैलाव।

५-सब से उत्तम। ६-दात्वीय पूर्त। ७-बहुत कम। ८-अन्तिम सीमा।
प्राति रूप, वहाँ जैसी स्थिति, उनकी कर देते हैं, जो यह न करें तो उस सृष्टि का प्राकट्व वृथा हो जाए।

लक्ष्मी की भाषित यह मुख्य रस भोग, तब प्रास प्राता है, जब ब्रह्मानंद (आध्यात्मिक) का भाव उद्भव होते और पत्ता तह पुनः आध्यात्मिक होते जब तक यह भाव प्रास नहीं होता है, तब तक, मुख्य रस भोग की प्राति नहीं होती है। लक्ष्मी के अंशों को तो, (वह रस) क्रमशः प्रास होता है, इसलिए कहते हैं कि ‘निरोध’ महाकल है। अर्थात् निरोध से जिस फल की प्राति होती है वह फल महानः है। अतः इस प्रकरण में सिंहों का वर्ण शुकदेवजी ने अन्त में किया है। इस लीला में, प्रथम भगवान् भोक्ता बनते हैं। जब भगवान् भोग कर लेते हैं, तदन्तर भगवान् भोग बनते हैं। गोपियाँ भोक्ता बनती हैं, जिससे शुकदेवजी ने मुख्य रूप से, सिंहों का वर्णन किया है, इसलिए ही ‘अनिकुमार’ लोक रूप हुए हैं। पुरुषोत्तम का कोई अन्य पुरुष भोग नहीं कर सकता है और न स्वयं अपना भोग कर सकते हैं। किन्तु रसू मूर्ति का जानकर उसके पास में नहीं रस की प्राति होती है, इस कारण से ही, भगवान् ने ज्ञान के उपदेश का अभिविनेश किया है। यह उपदेश मुख्य फल की प्रासित के लिए अध्यात्मि दुःख दूर करने के लिए किया है। इसी वास्ते आगे आध्यात्मिक सी (काल्याणी) की प्रार्थना करें। अतः रूप से वश कर, अध्यात्म तो पिलाकर, स्वच्छन्दता सिद्ध करते हैं।

श्लोक में कहे हुए ‘गौपवृद्:’ पद से भगवान् की स्वच्छन्दता बताई है। सर्व कार्य कर (सब लीला सामग्री आदि की सिद्ध कर) गौरा को अपने साथ लेकर बृद्ध (श्री) के छया में प्रवेश किया।

जगत् में तो भक्ति की स्थापना अभी की नहीं है तो कृतकृत्यां कैसे हुई? इस श्रद्धा को निवारण करने के लिए कहते हैं, कि ब्रह्मण ने अपने भक्ति रूप चरणों से स्रगण कर, भक्ति की स्थापना की है तथा गौरव की साथ लेकर ब्रह्मण की, जिससे धर्म की स्थापना की है, आपकी कीर्ति का गान हो रहा है जिनसे बाकी बचे हुए पुरुषार्थ की भी स्थापना की है।

‘कृष्ण’ पद के अर्थ का विवरण यहाँ यह किया है, कि वह ‘पुष्पि मार्ग’ में कृष्ण है, अर्थात् जिसमें प्रकट पुरुष भाव है और गुरु भाव है ऐसा जो ‘रस’ स्वरूप प्रविष्ट है वह ‘कृष्ण’ है जिसका भीतरी भाव यह है कि रस शाख में जो ‘श्री भाव’ की ही परमाणु स्वरूप कहा है वह परमाणु स्वरूप ‘कृष्ण’ है। ॥ ५ ॥

---

*एकादश स्कन्ध में उद्वैजी को ज्ञानोपदेश देकर वेसार करने का आप्रविष्ट किया है।
*पुरुष गौरको साथ ले, लीलाथं की के बन में प्रवेश कर स्वच्छन्द विहार करना, जिससे भगवान् की स्वच्छन्दता प्रकट होती है नदालय में यों न कर सकते थे।

1-निरंधेक, क्रेस्याय्दा । 2-ब्रह्म श्रेष् । 3-आग्रह । 4-मनोरथ की सफलता ।
अभास — अतः सर्वभूतसर्पकृतिः वेणुनाद एव मुख्य इति तमेव वर्णयितुमारेभिरेः गोप्य इत्याहैति वेणुयभिरमि,

आभासार्थ — इस श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि ब्रज की स्त्रियाँ वेणु स्वरं सुनकर उसका ही वर्णन करने लगी, कारण कि, अन्य सर्व पुरुषार्थ नाद के आगे गौ इति है।

श्लोक: — इति वेणुयभिः राजन् सर्वभूतसमोऽहरम्।
श्रुतच व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णायन्त्योंभिरेभिरेः। ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — हे राजन्! सर्व जीवों के मन को हरन करने वाला वेणुमीत सुनकर, सब ब्रज की स्त्रियाँ उसका वर्णन करती हुई चारों ओर रमण करने लगीं। ॥ ६ ॥

सुभोदिनी — इति इति वेणुयभिः भवणिः च वेणुयभिः भवणिः पारोभिः भवसत्माः। तत्र प्रथमभवणे वर्णनार्थ भवने च सादं श्रवणेन भवति। अमुना प्रवर्णानि वेणुयभिः न तू केवले, राजस्थितसङ्गोंबनन्ते तदसार्थभवसत्माः। अनेनापि स्पष्टतया नावक इति जाप्तिः, तत् तत् कथं प्रवर्णितस्याभिकृतं प्रमेयसङ्गोंबनन्ते भविष्याय स्वयं वर्णनार्थमोऽहरमिः सर्वभूतसमोऽहरमिः। अतः सम्यक् श्रुतच व्रजस्त्रियेर्मिः। ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — सर्व पुरुषार्थोऽयं यह श्रेष्ठ है, इस कारण से, वेणु र्य का वर्णन करने के लिए ही, उसको श्रवण किया, पश्चात् वर्णन करने लगी। गोपीजन जिसका वर्णन करने लगी, वह दूसरे श्लोक में कहा हुआ वेणु र्य है, प्रथम र्लोक में कहे हुए, वेणुनाद और दूसरे श्लोक में कहे हुए वेणु र्य में भेद है। पहला 'नाद' केवल (अधर सुधा से मिला हुआ नहीं था) और दूसरे श्लोक में कहा हुआ 'र्य' अधर सुधा से सम्पर्कित था। 'र्य' शब्द का भावार्थ यह है, कि 'र' अपने बीज होने से 'विश्वागनि' प्रकट करता है, और 'व' अनूत्तर बीज होने से विश्व को शांत कर आनंदोपतित करता है। अतः प्रथम केवल नाद श्रवण से उत्पन्न विश्वागनि से उदय हुए काम के कारण मन विखित हुआ, जिससे वर्णन न कर सकी, अब सुधा मिश्रित र्य ने कार्य द्वारा हृदय में प्रवेश कर कामाग्नि शांत की, तब सच्चे हो, इस (वेणु र्य) को ही मुख्य समझ वर्णन करने लगी। परीक्षितू को हे राजन्! ये सम्बोधन कर यह बताया, कि आप राजधर्म निष्ठा होने से, इस र्य के भाव को नहीं समझ सकते हो। किन्तु फिर भी, आप (राजा) को इस चरित्र
के सुनने की अभिलापा इसलिए हुई है, कि यह ‘वेणु रव’ सर्व प्राणी मात्र के मन को अपनी
तरफ खौंचने वाला है, अत: यह अपने प्रमेय बल से, सब की प्रवृत्ति करता है। इसलिए गोपीजन
भी, भली भूति श्रवण कर, उसमें सर्व प्रकार समान करने लगे। गोपीजन ब्रज की स्रिया है,
अत: उनके दिन में घर का कोई काम नहीं रहता है, कारण कि, उनके पति प्रात: गो चारण
के लिए चले जाते हैं, जिससे वे सब भी काम काज से धरात: ही निहट जाती है, फिर जब
गोप, शाम को घर लौटे, तब तक गोपीजन को कोई काम नहीं होता है, इस कारण से, वे समस्त
दिन वेणु रव का वर्णन करती हुई, आगे पीछे चारों ओर से उसमें ही समान करती थी। दृ:ख
रूप संसार को भूलकर उस परमानन्द में विलासः करती रहती थी। ॥ ६ ॥

आभास — अनुवर्णनमेवाहाक्षणवतामिति त्रयोदशभि:।

आभासार्थ — अब गोपीजन १३ श्लोकों से 'वेणु रव' का वर्णन करती है। उसका क्रमशः
भाव कारिकाओं द्वारा समझाते हैं।

कारिका — रसद्यार्थ द्वितय वेणुपूरणमेकत:।
स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्रापि तथापर:। ॥ १ ॥
चतुर्भि: पीठकैवं स्थात् षड्धिभिर्वर्णोस्वव वादनम्।
द्वार्थ्या भवते: प्रतिश्व च दौष्ट: स्याद् वर्णनेवथा। ॥ २ ॥
वेपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात् तु दूषणम्। ॥ २॥ ॥

कारिकार्थ — सातवें श्लोक से वर्णन का प्रारम्भ होता है। अत: पहले, दो श्लोकों
(७–८) में संयोग तथा विप्रयोग रस का वर्णन किया है। पश्चात् एक श्लोक (९) में वेणु
के पूरण (भरने की क्रिया) का वर्णन, तथा दूसरे एक (१०) में स्वच्छन्दता से चरणों के
गमन का हेतु कहा है। इस प्रकार इन चार श्लोकों से पीठिका कहीं (वर्णन की)। पश्चात्
छ (११ से १६) श्लोकों से वेणु वादन से जो कुछ नाम लीला का आनन्द जिन जिन को
हुआ उनका वर्णन है। पीछे दो (१७, १८) श्लोकों से भक्ति की स्थापना का वर्णन है, यदि
भक्ति की स्थापना नहीं की जाओ तो दौष्ट हो। उस (दौष्ट) का समाधान विपरीत तरह
किया है नहीं तो दूषण की प्राप्ति हो जाए। ॥ २॥ ॥

== १-श्रुगार चेतन:हाव भाव ==
व्याख्या - इन कारकों में पहले यह बताया है कि, किन किन श्लोकों में किस किस प्रकार की लीला हुई है और अन्त में भक्ति की स्थापना दोष निवारण के लिए की गई है। कारण कि, जो कार्य लोक में 'दूषण' देखने में आता है, वह यहीं भक्ति मार्ग में भूमिका है। यही भक्ति मार्ग में विशेषता है। भक्ति रस में यह बल है कि जड़ को चेतन बना देने का जड़ वन देने जैसे वेंथु रक्ष श्रवण (पान) से चेतन निद्यां जड़ हो गई और जड़ पर्वत चेतन हो गए।

भगवान् किस्म भूमिका है, उनका संबंध वचनसे हुआ, तथा घन होते जलन का धरती भी भक्ति बन गई, जिससे अयोग्य होते हुए भी घोषणा बन गई। भक्ति होने के कारण, उनका उच्च कोट हुई, अतः उनके संग से जो दोष भगवान् में दिखाता है वह 'भक्ति स्थापना' कर दिखाता है निवृत्त हो गया। भगवान् को लीला लोक से विषयत है, अतः भगवान् ने वन में गोष्ठियों में साथ, गृहों को लेकर, बंशी बजाते हुए वन में जब अटन किया तब समस्त वन, वनस्थ समशुद्ध शुद्ध होकर भक्ति रस बाले हो गए।

ये पुलिन्दियाँ भी गोस्वामीं परवर्त, जो कि हरिदासों में स्पष्ट है उनके संग से भगवाचरण संह को प्राप्त हो उत्तम बनी हैं। तत्यत्व यह है कि भक्ति मार्ग (अनुग्रह मार्ग) सर्व मार्गों से उच्चक्षेत्र है। अतः इसमें लोकस्थ दृष्टि से जो दोष दीखते हैं वे दोष नहीं है, कारण कि, भक्ति में यह शब्द है जो दोषों को नष्ट कर गुण प्रकट कर देती है। इसलिए भक्ति मार्ग की स्थापना हुई है।

आभास - तत्र प्रथमं यद्र वर्षिन्तिषुकाशं तत्राशकको शुकेन यद्र वर्णितं चतुर्भूषतं
वर्ण्यत्ति, तत्र प्रथमं स्वरूपं रसात्मकं भगवानं वर्षिन्त्यक्ष्यवतात्मिति।

आभासार्थ - गोपीजन जिस भगवद् स्वरूपादि के वर्णनार्थ प्रथम उद्दाहरण हुई थी, किन्तु का वेग से विशिष्ट हो वर्णन न कर सकि। इससे वह वर्णन 'श्री शुकदेवजी' ने 'बहापीड़' श्लोक में कर दिया। अब गोपीजन व्याकरण यह होकर, साकींवानी आने से, जो शुकदेवजी ने उद (बहापीड़) श्लोक में वर्णन किया था उसका क्रमशः चार श्लोकों में वर्णन करती है। उन प्रथम, स्वरूप से स्वात्मकः भगवान् का वर्णन 'अश्विनातः फलमिद्द' श्लोक में करती हैं।

॥ गोप्य ऊँचुः ॥

श्लोक: - अश्विनातः फलमिद्द न परं विदामः सङ्ख्यः पशुनु निवेशयातोर्वशयः। 
वकं व्रजेष्टिषुशुकदेवजीं जुः येवर्व नियोगमनुरक्तकास्मिनम् ॥ ७
श्लोकार्थः — गोपीजन ने कहा कि, हे सखिया! वेषुनाद करते हुए तथा बंशी बजाते हुए एवं स्नेह भरे कदाक्ष चलाते हुए मित्रों के द्वारा पशुओं को वन में ले जाने वाले ब्रजराजजी के पुत्रों के मुख का सेवन तथा पान ही इद्द्रिय वाले अथवा नेत्र वालों का फल है किन्तु ‘मोक्ष’ फल नहीं है इस प्रकार हम जानती है।

धर्माभिषेक — अक्ष्यान्ततामिश्रित्यवतं चशुष्पारं वा, इद्दमिति स्वह्रदेवं मनोरथप्रकरोण प्रतिभात्,

व्याख्यार्थः — ‘अक्ष्यान्तता’ एकादश इद्द्रिय वालों का तथा नेत्र वालों का यह जो गोपीजन के हद्द में मनोरथ रूप से भास्मान हो रहा है वह प्रभु स्वरूप ही हो फल है।

कारिका — सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च। 3।
अआश्लेषः सेवनं चापिः स्पष्टेश्वरपिः तथाविधः।
अधरामृतपानं च भोगो सेरोट्चमस्तथा। 4।
तत्कृतजितानं श्रवणमानाध्राणं चापिः सर्वं।
तद्विनिर्तितिनियमें तदद्विनं सदा। 5।
तद्द्रियवतं फलं मोक्षोपि नान्यथा।
यथा यथान्तरे नियता निःश्चिमनिन्यथाः। 6।
एवं मोक्षोपिनिद्रियादिक्यातानं सर्वित्या न हि।
बाधकानं परित्यागे साधकानं न तद् भवेत्। 7।

कारिकार्थः — नेत्र अथवा इद्द्रियधारियों का वह स्वरूप ही हो फल है, क्योंकि इस स्वरूप से वारालाप, दर्शन, आश्लेषः सेवा, स्पर्श, अधरामृत का पान, भोग, पुलकता, भगवान के किये हुए कूजन का श्रवण, श्री अद्र की सुगन्धि, नित्य प्रभु के निकट जाना, सदा इस प्रकार की भावना, आदि होती है अतः यह स्वरूप ही इद्द्रियधारियों का मोक्ष फल है अन्य प्रकार का जो ‘मोक्ष’ है वह फल नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार में स्थिति नेत्रों का फल नहीं है, अर्थात् नेत्रों का होना सफल तब होता है, जब प्रकाश हो जिसमें सर्व प्रकार की कृति की जा सके अन्यथा (अन्धकार होना) नेत्रों की निष्ठालता है। इसी प्रकार इद्द्रियधारियों की

+श्लोक में ‘इद्द’ पद से समुख उपस्थित और जो हद्द में मनोरथ से भास्मान है वही स्वरूप ’फल’ है।

1-परस्पर मिलन। 2-रेमें (रंगदो) का खाड़ा हो जाना।
इन्द्रियाँ तब फलवती होती है, जब वे इन्द्रियाँ समस्या इस वपुधारी स्वरूप में स्वरूप प्रकाश के चेष्टाएँ करती हैं अन्यथा नहीं, अतः इन्द्रियाँ वालों का ‘यह’ वपुधारी स्वरूप ही फल है जिनको साधारण जन ‘मोक्ष’ कहते हैं, जिससे स्वरूप इन्द्रियाँ निर्वक हो जाती हैं, जब ‘मोक्ष’ इन्द्रियाँ वालों के लिए मोक्ष नहीं है। बाधकों को परिचाल कर, साधकों के प्रस्ति से वंश मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, अतः मोक्ष फल नहीं है।

जिन इन्द्रियाँवालों ने भगवानु के सिवाय अन्य स्वरूप को बाधक (आनन्द में रूकावट) समझ उनका त्याग किया है, वे तो इस स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष फल समझते हैं, कारण कि, उनकी इन्द्रियाँ अलौकिक होने से नित्य है और उनके समस्या प्रभु का वपु भी अलौकिक होने से नित्य है, अतः वे भक्त आनन्दप्रभु वपु का अलौकिक इन्द्रियों से रस लेने को ही मोक्ष फल समझते हैं उनके लिए यही फल मोक्ष है, शेष, जो इस फल के अधिकारी नहीं है जिनका अन्तःकरण आदि का हरण हो गया है, वे उस ‘अण्वीकार’ (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं और उसको फल समझते हैं।

श्री सुबोधिनी की हिंदी टीका - तामस प्रकाश 'प्रमेय' अवात्त प्रकाश - अध्याय ५
व्याख्यार्थ - गोपीजन कहती है कि हम इस फल से उतम फल अन्य (मोक्ष) नहीं समझती हैं, ‘आत्मनाबादात् न पर’ इस श्रृति में जब आत्म रूप के लाभ को ‘पर’ कहा गया है, तब आप कैसे कहती हो कि अन्य (आत्माभ) उत्तम नहीं है, इसके उत्तर में गोपीजन श्लोक में ‘विदामः’ पद कह कर कहती हैं, कि हम भी उपनिषदः रूपा हैं अतः इस श्रृति के तत्त्व को हम ही जानती हैं। श्रृतियों अनुभव के विश्व का कुछ भी नहीं कहने जिसका अनुभव मे न आ सके, अर्थात् श्रृतियों कहा कही जो अनुभव से सिद्ध हो। यो कहने का तात्पर्य यह है, कि उन्होंने रोचक है, उनका फल मोक्ष है। जो इन्द्रिय बाले है उनका फल ‘यह’ रस स्वरूप है। जो श्रुति रूप गोपीजन यो कह सकते हैं वे अपने इस सिद्धांत के लिए अन्य उपनिषदः अपनी सांख्यकीय से सम्बन्ध लेते हैं हे सभी ! इस सम्बोधन से यह बताया कि, अन्य गोपीजन भी हमंगा समान शीत एवं व्यसन बाले हैं, अतः वे भी उपनिषदः ही हैं, अतः उनकी सम्पत्ति भी प्रमाण है। इस प्रकार का अनुभव किस्ते गोपीजन को ही होता है, शेष साधारण गोपीजनों को जो अनुभव होता है यह कहते हैं कि नेत्रार्थियों का यह ही फल है। ‘अश्चर्यता’ पद के दो अर्थ होते हैं एक ‘इन्द्रिय बाले’ दूसरा ‘नेत्र बाले’ अतः जो जैसी अधिकारिणी थे उनको वैसा ही फल मिला। जो उत्तम अधिकारिणियों थे, उन्होंने रवि इन्द्रियों से उस स्वरूप का आनन्द प्राप्त किया, जो उत्तम नहीं थे उन्होंने केवल नेत्रों से दर्शन का ही आनन्द लूटा। अतः दोनों प्रकार का गोपीजन ने इस स्वरूप को ही प्राप्त फल समझा।

जो भगवान् राम कृष्ण, मित्रों के साथ गौरी के पीछे आते थे और साथ जन्मों को भी बन में प्रवेश करते थे उनके एक ही मुखार्विन्द को जिन्होंने पली भूल पान किया है उन इन्द्रियधारी वा नेत्रार्थियों का यह ही फल है, ‘वा’ शब्द वह समझने के लिए दिया है कि सकल इन्द्रियों को प्रभु में जोड़ देने से केवल नेत्रों से दर्शन करना यह फल गौर है, अर्थात् जिन्होंने केवल नेत्रों से मुखार्विन्द का ही दर्शन कर उसके ही प्राप्त फल समझा वह फल ‘गौर’ है। मुख्य फल सब इन्द्रियों से उस रस का अनुभव करता है। भगवान् अपने समान आयु बाले मित्रों गोपीं के साथ उन गोपीं को भी बन में प्रवेश करते है जो इस रस को नहीं जानते हैं। अर्थात् जो पशु समान अत्य हैं, भगवान् यो इसलिए कहते हैं कि जो निर्गुणः अवस्था बाले नहीं है उनकी सात्त्विक अवस्था में ही स्थिति करानी योग्य है, नहीं तो वे अनुभवकर।
अनन्तिकारी अन्तरंग लीला देख भगवान् तथा गोपीजन में दोषारोपण करते अतः उनको केवल वन
(आधिनवित्त वन) तक ही प्रवेश कराया है। और निरुपावस्था वाले वयस्क गोपों को आधिनवित्त वन तक
(निकुञ्जादि में) ले गए हैं। भगवान् की लीला में काल निमित्त है, गोप तथा लीला का आधार,
जो भगवान् का प्रकटत्व है वहां ही निमित्त है, इसी कारण से, समान अवस्था वाले गोप मित्र हैं। अतः
भगवान् उनके द्वारा पशुओं को वन में प्रवेश कराते हैं अथवा जो गोप समान आयु वाले हैं उनके साथ
भगवान् गोप तथा गोलों को वन में प्रवेश करते हैं, अथवा वयस्कों का भगवान् के साथ सदैव सहभाग
है। भगवान् वयस्कों को सदैव साथ में इसलिए रखते हैं कि कदाचित् अन्य गोप कहें कि ‘गौ दूर’
चली गई हैं हम थक गए हैं तो उस कार्य करने के लिए वयस्कों को नियुक्त कर दे।

शरीक में मुख के लिए ‘बक्स’ एक वचन दिया है और यह मुख किसका है वहाँ ‘ब्रजेशसुत्त्रा’:।
राम और कृष्ण दोनों का एक मुख कहा है तथा ‘राम’ को भी ब्रजेश (श्री नन्दरायजी) का पुत्र कहा
है, इसको स्पष्ट समझाने के लिए कहते हैं कि, जिस मुखार्विन्द को छल्ला द्वारा गोपीजनों ने अन्तःकरण
में प्रवेश कराया है वह मुखार्विन्द भगवान् (कृष्ण) का ही है, अतः वह मुख फल रूप है, आविष्कर
स्वरूप बलभद्रजी का ‘मुख’ स्पष्ट नहीं है, व्यूहवा, वह भगवान् के मुख में निरहेज है अतः शरीक
में ‘मुख’ एक वचन दिया है, जिससे दोनों स्वरूपों का यही ‘मुख’ है यह उक्ति भी सत्य है, तथा
‘राम’ ब्रजेश का पुत्र नहीं है तो भी यहाँ ब्रजेश कहा है उसका कारण यह है कि उस समय भगवान्
‘राम’ स्वरूप में आविष्कर थे। अतः राम को भी ‘ब्रजेश’ कहना अस्तित्व नहीं।

जो भक्त, केवल भगवान् के स्वरूप के स्वाभिःलिपि अनन्त उपासक है, तो तो भगवान् के
मुखार्विन्द के सिवाय अन्य मुखार्विन्द के स्वरूप स्वन में भी केवल भावना भी, नहीं करते
है, तो वे भगवान् के मुख के सिवाय अन्य मुख के दर्शन को फलरूप कैसे मानेंगे? अतः
यहाँ ब्रजेश सुत्त्र: मुख एक वचन देकर यह स्पष्ट किया है कि यह ‘मुख’ भगवान् कृष्ण का
ही है जिसको गोपीजन ‘फल’ रूप मानते हैं।

भगवान् का श्री मुख उस समय वेशुवादन में रत् था, अर्थात् भगवान् उस समय बंधी बजा
रहे थे, अतः जो गीत रस के अभिज्ञ भक्त थे वे वेचुवाद के श्रवणार्थ भगवान् के मुखार्विन्द
को देखते थे, वेचुवाद का श्रवण कर जिन्होंने उसका केवल श्रवण रूप सेवन किया, और जिन्होंने
पान किया (अन्तःकरण में प्रवेश किया) उन दोनों को पृथक् पृथक् लाभ (फल) मिले।

श्रवण करने वालों को वह ‘मनोहर’ है वैसा ज्ञात हुआ, जिससे उन्होंने केवल श्रवण ही
किया। अन्यों ने पान कर, उसको शिक्षा के लिए अन्तःकरण में भरा, कारण कि, उनकी भावना

---
1-साध में रहते है।  2-मुकर्ष कर दे, लगा देवे।  3-छिपा हुआ।
4-लगा हुआ।  5-जानने वाले।
यह था, कि हम भी इस नाद गान को सीखकर कभी भगवान् की भाँति गान करेंगे।

कितनी ही गोपीजन काम के सम्बन्ध से भी भजन कर रहे हैं, वह पाश्चिम है, यह भजन श्लोक में ‘अनुसन्धान कदाचित्मोक्षम’ पद से कहा है, अर्थात् भगवान् के जिस मुखविन्द पर अनुसन्धान युक्त प्रेमी भक्तों के कदाचित्मोक्ष मात्र का पात होता है, वह मुख चक्षु वालों का फल है।

इस प्रकार इस श्लोक में गोपीजन के निर्गुण तथा सगुण भेद कहे हैं। निर्गुण भक्त वे हैं, जो सर्व ११ इन्द्रियों से भगवद्वस्त्रांलां का भोग ही फल मानते हैं, और सगुण भक्त वे हैं जो केवल नेत्र इन्द्रिय से श्री मुख का सेवन, पान तथा उस पर (मुखविन्द पर) कदाचित्मोक्ष करते हैं।

आभास — केवलं रसरूपमाहुः चूतोति,

आभासार्थ — निम्न ‘चूत प्रवाल’ श्लोक में केवल रस रूप (विप्रयोग श्रृङ्गार स्मृत्वक) स्वरूप का वर्णन करते हैं।

श्लोक: —चूतप्रवालबह्स्ततबकोतपलाव्यमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषो ।
मध्ये विरेजतुलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नदवरे क्वः च गायमानी।

श्लोकार्थ — आम की कोपल कानों में, मगूर पिच्छों के गुच्छक मस्तक नर, कमलों की माला कण्ठ में धारण किये हुए और इन से मिले हुए पीतांशु आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले गाम और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उत्तम नर के समान ग्राम बालों की सभा में गान करते हुए ऐसे शोभा देते हैं जैसे नर नाट्यशाला में शोभायमान होते हैं।

सुवर्णिनी — चूर्तानामायान् प्रवालाः कर्णयो—
बह्स्तकोतपलाव्यम्यालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषो तैंगुपृक्तं मिललं परिधानं पीतांशुदिविक्षाणं तैंविचित्रो।

वेशो श्रीपारशुरारुपभक्त्विं पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतु:,
सांभिन्येंचतार्कवद्वादशास्त्रायन्योगाद द्विवचनभुः।
व्याख्यार्थ - आम के कोपल कानों के ऊपर के भाग में, मयूर पिक्खों के गुच्छक मस्तक पर, कमलों की माला कण्ठों में धारण किए हुए और इनसे मिले हुए पीताम्बर आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले बलरामः और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उतम नट के समान ग्वाल बालों की सभा में गान करते हुए शोभा दे रहे हैं।

श्लोक में 'विचित्रवेषो' दिव्यचन देना का भावार्थ यह है, कि जैसे अवतार के कार्य में बलरामजी (आवेश स्वरूप) का उपयोग है, वैसे ही रस के अभिनय में भी उनका उपयोग (आवश्यकता) है।

कारिका -

गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवति हि।
अतो रसस्याभिनये चत्वारोपर्य निरुपिताः।
रसस्यसुगमतधानानं प्रतिष्ठा त्रिषु निषिचिता।
धम्म्यच्छादनबोधाय मायापर्य निरुप्यते।
वस्तुनिर्देशशास्त्राश्रयो श्रोतृणां काह्वावदृ रसः।
रसवतवलबोधाय प्रथमं पल्लवो मति।
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानादेव भववस्य कलिका भवेत्।
तत्तस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्छते।
अहोरात्र वासना स्थात् तत आच्छादनं स्मृतम्।
रसोत्त्वस्य समाप्तानु निरुपितमितिनिधित्वाद्।
अतों तितिगुसो भगवान् रसतवं प्रतिपद्यते।

कारिकार्थ -

गुण और माया ये दोनों निरचय से वेष के लिए उपयोगी होते हैं, इस कारण से रस के अभिनयार्थ चारों पदार्थ निरुपण किए हैं।

भगवान् ने कानों में कारिकार (कनर के पुष्प) के साथ ऊपर के भाग में आम के कोपल भी धारण किए हैं, कारण कि शिर पर धारण किया हुआ मोर गुरु पिक्खा का मुकट जिसमें पीले वस्त्र का जो दुकड़ा बाँधा हुआ है उससे बोप कोपल भी सम्बन्धित हो, और उत्तरी वस्त्र (नीचे धारण किया हुआ पीताम्बर) का भी माला से मेल हो यानी करेंगे से वेष में विचित्रता आ गई है। सुबोधिनीजी में 'पीताम्बरद' में आदि शाखा से श्री बलदेवजी के नील वस्त्र का सूचना किया है।

श्री बलदेवजी में जो श्री पुष्पोत्तम का आवेश स्वरूप है, वह रस रूप है उस रस रूप को ही इस रस के अभिनय में आवश्यकता है।
रस, रूप और सुगन्ध की प्रति तीन में निशिचित रूप से की है, धर्मी स्वरूप के रस का आच्छादन करने के लिए माया का भी यहाँ निरूपण किया गया है।

केवल वस्तु के निर्देश से ही श्रीपातालों को काव्य के समान रस प्राप्त होता है, यह फल रस भरित है यह जताने के लिए पहले पल्लव कहा है।

भाव रूप कली तब उपयुक्त होती है, जब शास्त्र के अर्थ का पूर्ण ज्ञान होता है, उसके पश्चात् उसमें विचित्त्रता आती है, उसको यहाँ पुष्प का स्थान दिया है।

रत्न-दिन वासना होती है इसलिए आच्छादन की स्वृति करई गई है, यह सब रस के प्रकटण के लिए कहा है, इस प्रकार की स्थिति है।

रस का आविष्कार होता है, तब रस के स्वाद की प्रासि होती है तथा नृत्य एवं शोभा भी होती है जिससे अतिशय गुण पर रस रूप भगवान् का रस पन प्रकट होता है।

व्याख्या – कारिका में जो 'गुण' कहें है उनके दो भाग है एक भाग-प्रवाल स्थायिभाव, स्तंबक (व्यभिचारी भावः) माला (विगाढ़भावः) है, दूसरा भाग-प्रवाल (रजोगुण रूप) स्तंबक (तमोगुण रूप) माला (सत्य गुण रूप) है, ये तीन गुण और चौथी पीतम्बर वक्ता रूप माया ये चार, वेष के लिए उपयोगी है तथा रस प्रकट करने में भी उपयोगी है।

*वितोड़ितः (संचालितः-उप्नाद पर्यंत संचालितः) कटशादि रूपों भावः अनुभवः। (उप्नाद हो तब तक चलाया हुआ) जो कटशादि रूप भाव रसों का अनुभव करता है वह विगाढ़भाव वा अनुभव है।

---

1-स्थापना। 2-उपदेश। 3-वचीन कोपल।
1--अगलम् प्रिणात्मक धर्मः स्वरूप में धर्मः रूप स्थायिः भावः, व्यभिचारः भावः और अनुभावः से ही विचित्रतः उद्धृत्तः होती है।

2-(अ)-प्रवालः (रजोगुणः रूपः) से अनेक प्रकारः के भावः की उत्पत्तः होती है।

(आ)-मकरः गुच्छः (तमोगुणः रूपः) से भगवानः के किसी भी एक स्वरूपः में (वा अवज्ञः में) विशेषः प्रेमः होकर उसः में मनः का लयः होता है।

(इ)-कमलः माताः (सत्त्व गुणः रूपः) से यह ज्ञानः होता है कि सर्वः पदार्थः रसः में उपयोगः है॥ 1 ॥

प्रवालः (कोपः) मयूरः पिच्छः के गुच्छः, कमलः की माताः और मायाः रूपः पीताम् धारणः इनः चारः पदार्थः के धारणः करनेः के भावः निम्नलिखितः है।

1-मैं रसः रूपः हूँ। इसकी सूचनः के लिए आम्रः के रसः रूपः कोपः धारणः किएः है, व्योंकः आम्रः वृक्षः में रसः प्रतिलिपितः है।

2-मैं रूपः से सुन्दरः हूँ। इसका ज्ञानः करनेः के लिए इसके ‘मयूरः पिच्छः गुच्छः’ को धारणः कियाः है।

3-मेंः श्रीः अजः में सहजः सुगन्धः है। इसको प्रकटः करनेः के लिए ‘कमलः की माता’ धारणः की है।

4-‘रसः’ गोष्ठः है अतः मायाः रूपः पीताम् धारणः कियाः है।

आम्रः मैं रसः स्थितः है अतः आम्रः के पक्षः (कोपः) स्थायिभावः है, मयूरः मैं रूपः है रसः नहीं है, इसलिए मयूरः पिच्छः गुच्छः व्यभिचारीभावः के घोटः है, कमलः में सुगन्धः रहती है, इसीः कारणः से कमलः माताः ‘अनुभावः’ है जिससे सुगन्धः प्रहणः करते हुए जो ‘चुम्बनः’ होता है। वह अनुभावः है। ये तीनः (रसः, रूपः और सुगन्धः) वेषः में विचित्रतः उत्पन्नः करते हैं। तो भी पूर्णः वेषः तो आच्छादनः विस्तारः हो करता है अतः उसकी भी अपेक्षा रहती है अतः चौथः विस्तारः को भी धारणः कियाः है॥ 2 ॥

अनुभावः करनेः के सिवायः केवलः कहनेः से रसः का अनुभवः कैसेः होगा? इसः शब्दः के उत्तरः न करते हैं कि ‘काव्यः उसको कहा जाता है जिसके वाक्यः रसः भरितः है’ उसः काव्यः के श्रवणः मात्रः सेः श्रीलोकः को जैसे रसः का आनन्दः प्राप्तः होता है वैसीः ही यहाँ भी जो रसवाले शब्दः हैं। वे फलरूपः सुभाषितः हैं। अतः उनसे गलितः हुई सुधः गोष्ठः परस्परः कहकरः, पानः करती हुईः
रस का आस्वाद लेती है और तेरे अलावा रस का आस्वाद होता है। यह सिद्धान्त सत्य है इसलिए यहाँ प्रथम: रसमय ‘कोपल’ धारण किया है।

प्रथम पल्लव के चरण का कारण यह है कि ‘फल’ एकार्थ, उसके पश्चात् रस शाला के अर्थ (फल) के जान होने पर, भाव की कल्ती प्रकट होती है, अतः कल्ती के समान भौतिक पिछले गुच्छ को कहा है। ‘फल’ रसमय थे, इस प्रकार के जान होते ही, वह भाव रूप कल्ता पुष्प रूप होकर अवभक्त रसादि को व्यक्त कराके, अनुभव करने में सहाय्य होती है। प्रमाण प्रकारण की लोचाओं से उपज प्रमाणीक भाव बढ़कर प्रमाण प्रकारण की लोचाओं से आस्वदित रूप भाव में बदल जाता है। किन्तु आस्वदित भी कल्ता के समान ही है जिससे उसमें भी कटक्षादि जो कुछ होता है वह अवभक्त ही होता है। पश्चात् जब वह भाव बढ़कर व्यसन दशा को प्राप्त होता है तब पुष्प रूप बनता है अतः यहाँ कामल माला कही है उसको धारण कर व्यसन का सूचना किया है। व्यसन दशा में वे सर्व अवभक्त भाव स्फुट हो जाते हैं और उनमें विचित्रता प्रदर्शित होती है।

जब व्यसन होता है तब सर्वदा मिलन संभावण आदि को बासनार होती रहती है उसके प्रकट होने से, रस सामान्य हो जाता है अतः उसको गुप रखने के लिए माया रूप पीताम्बर धारण करना आवश्यक समझ उसको धारण किया है गोयो रस, रस ही रहा है।

इस प्रकार क्रम से जब भावात्मक भगवान का आविष्कार होता है और स्वभाविती ज्ञात के सम्बन्ध होने से रस का अनुभव प्राप्त होता है तब प्रभु नृत्य कर शोभा को विशेष रूप से प्रकट करते हैं।

सुभोधिनी - विचित्रवेष्टित सर्वसाधारिनिवेष्टिनं, त्रायाणम्योगुणप्रास्थानभोजं नवं प्रसादं धारणं, एवं सरस्वत्व भगवन्त निरहुंक तदस्मानवति सामाजु वातावरितिश्च। निरहुंकति मध्ये विशेषतुमिति, पशुपालानान्यो गोर्षन्यात्मानेन गूढ्य तेन सरस्वत्व सुरविशिति, मध्ये गीताव्याहं, त्रायाणं समान्तं वद्भवनम, नृत्यस्य तु विशेषः प्रारंभिक एवंति देवोपकं, कादाचित्तनिरूपमतमलिति, शालक्षमति।

निरहुंकं न भविष्यातितत्त्वात्रथ्यं दृष्टां रुपं यथा नदवरिति, रहस्यं शालक्षास्तुरं धारणं, रुप्यमेव यथा नदीं शालात्मानुसारिणिः भवतः। अलीकण्ठापृथ्वं धर्मस्य, एवं राजसभाषानुप्रवृत्तं सांस्कृतिकभाषानुप्रवृत्तं धर्मस्य च गायमार्गिति, देशविशिष्टे हस्ताबिनयमापूर्वं प्रस्तुतं गायनं कुरुतः, एतद्रिपि लोकप्रसिद्धम्।

व्याख्या - श्लोक में ‘विचित्रवेष्टि’ इस विशेषण के देने का आशय बताते है कि सब रसों का वहाँ अभिनवित्र है।

तीन गुणों के परस्पर मुख्य एवं गोंय भाव से नव रस की सिद्धि होती है। इस प्रकार रस रूप भगवान का निरपेक्ष कर, समाज में, उस रस के पोषक गीत और वाद्य का निरपेक्ष करते हैं।

---

1-कोपल। 2-इच्छा। 3-आयपूर्वक स्थिति।
बे दोनों के मध्य में भली-भाँति शोभा पा रहे थे। पशुओं के पालन करने वालों की गोश्रें बहुत गूढ़ नही होती है, इससे यह बताया कि यह सुलभ है। गीत और वादा इन दोनों के मध्य में तीनों (गृह्य, वादा तथा गीत) की समानता ही सबसे तामासम्य है। गृह्य की विशेषता क्षालित ही होती है। अत: ‘वादा’ ही कहा है किसी समय ही वैसा होता होगा? इस श्लोक को मिठाने के लिए ‘अलम्’ (बहुत अच्छी रीति से) कहा है।

राम और श्रीकृष्ण के गीतों में यहाँ शाक्य नियामक नहीं होगा। ऐसी श्लोक के निवारण के लिए दृश्यत देकर कहते हैं कि जैसे शाब्दनुसार रहस्य नामण्डल में नट शाक्य के अनुसार ही गीत नृत्यादि करते हैं, अंतः (ही) ये दोनों भी शाखार्थ के अनुसार ही अल्लाहक नादि नृत्यादि (नृत्यादि) करते हैं। अत: ‘वर’ पद दिया है, इस प्रकार राजस भाव का नृत्य कह कर ‘कव च गायमान्य’ पद से कहते हैं, कि सात्तिक भाव का नृत्य करते हैं जैसा कि अंकुर सत्यन में केवल हस्त के अभिनय के साथ इसी प्रकार गान करते हैं, जिससे कुछ भी परिश्रम नहीं होता है। यह बात भी लोक में प्रसिद्ध ही है।

आभास — एवं रस निरूपयुक्त सत्यादिऔक्षिकरुपायानं वेणुनादः निरूपयाति गोप्य इति,

आभासार्थः — इस प्रकार रस के स्वरूप का वर्णन कर उस रस को आधिदीविक बनाने के लिए इस ‘गोप्य किमचरत्’ श्लोक में वेणुनादः का निरूपण करते हैं।

श्लोकः — गोप्यः किमचरदयः कुशलं स्मवेणुर्दिकदातस्युधुलमपि गोपिकानामः।

भूदक्ते स्वयं यदवशिल्लिसं हृदित्यो हृत्यचरोः श्रु मुनुचुस्तरवो यथासः। ।

श्लोकार्थः — हे गोपीजनाः! इस मुरली ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि, जो केवल गोपीजनों के ही भोग्य दामोदर भगवानः के अधिश्रृंखं तो स्वतन्त्र जाकर यथेष्च पान कर रही है उससे शोष हें रस को झारने तथा वृक्ष भी भोग रहे हैं और वे आयों के समान रोमाचित होते हैं एवं आनन्द के आँसू गिरते हैं।

---- श्री विदुल्लेश प्रभुचरण द्योपीयों में आज्ञा करते हैं कि, जो काम रस सहज है अर्थात सावधान है उसके यह वेणुनाद अधिक सृष्टि के साथ अन्तःकरण में प्रविश होकर आधिदीविक भगवद्गीता (भगवतसम्बन्धी अल्लाहक आधिदीविक रसमय) बनाता है।

1-गोपोः। 2-वालचीत। 3-वाचाविक।
व्याख्यार्थ - हे गोपीजन! यह सम्प्रभु, प्रथम कहे हुए सहज काम रस का बोधक है, यह वेणु भगवान के अधर पर स्थित है, चाहे इसने रस पान नहीं किया है, तो भी यो समझा जाता है कि यह दूसरों के लिए भोग करता है, अतः यहाँ जाने व चहने योग्य कुछ नहीं है।

श्लोक में ‘गोपिकाना’ पद देकर बताया है कि यह अधर सुधा गोपीजन के लिए है तब यह वेणु’ जो पुष्कर है, वह इसका भोग कैसे करेगा? यह भोग तो स्त्रियाँ का है यदि पुरुषों के योग्य होता, तो भगवान ही इसका भोग करते वे तो करते नहीं, अतः इस रस का भोगना पुरुषों के लिए सर्वथा असंभव है। जब चेतन पुष्कर ही इसका भोग नहीं बन सकता है, तो अन्य योगी में उपसंह जीव उनमें भी वेणु? इसका भोग कैसे कर सकता है? ‘गोपिकानाम्’ यह बहुवचन देने का भाव यह है, कि इन (गोपीजन) में लक्ष्मी का अंश भी है। लक्ष्मी के बिा दूसरा कोई इस (सुधा) का भोग नहीं कर सकता है। आधारित वस्तु चेतन होती है, चाहे
उसका ऊपर का रूप जड़ भी हो। हम सब आधिदैविक हैं अतः हमें इन्हें किन प्रधान करना चाहिए कि इसको इतनी उच्च कोठी का अधिकार क्यों मिला है? यह सब धर्म क रूप है, ऐसा वैदिक सिद्धांत है, इसलिए गोपीजन वेणु के इस अधिकार पाने का कारण नहीं विचारते हैं, कि इसने कौन-सा धर्म किया है? धर्म मात्र बेद से सिद्ध है, हम वेद रूप हैं। इसलिए जिसका हमको ज्ञान नहीं है वह ‘धर्म’ कैसे हो सकता है? जिस धर्म से, हम (रूप में) उत्पन्न हुई हैं। यह उसने भी किया हो तो भी हम में तो मर्यादानुसार साधन का विकल्प नहीं है क्योंकि हम तो उस धर्म साधन से आधिदैविक सिद्धांत न बन गई है, किन्तु यह तो वेणु रूप पुष्कर बना है, इस प्रकार (विकाल) फल देखने से सदृश होता है कि जैसा साधन हमने किया है वैसा इसने नहीं किया है, यदि वैसा साधन किया होता तो, फल में वैकल्प्य न होता। इसलिए अन्य गोपीजन की भी सम्पत्ति लेने के लिए ‘हे गोपा’ समृद्धिविवेक है। श्लोक में ‘अय’ पद से वेणु की पुष्कर जाति बताई है। वह इसके भोग करने में सुकावट है और ‘सम’ पद प्रसिद्ध सूचक है ‘अधर्मसुधा’ का भोग तो गुरु स्थान में होता है, जैसे उसकी प्रसिद्धि न होने, यहाँ प्रसिद्ध सूचक ‘सम’ भी भोग में बाधक है। वास्तविक रीति से देखा जाए तो ‘वेणु’ की फल प्राप्त ही नहीं है, यह ‘वह्मीडम’ श्लोक में धर्म ही प्रतिपादन कर दिया है। तब दोनों (साधन और फल) में से एक का बाध करता चाहिए। यो करने से, यदि साधन का बल निरीक्षण किया जाएगा तो साधन का अभाव नहीं है, यह सिद्धांत होगा। इसको बड़ों हुए ‘वेणु’ शब्द का रहस्य प्रकट करते हैं। ‘वेणु’ शब्द में ‘व’ ‘व’ और ‘अणु’ ये तीन शब्द हैं, ‘व’ का अर्थ है ब्रह्माण्ड ‘इ’ का अर्थ है विषयान्त्र ये दोनों जिसने तुच्च कर छोड़ किया है वह ‘वेणु’ है, दोनों प्रकार के सुखों का त्याग करने से वह अन्यों को आनंद देता है, अतः उस (वेणु) में धर्म है, यद्यपि अधर के समृद्ध से इसमें धर्म है, वैसा निश्चय नहीं है तो भी स्वयं ही साधन है, पुष्कर रूप हैं के आश्रय से उसकी सिद्धि हुई है। यह जताने के लिए मर्यादा में साधन की हीतता है, अर्थात् मर्यादा मार्ग में, ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे भगवान् वश हो जाए, पुष्कर में दोनों आदि साधन है जिससे भगवान् भक्तों के आधिकार लेते हैं जैसे ‘दामोदर’ लीला में भगवान् भक्त दोनों भक्त धर्म हो अपने आप को रसी से बनवाया है।

‘अधर’ तोभावक है कारण कि उसमें ‘सुधा’ की स्थिति है अतः स्वतः वा पस्तः उस (वेणु) को साधन का अभाव है। वेणु को रसना हिदाया‘ नहीं है इसलिए भी वह सुधा का भोग करने में असमर्थ है, क्योंकि सुधा रस रूप है उसके लिए जिह्वा की आवश्यकता है। वेणु के नाद का भोग (श्रवण) करता है, इसमें किसी प्रकार शक्ति नहीं है किन्तु सुधा का भोग करता है यह विवाद का विषय है क्योंकि भगवान श्रृंखला कibbean कि ‘यह वे वस्तु’ प्रविष्टियों वाली वैसी (वा-सुधा) वनस्पतियों में प्रविष्ट हुई। वेणु पुष्कर रूप है इसलिए वह सुधा का अधिकारी नहीं है, यह पहले प्रतिपादन किया है किन्तु यदि भगवान् अनधिकारियों को भी दान करे, तो
कदाचित्त वैसे सम्भव हो सकता है, जैसे श्री अनंदाकारी उपाती को अपने रस का कत्वतिदेन करे, तो वह उस रस को भोग सकता है अन्यथा नहीं। फिर ऐसा होते हुए भी यह (वेणु) गोपीजन की भावित स्वर्ग भोग करता है वह आचर्य यह है। वेणु सुधापान करता है इसका निर्णय आपने कैसे किया? इसके उत्तर में कहती है कि जैसे अधर तथा मुख के सम्बन्ध से हम पान करती है वैसे ही उसका भी उसे समझा है, अतः वह भी पान करती होगी ऐसा हम मानती है और हमसे भी उसमें यह विशेषता है, जो उसका बचा हुआ रस नदियाँ (झर्ण) और बृक्ष भोगने हैं जैसे सनातन माता पिता की पालना करता है वैसे ही वेणु, नदियाँ तथा बृक्ष का सनातन (उनसे उत्पन्न हुआ) है अतः अवश्य रस देकर उनका पूजन करता है। वे पान करें है इसका हेतु देने है, रस भोग से झरनों में, हर्ष से रोमाञ्च होते हैं वे रोमाञ्च यहाँ कमल रूप है। वह कमलों का रूप जगत में सब से उत्तम है। यदि सुधा का पान न किया होता तो, कमल उपर न होकर शैवाल का ही उद्वर्त होता। इस सुधा पान के कारण, लक्ष्मी की उपात्मी कमलों से होती है, जहाँ अतिशय देखने में आता है, वहाँ स्वर्ग का उद्वर्तन करने के सिवाय ही वह होता है; इस न्यायानुसार लक्ष्मीजी, केवल उसका ही भोग करती है, यह उपलक्षण है, अर्थात् इससे यह सिद्ध हुआ है। जिस प्रकार माता रूप नदियाँ स्त्रापान से आनन्द मान होकर रोमाञ्चित हुई, वैसे ही पितु स्वानिय पेड़ भी इस रस का पान कर आनन्द युक्त हुए, जिससे रोमाञ्च रूप फलों को उत्पत्ति किया, तथा अशुरूप मकरदं (मधुधार) का आविष्कार किया, इस प्रकार ये दोनों सुधा रस के पान बिना उत्पत्त नहीं हो सकते हैं। वे भी नहीं समझना चाहिए कि इनमें ये (रोमाञ्च आदि) स्वाभाविक हुए हैं, क्योंकि, वेपुनाद होने के अन्तर्गत हुए हैं, यदि स्वाभाविक होते तो, प्रथम ही हो जाते और इसमें स्वभाव से भी विलक्षणता दिखती है। इसको दृष्टांत देकर समझते हैं, कि जैसे सत्तुरुष, भगवद्धर्म के अनुसार में प्रविष्ट होने से, रोमाञ्चित होकर आँख़ बहते हैं, वैसे (ही) इसने तथा वृक्ष भी वेणु भुक्त्से शेष रस के पान से वैसे हुए हैं। ॥ ९ ॥

आभास  —  वृद्धावनविहरे चरणान्त स्वरूपमाह वृद्धावननिमिते।

आभासार्थ  —  वृद्धावन के विहर में, भगवान् के चरण का स्वरूप इस ‘वृद्धावन सखि भुवो’ श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः —  वृद्धावन सखि भुवो वितमोति कीर्तिः यदृ देवकीसुतपदाबुजलब्धलक्षिम।
गोविन्दवेयुमनु मतमयूरृत्यू प्रेष्यादिसान्विवरतायन्यमस्तस्तस्तम् ।।१०।।

श्लोकार्थः —  हे सखि! देवकीजी के पुत्र के चरण कमल से जिसने लक्ष्मी (शोभासुन्दरता) प्राप्त की है, और गोविन्द के वेणु के अनुसरण करने से, मत बने हुए मयूरों के नृत्य को देखकर, श्री गिरिजार पर स्थित सर्व प्राणी मात्र मूक हो गए हैं। वैसा यह वृद्धावन पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ा रहा है। ॥ १० ॥
व्याख्यार्थ — यह वर्णन गोपीजन ईर्ष्या से कर रही है, जब पृथ्वी का स्पर्श देखताओं के चरण भी नहीं करते हैं, तब इस वृद्धि का स्पर्श देखताम के चरण नहीं, किन्तु पुरुषोत्तम के चरण कर रहे हैं। पुरुषोत्तम के अंश और पुरुष के आधिपूर्वक चरण पृथ्वी है, अधिपूर्वक चरण अतीतिद्य (इंद्रियों से जो देखें नहीं जाते हैं वे) हैं और आधिपूर्वक चरण आनंद रूप है, उनका भी भूमि से सम्बन्ध नहीं होता है, तब पूर्ण पुरुषोत्तम के चरणों का सम्बन्ध होना अत्यंत विषम का कारण है, उसमें भी, यह भूमि दैवी भूमि होने से अधम है, उसमें (अधम होते हुए) भी खी के सम्बन्ध वाली है। इतना सब होने पर भी, वृद्धि की भूमि में जो भगवान के चरणार्थित रिस्थित है, जिससे यह महा भाग्यवान है, यह निशचत होता है, इसके भाग्य की सराहना से अपने हद की भी उत्कृष्ट प्रकट करती है कि, हमारा हद प्रदेश ही भूमि है तथा इस भूमि में खियों का हद कदर होता है, वहाँ पूर्व भी है, अन्तःकरण में जो भगवान से विद्वामान है वह नदी रूप है, रेम कृपा रूप वन है तथा वह खी रूप भी है अतः यह कहकर गोपीजन ने अपनी वृद्धि से समानता सिद्ध की है, इस प्रकार समानता होते हुए भी भगवान उस (वृद्धि) में अपने चरण स्थापित करते हैं हमारे हद भूमि पर क्यों नहीं धरते हैं? इसी भाँति
यह वृंदावन का भाष्याभिनन्दन ईश्वर से कर रही है। किसी की राय है कि पहले का वर्णन से गौरीजन का किया हुआ है और यह वर्णन निर्गुण गौरीजन का है अतः यह वर्णन ईश्वर से नहीं है। हे सख! यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि इस मेरे कथन में अन्य गौरीजन भी सहमत है। वह सम्मति देने वाली अनेक नहीं है किन्तु एक है अतः एकवचन दिया है। अमूर्त पक्ष में भी वैसे समझना।

भगवान् के चरणारविन्द जैसे व्यापिक वैकुण्ठ में स्थित है, वैसे ही वृंदावन में भी है इसमें आक्षरण करने का क्या कारण है? इसके उत्तर में कहते हैं कि, इन चरणों की स्थिति रोटी से, वृंदावन पृथ्वी की कौन्तिक को बढ़ाता है, क्योंकि, यदि यह वृंदावन व्यापिक वैकुण्ठ में होता तो किसी प्रकार विचार करने की आवश्यकता न पड़ती, किन्तु यह पृथ्वी पर है अतः यह वृंदावन चरणों की स्थिति होने से केवल पृथ्वी की कौन्तिक को बढ़ा रहा है, इसलिए यह भूमि धन्य बढ़ाने के रोग है; जिस पर वृंदावन जैसा वन है, यह कहना उसका है जो भगवान् की नित्य स्थिति नहीं मानती है। चरणारविन्द तो आर्यधैविक में नित्य ही स्थित होती हैं, किन्तु उनका दर्शन तो स्वतन्त्र भगवान् अपनी इच्छा से कभी करते हैं। उन (चरणों) के दिखाने में वृंदावन का समारथ्य नहीं है। भक्ति को तो सब स्थानों में (सब समय) ऐसा सामथ्र्य है जो चरणारविन्द का दर्शन करा सके, वृंदावन की यों तो प्रतिष्ठा (यश) नहीं है किन्तु प्रतिष्ठा का जो कारण है वह ‘यद्यदेवकीसुपदानम्बुजलबलाल्कुम’ पद से कहा है।

भूमि में स्थित वृंदावन ने देवकी के सुत के चरण कमल के चिह्नों* के धारण करने से लक्ष्मी (श्रीभा) को प्राप्त किया है, भगवान् से अपना स्वच्छल्ल सम्बन्ध दिखाने के लिए ‘देवकी सुत’ कहा है ‘यशोदा सुत’ नहीं कहा क्योंकि वह गोपी, नन्द गोप की सम्बन्धिती है, अतः यशोदा नन्दन से इसका स्वच्छल्ल सम्बन्ध नहीं हो सकता। ‘पुत्र’ शब्द न देकर ‘सुत’ पद दिया जिसका भावार्थ यह है कि भगवान् के साथ देवकी का केवल प्रसूति (प्रकट होने) का सम्बन्ध है न अन्य कुछ भी। ‘चुन्द्रेव सुत’ न कहकर ‘देवकी सुत’ कहा उसका कारण यह है कि खै की प्रधानता दिखाना कर अपनी, बीजों पर कृपा प्रकट की है, पुष्प मार्ग में बीजों* वे प्रधानता है यह पहले ही हम कह चुके हैं, भक्ति मार्ग में दोनों चरण, प्रधान हैं, उनमें भी चरणाम्बुज (अम्बुज) कहा क्योंकि कमल जल से उदुभूत होने से ताप हरक है; अतः चरणाम्बुज ताप हरक होने से बीजों के हुदय में उत्पादन ताप को नाश करने के लिए ‘श्रीभा’ दे रहा है। इस प्रकार ताप हरक ‘चरणारविन्द’ की चच्छ, ज्ञान और अंकुश आदि शोभा अन्यत्र नहीं खिली है, वृंदावन

*ध्वज, वज्र आदि चरण के चिह्न।
*क्रमल प्रकृति वाले प्रमाण जीव, भैरोज है उनकी पुष्प मार्ग में प्रधानता है-देख सबमिश्री श्री यहाँ श्री नहीं मानी गई है।

-अनुवादक

1-गुणों में दीय दृष्टि। 2-दूसरे स्थान पर।
में ही खिल रही है इससे उसका (वृद्धावन भूमि का) चरणत्व सिद्ध किया, जिससे लक्ष्मण भी वहाँ स्वीकार निवास करती है, इसलिए कहा है, कि चरण कमावे के कारण वृद्धावन ने श्रोभा प्रास की है। भूमि आदि होती है, तब यह होता है, अर्थात् चरण स्थापित होते हैं, इससे कारण से, उसने (वृद्धावन भूमि ने) वह लक्ष्मी (श्रोभा) प्रास की है इसलिए यह कहाना, कि इसने (वृद्धावन ने) भूमि को जीती की वृद्धि की वह योग्य ही है।

केवल श्रोभा प्रास नहीं की है, किंतु भक्ति तथा ज्ञान भी प्रास किए हैं, जिसका वर्णन ‘गोविन्दवेणुमन्मुखस्यवृक्षात्’ पद से किया गया है। जब भगवान् वेणुनाद करते हैं तब यह प्रतीत होता है कि मानो नौल में मधुर गर्जना कर रहे हैं जिसकी सुनकर मयूर मत्त होकर नृत्य करते हैं, वेणुनाद से जो नृत्य करते हैं, वह (नृत्य) देश की सुधि भुलाकर भक्ति का उद्देश्य करता है। यहाँ मयूर कहे हैं, वे वृद्धावन के उपलक्षण हैं, अर्थात् वेणुनाद से देख इस्तीफे और भक्ति की वृद्धि वृद्धावन में ही गई। यह वृद्धावन की प्रशंसा है।

यह नृत्य देखकर, गिरिजाज के शिखर पर आकर स्थित हुए, अन्य प्राणी भी, ‘मूक भाव’ को प्रास हो गए, मूक भाव कहने का भावाथ यह है, कि उनकी भगवान् की भक्ति के साथ ज्ञान भी हुआ है, इनमें एक भक्त, अन्य सर्व ज्ञानी हुए हैं। ज्ञान का फल तो ऊपर जाता है, अत: ये नौल बिल्लों में रहने वाले अपने ज्ञानी हुए। इसके उत्तर में कहते हैं कि वे ज्ञानी हों जाने के कारण ‘आदिसानुष’ गिरिजाज के शिखर पर चढ़ गए। शिखर पर जहाँ कहीं भी स्थित हुए वहाँ से, भगवान् के दर्शन करते लगे, जिससे निरंतर होता है, कि उनके दोष नष्ट हो गए हैं, वे अब निरोध हैं अत: उनको लिला का दर्शन हो रहा है। इस योग्यता के कारण उन्होंने अपना स्थान छोड़ ऊपर गमन किया है।॥ १०॥

आभास – एवं रूपवर्णनामुक्तवा घोड़ा वेणु वर्णयन्त्र धन्यास्तिथिनिष्ठभिः।

आभासार्थ – इस प्रकार वेणु के स्वरूपः का वर्णन कर छ प्रकार से (ऐश्वयादिधर्म से) वेणु का वर्णन निम्न ६ श्लोकों से करते हैं।

श्लोक: — धन्यास्तु मूढमत्योज्यि हरियं एता या नन्दनननमुपातविचिन्त्वेशम्।

आकर्षण: वेणुभिन्तम सहकृष्णसार: पूजां दृष्टिविचित्रितां प्रणायावलोकैः।॥११॥

श्लोकार्थ – ये हरिणियाँ मूढमति होते हुए भी धन्य हैं जो भगवान् के वेणुनाद को सुनकर, अपने प्रेम भक्ति अवलोकनों (नेत्रों) से विशेष विचित्र वेषभारी नन्द नन्दन का स्वागत (पूजा) करती हैं।॥ ११॥

— ये अगे पृष्ठ ३३६ के पुस्त नोट में पड़े।

१—वृद्धि। २—अपने को भूल जाना।
कारिका - हरिण्योप्सससो गावः पक्षिणो नद्य एव च।
मेघास्थचतुर्मण्डीग्रृहयुश्यांदिनोधका। ॥ १ ॥
ईश्वरः पूजयते लोके मूल्यारपि यदा तदा।
निन्याधिकमेधाय वर्षायन्ति मनःशिखिणः। ॥ २ ॥
वीर्यं देवेशु तत्रापि श्रीशु तत्रापि कामत।
सात्रिष्ये पुस्मानं च मूर्छ्या तेन ततो महत्त। ॥ ३ ॥
यशो यदि विमूढानं प्रत्यक्षासत्ववर्णात्।
स्वधम्म योजयतु तेषु तदा भवति नान्यथा। ॥ ४ ॥
तामसा राजसाश्रयान्ये गुणातीतत्र रूप्यते।
उद्गावनं गुणातीतं मुनयश्रापि पक्षिणः। ॥ ५ ॥
गोवर्धनश्च त्रितां गुणातीतत्मिह स्थितम्।
तदज्ञात्चापि लोकेऽस्मिनः गुणातीता भवति हि। ॥ ६ ॥

"यदा खलु वे पुष्यः श्रीममनुसे वीणास्मै बाधतः" इतिश्रुतिन्यायेन सर्व एव
विहरा भगवद्विया अपि परमां श्रीयं प्राप्तवनि,

श्रीयो हि परमा काष्ठ सेवकास्त्वादृशा यदि।
ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्वात् स्वभावविजयो यदि। ॥ ७ ॥
हृदेशचरणयो: प्रतिः स्वसर्वस्वनिविक्षिदेनात्।
उत्कर्षाचापि वैराग्ये हृदेश्य हरियंदा। ॥ ८ ॥
भक्त्या च तादृशात्त्वं सा सेवा सेवकोचिता। ॥ ८ ॥

कार्यकार-श्रीकृष्ण के पद्गृहों के क्रमशः बोधकं ये (हरिणियाँ, अप्सराएँ, गाएँ,
पक्षिणां, नदियां तथा मेघ) छ हैं। ॥ १ ॥

'वेणू' शब्दे वाला है इसका प्रभाव 'बहारपीड़' इस श्लोक में कहे हुए नाद के श्रवण से समझ में आता है
प्रृथक् नहीं। रस द्वारा का चर्चन तथा चरण का जो निरूपण है वह निरूपण 'वेणू' के स्वरूप का ही है।

'लेख'

१-बोध करने वाले।
विद्वान कहते हैं कि जब लोक में मूढ़ लोग भी ईश्वर की पूजा करते हैं तब समझना चाहिए कि ईश्वर में बिना उपादि चाला, ऐसवर्ष है ॥ २ ॥

इस कारिका में वेणुनाद का महानु प्रभाव सिद्ध कर, भगवान् का वीर्य दिखाया है, जैसे कि वेणुनाद से देवों में (अप्सराओं में) देवाज्ञानों में भी काम का उदय हुआ जिससे पुरुषों के सभी वे (देवाज्ञानाएँ) मूर्छित हो गई ॥ ३ ॥

अतिशयः मूढ प्राणियों की जिन प्रत्यक्ष पदार्थों में आसक्ति हो, उनमें से आसक्ति को छुड़ा कर, जब उन (मूढ प्राणियों) में अपना धर्म (अपने स्वरूप में आसक्ति) पीयूष पान्ह द्वारा स्थापन करे तब यश होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ ४ ॥

अब तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत का निरूपण करते हैं, यहाँ, वृन्दावन, पक्षी रूप मुनि तथा गोवर्धन ये तीनों गुणातीत हैं। इस लोक में जिनकी रतिः इनमें है वे भी गुणातीत होते हैं ॥ ५ ॥

"जब पुरुष निश्चय पूर्वक श्री का भोग करता है तब उसके लिए वीणा बजाई जाती है" इस श्रुति न्याय के अनुसार सर्व भगवदीय पश्चीगण भी परम श्री को प्रार्थ करते हैं ॥ ६ ॥

श्री ही परम सीमा है, जब सेवक इस श्री को प्रार्थ करते हैं और इस से जब सेवक, स्वभाव को जीत लेते हैं, तब ही ज्ञान का उत्कर्ष होता है ॥ ७ ॥

जब सेवक अपना सर्व सर्वस्वः भगवान् को अर्पण करता है, तब भगवान् के चरणों में प्रीति होती है।

चैराग्य का भी उत्कर्ष तब होता है, जब सेवक हरि के दुःखों का हरण करने वाला बनता है, ऐसा भक्ति (प्रेम) से हो सकता है। सेवक को इस प्रकार की सेवा करनी ही योग्य है ॥ ८, ८ः ॥

---

1-असीम । 2-प्रेम । 3-सकल पदार्थ मात्र । 4-बृद्ध ।
व्याख्या — द्वितीय कारिका में जो यह कहा है कि भगवान् में निरलापित ऐश्वर्य है, वह कहना योग्य है, क्योंकि लोक में, जिसमें भी ऐश्वर्य के गुण दीखते हैं, वह चाहे इस्वर न भी हो। तो भी, उसकी पूजा होती है, अर्थात् जिसमें ऐश्वर्य के गुण नहीं दिखते हैं उसकी पूजा नहीं होती है। यदि ऐश्वर्य की सामग्री न हो तो भी जिसकी पूजा होती हो तो समझना चाहिए कि उसमें स्वाभाविक ऐश्वर्य है। ज्ञानी ऐश्वर्य सामग्री न होते हुए भी जो पूजा करता है जिसका कारण यह है कि ज्ञानी को उसके स्वरूप का ज्ञान है परन्तु अज्ञानी जिसको, उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ऐश्वर्य के गुण भी प्रकट नहीं दिखते हैं, तो भी उसकी पूजा करता है, इससे निश्चय पूर्वक समझ जा सकता है कि यहाँ असाधारण ऐश्वर्य है। इस प्रकार का परमेश्वर भगवान् में स्थित है भगवान् में ही समझ जाता है।

तृतीय कारिका में भगवान् के बीर्य की महता दिखाते हैं, भगवान् मनुष्य रूप से दिखाई दे रहे थे तो भी देवता रूप देवाज्ञानाओं को, उनको देखकर जो काम उत्पन्न हुआ वह असम्भव था, अर्थात् न होना चाहिए, कारण कि देवाज्ञानाएँ जिस रस को चाहती है वह मनुष्य से तो उनको मिल नहीं सकता है, फिर उनको इसके लिए काम किया उपनयन हुआ? और न भगवान् ने उन (देवाज्ञानाओं) को अपना अलोकिक प्रभाव दिखाया है, किन्तु केवल विनताओं को मोहित करने वाला सुन्दर वेष तथा वेणुनाद से ही साधारण शिविरों के समान इन (देवाज्ञानाओं) को मोह हो गया। वैसा होने का कारण, 'भगवान्' का 'बीर्य' गुण ही है।

चौथी कारिका में यश की सिद्धि का कारण कहा है, यश तब सिद्ध होता है जब अन्य पदार्थों में जो आसक्ति है, उसको छोड़कर अपने में करवें। वह तब होता है जब अन्य में आसक्ति वालों के अन्दर अपना धर्म स्थापन करें। यहाँ भगवान् ने गौंडों को जो तुषा आदि में आसक्ति थी वह (आसक्ति) अपने पीयुः रूप धर्म का उनमें स्थापन कर छुट्टा दिया। जिससे भगवान् के यश का विस्तार हुआ है अन्यथा नहीं होता।

5-6 कारिकाओं में केवल यह बताया है कि वृन्दावन, पक्षी रूप मुनिगण तथा गिरिजे ये तीन ही गुणातीत हैं और जो इनमें रतिवाली गोपीजन हैं वे भी गुणातीत हैं। इनका विशेष विवेचन उन उन शिलाओं में होगा जहाँ जहाँ इनका वर्णन आया है।

यह तो लोक में प्रसिद्ध है, कि यदि संतो सुख पूर्वक आनन्द से भोग करता है, अर्थात् सर्व प्रकार से सुखी है, तो इससे यह सिद्ध होता है, कि स्वामी परम सौभाग्य वाला है, अर्थात् वह (स्वामी) तो इससे भी विशेष सुखी होगा। नीचे (भूमि पर) स्थित भगवान् के किए हुए वेणुनाद को बुझों के ऊपर बैठे हुए मुनिरूप दशक सुन रहे हैं, अर्थात् उस नादामूर का पान (अनुभव) कर रहे हैं, इस प्रकार पक्षी श्री का भोग कर रहे हैं (इसीलिए श्रुति कहती है कि जब पुष्प श्री का भोग करता है तब उसके लिए चीना बजती है)।

1-खियों। 2-सुधा।
इस लीला में, भगवान् में स्थित श्री, जो भगवान् के श्री की कार्यरूप है वह पक्षियों में आ गई, जिस कार्यरूप श्री से भगवान् की श्री जो कि कारण रूप है उसका ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार नदियों के ज्ञान से भगवान् के कारण रूप ज्ञान का बोध होता है तथा वैराग्य रूप भगवतब्रम्भ भी में कार्यरूप से आ गया है।

जब सेवक वैसे होते हैं (सर्व प्रकार से आनंद का ही अनुभव करने वाले होते हैं) तब श्री की पराकाश होती है। ज्ञान का भी उत्कर्ष तब कहा जाता है जब ज्ञानी स्वभाव को अपने आधीन कर ले।

वैराग्य के प्रकार-१-सब पदार्थों में आसक्ति न होना यह सामान्य वैराग्य है, यदि वह अनासक्ति त्याग वाली है, अर्थात् उन पदार्थों को परस्पर दिया जाता है तो वह वैराग्य का उत्कर्ष है।

२-यदि उस वैराग्य से हरि चरण में रति हो जाती है तो वह वैराग्य भक्ति मार्गीय है, यदि उस (भक्ति मार्गीय वैराग्य) में हरि चरण में रति है वह (रति) सर्वस्व (अपने धन आदि) भगवान् में निवेदन युक्त है तो वह भक्ति मार्गीय वैराग्य उत्कृष्ट है।

३-यदि उस वैराग्य से पूर्ण मार्गीय सेवा (भगवान् में बाल भाव आदि के कारण शीतलदिव निवारण पूर्वक) की जाती हो तो वह वैराग्य ‘पुर्ण मार्गीय वैराग्य’ है, यदि वह सेवा, प्रेमपूर्वक की जाती है तो इस पूर्ण मार्गीय वैराग्य का उत्कर्ष समझना चाहिए। इसमें भी इस वैराग्य की विशेष उत्कृष्टता तब होती है, जब हरि के दु:खों (परिश्रम) को समझकर अपना सरकुर इस प्रकार निवेदन कर दे, जैसे प्रभु का सर्व कलेश एवं परिश्रम नष्ट हो जाए और प्रभु सुख पूर्वक विरुद्ध अनन्द का अनुभव करवें। इस प्रकार की सेवा करना ही सेवक को उचित है जैसे मेघों ने अपना सर्वभूत स्त्राव का आत्म कष्ठ निवारण किया।

देशायिनी — तत्र प्रथम हरिप्रेमो भाग्यमिनिन्दति धन्य इति, ज्ञानं हि क्रियाविशेषणभूतृ क्रियोत्कर्षः। पूजाया सापि चेष्टा ज्ञानवैराग्यब्रह्मविद्यायिनी भवति, भगवद्वन्त स्वामि च तत्स्य। अज्ञातं तद्भवां स स्वर्य यथा नामनिर्मणं तदुपयोगः तदा तदेकारभावस्मिन भविष्यन्ति, तुषारदेव स दोषो न ज्ञातं इत्यादिं गुप्तरूपायम् प्रधानस्वत्त स्वर्यं भविष्यन्ति, तन्त्रभाग्यिनादि द्वियेऽति सहितं, सर्वअन्यं एव वर्णं-तत्त्वं ज्ञातं, स्वर्याकृत्त्वतंतरभावनाय।

सुबोधिनी — तत्त्र प्रथम हरिप्रेमो भाग्यमिनिन्दति धन्य इति, ज्ञानं हि क्रियाविशेषणभूतृ क्रियोत्कर्षः। पूजाया सापि चेष्टा ज्ञानवैराग्यवैस्मिनियम् सा भवति, भगवद्वन्त स्वामि च तत्स्य। अज्ञातं तद्भवां स स्वर्य यथा नामनिर्मणं तदुपयोगः तदा तदेकारभावस्मिन भविष्यन्ति, तुषारदेव स दोषो न ज्ञातं इत्यादिं गुप्तरूपायम् प्रधानस्वत्त स्वर्यं भविष्यन्ति, तन्त्रभाग्यिनादि द्वियेऽति सहितं, सर्वअन्यं एव वर्णं-तत्त्वं ज्ञातं, स्वर्याकृत्त्वतंतरभावनाय।
सरो वेषमिति कृष्णसारः, अनन्त गोपालस्वा न भवन्तीति स्वरतात्त्व सुचितमन्यथासमाधिरिः यह गोविंदाणि कुश्यः; अतः एतेभिमेः साराः एव धन्यायस्ते कृष्णसारः; खंडः पूर्वकालालोकवियोंसिनिनिति भगविति पूजा वानिशाश्च। तेनार्थयेषश्च कमलानि ज्ञानवादिनानि ज्ञानोऽस्त्रावस्थानेन तः पूजा सन्तोतमा तथ्यात्म चारण तत्तोषिणि, कृतिष्ठिदिन्तावः। भगवा च प्रतिपटितमालिनि वा दुः; सदयावलोकीरिति वा पाटः; एतावदेव कर्त्यं प्राणिनां भगवः॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थः** — भगवान् के ऐसे यादि 4 परमेय का बोध करने वाले हरिपियों की भाषा की प्रशंसा करते हैं।

ज्ञान, क्रिया (जो कर्म किया जाता है) का विशेषण (गुण) है, जो पूजा ज्ञानमय द्रव्यों के द्वारा भगवान् के सम्बन्ध वाली होती है, उस पूजा से ही क्रिया का उत्कर्ष होता है, किन्तु ऐसी पूजा के भी दो अन्य हैं एक भगवान् का ज्ञान और दूसरा अपना ज्ञान, इन दोनों अन्यों से जब क्रिया की जाती है तब वह सफल होती है। उन अन्यों के ज्ञान के सिवाय, यदि यही ही पूजा की जाती है, तो वह सर्व व्यर्थ है। यदि यहाँ यह अज्ञान न हो, अन्यत्र हो, तो वह ही उत्तम है, इस प्रकार के पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिए पूर्व श्लोक में ‘धन्यास्तु मूढमत्योजपि हरिण्यः’ पद दिया है। ‘तु’ शब्द देने का यह आशय है, कि अन्यों का ज्ञान न होगा, यह दोष, यहाँ न समझना, कारण कि, यहाँ मूढ मति वाली, अर्थात् जिनको भगवान् का अथवा अपना ज्ञान नहीं है ऐसी भी हरिणयोंः ‘धन्यः’ है। इस प्रकारण में तीनों का ही अभिनन्दन है, अतः

†१‡ (१) भगवान् का ज्ञान, यहाँ भगवान् के ज्ञान कहने का आशय यह है कि सेवक को सेवा करने के लिए यह ज्ञान आवश्यक है कि देश कलानुसार भगवान् को किस वस्तु की अपेक्षा हैं तथा जैसे कि शीतकाल है इसलिए रहे के बल्कं चाहिए, उन्हें काल है महीने मूत्ते के बल्कं चाहिए इत्यादि ज्ञान भगवदु ज्ञान कहा जाता है यो समझकर भगवतेवारेरी चाहिए।

(२) जो भी पद्धार्थ उत्तम है वहीं भगवान् के विनियोग के लिए योग है अर्थात् भगवान् को सुध वस्तु ही अपर्य करनी यह ज्ञान सेवक के लिये अपना (सेवक यह ज्ञान है)

||भगवान् को किमी से भी अपेक्षा नहीं हैं, क्योंकि वह पूर्ण है किन्तु तो भी भक्त द्वारा समयानुसार सर्व की अपेक्षा वाला है यही भक्ति मार्ग की उत्कृष्ठता है।
हरिण न कहकर हरिण की खिलाया कही गई है, सर्वत्र अन्य पूर्व गोपिकाएँ ही वर्णन करती हैं ऐसा समझना चाहिए। हरिणों का यह भाग्य देखकर गोपीजन ने अपनी अकृतार्थता (हरिणों जैसा भी हमारा भाग्य नहीं है इस प्रकार अकृतार्थता) समझी, जिससे उनके हद्द में दोनों का प्राधारण हुआ, उससे यहाँ जैसा यहाँ वर्णन किया जा रहा है उन सारी सामग्रियों के सहित भगवान् इनके समक्ष प्रकट हुए यह हरिणों को ‘एत’ अर्थात् ‘ये हरिणी’ यो माने प्रत्यक्ष दर्शन पूर्वक वर्णन कर रही हो इससे सिद्ध होता है। वे इसलिए भाग्यवती हैं। उनके भाग्यवती होने में हेतु कहती हैं, जिन हरिणों ने नन्दनन्दन को देखकर तथा वेणुनाद सुनकर, भगवान् के किए हुए प्रेमावलोकन से की हुई पूजा को ग्रहण किया है। ‘या’ शब्द से यह बताया है कि १२५ अथवा अध्याय के २८ भाग्यवती पदों से इन मूढ हरिणों ने ही भगवान् की, की हुई पूजा को अपने में धारण किया, अर्थात् पूजा को ग्रहण किया वे हरिणीय धन्य हैं।

यह नन्दनन्दन है अर्थात् नद (जो स्वर्ण आन्दोलन है उन) को भी आन्दोलन देने वाले हैं और ब्रह्मण के वचनानुसार भक्तों के उद्घाटन प्रकट हुए है अतः यह प्रकरण उद्घाटन लीला का है; इसलिए इनका भी उद्घाटन करेंगे। इस कारण से हरिणों के साथियों में ही विद्युत वेष धारण किया है जिससे यह कहा जाता है कि भगवान् इसके अभिन्न रूप के लिए ही प्रकट हुए हैं। इस प्रकार भगवान् नन्दनन्दन स्वरूप से उद्घाटन के अनुकूल कार्य के करते हैं और वेष कारण रूप साधन से फल देने वाले करते हैं, विचित्र वेष-धारण कर, जहा बताया कि सर्व रस मैंने ग्रहण किए, अर्थात् विचित्र वेष से सर्व रस मूढ में है यह बताया है। हरिणों के समीप वेष धारण करने का कारण यह था कि उनमें ब्रह्मान्द भ्रष्ट हो, जिससे हरिणयां आधिदेविक बन जाए और रस स्वरूप के आन्द्र ग्रहण करने के योग्य हो जाए।

‘आकृत्य’ श्रवण कर, यह सुनने की जो क्रिया है, उसके वेषु की रणकार में तथा भगवान् में अर्थात् तथा शब्द ज्ञान से संयुक्त करना’ चाहिए, इस प्रकार कहा शाख दृष्टि से है शाख दृष्टि से कहने का कारण यह है, कि पशु दृष्टि विशेष ग्रहण नहीं कर सकती है। इतना कहने का तात्पर्य यह है, कि जो सुना जाए वह कार्य रूप में लाना चाहिए, अर्थात् वेणुनाद सुनकर, अपना मन तथा इंद्रिय भगवान् में एवं वेषु को रणकार में पिरो देना चाहिए।

---

1-प्रशंसा। 2-कारण। 3-समीप। 4-लीला से रस प्रकट करने के लिए। 5-जोड़ देना।
पश्चात् प्रत्यक्ष हुई दृष्टि दूसरी दृष्टि के समान होते हुए भी उसको ग्रहण नहीं किया है केवल श्रवण को ही ग्रहण किया है इसलिए ‘आकर्षण’ पद कहा है। ‘वेणोरिणित सर्वसाधारण’ पद कह कर यह बताया है, कि वेणु के रणकार का जो रस है, उससे अन्य सर्व रस साधारण है, ‘रणित’ रणकार कहने का तात्पर्य यह है, कि यह रस (सुभा रस) बाहर न चला जाए अतः इसी प्रकार के शब्द विशेष को ‘रणित’, अर्थात् रणकार कहा जाता है। वैसे भी ‘रणकार’ को समीप जाकर, सुनने लगी। इस प्रकार सुनने से देह सम्बन्धी जो धर्म (हम खिलियाँ हरिणियाँ) है उसको भूल गई, उस समय (वेणुनाद सुनने के समय) वे पतियों के साथ थी, देह सम्बन्धी धर्म की निर्विरोध हो जाने से एवं पति साथ थे इससे पतियों का निरोध (रोकना) भी मिटा दिया और साथ में सापत्न भाव का भी परिहार कर दिया, अर्थात् सापत्न भाव को भी मिटा दिया। हरिजो तो कृष्ण सार है, अर्थात् कृष्ण के तत्व को जानने वाले हैं। इसलिए ये कृष्ण सार हैं किन्तु गोप कृष्ण के तत्व को नहीं समझते हैं इसलिए वे कृष्णसार नहीं हैं। ोऽत्: गोपों में सापत्न भाव का अभाव है यदि अभाव न होता, तो वे गौचरण के समय हम (गोपियों) को भी साथ ले चलते जैसे हरिजो हरिणियाँ को साथ लाए हैं किन्तु ये (गोप) अभिमानी हैं और वे कृष्णसार, हरिजो धन्य हैं, अतः वे हरिणियाँ भी सर्व प्रकार धन्य हैं। कृष्णसार हरिणियाँ की खिलियाँ (हरिणियाँ) धन्य इसलिए भी हैं जो नेत्र पूर्वक अवलोकनों से भगवान् की पूजा करने-लगी, इस पूजा में नेत्र ही ज्ञान गन्ध युक्त कर्मल है उसने की हुई पूजा सर्वेक्षण करते जाती है इस पूजा को धारण करता उससे भी उत्साह है, भगवान् ने उसी प्रकार प्रति पूजन (दया पूर्वक अवलोकन किया) उसकी हरिणियाँ ने अपने अन्त:करण में स्थिर कर दिया। भगवान् तथा प्राणियों का इतना ही कर्त्त्व है, कि जीव भगवान् का प्रेम सहित दर्शन करे यह जीव का कर्त्त्व (धर्म) है और भगवान् दया सहित दृष्टि से जीव को कृतार्थ करे यह भगवान् का कर्त्त्व है। ॥ ११ ॥

आभास — अपससामवश्चतामाह कृष्ण निरोक्तिअते,
आभासार्थ — इस ‘कृष्ण निरोक्ति’ श्लोक में अपसराओं की अवस्था का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — कृष्ण निरोक्ति वनितातन्त्रचतस्वेषं श्रुत्या च तत्त्वविविषयेतु विचित्रगौतमः।
देवयो विमनागत्यः स्मरनुश्रुतः भश्यत्वसूनकरः मुपुश्चविनीवः। ॥१२॥

श्लोकार्थ — खिलियों को आनन्दित करने वाले वेष को धारण किये हुए भगवान् का अच्छे प्रकार दर्शन कर, उनकी बजाई हुई बंशी का विचित्र गीत सुनकर, विमान में बैठकर जाती हुई अपसराओं का, कामदेव से व्याकुल होने के कारण, विवेक नष्ट हो गया, इस प्रकार मोहित हो गई कि जिससे उनके गूँथे हुए केश पास से पूष्प समूह गिरते जाते हैं तथा नींवों खुल गई है उसका भी ध्यान नहीं रहा। ॥ १२ ॥

1-पीछे। 2-पूर्वचि। 3-भीतर के नीचे के वक्त की गाँठ।
सुबोधिनि - कृष्णपदामां की सीमा निरोधः सृष्टि-, आनन्दे दृष्ट आनन्दसाधन आसक्तभावो युक्त यह, तता तत्रि सदानन्दे, नितंमात्स्य दियुपूज्य, स्वजातीयः- द्वाराधमान्य इति निरोधः। तदहृतीतिभवांवस्वतेष्यमिति, वनितानंतरायुक्तवर्णाय चारणेश्वो यथौ, स उस्मो ज्ञहने, विश्वस्थानुसारे ते ते भूपिता भवन्तुज्जसाधनसाधनाः यथस, तस्मात् वनां चतुर्विनोष्ठानां, तत्र च, नारायणानां चतुर्विनोष्ठानां तल, वन योगिनितम्। प्राणि: प्राण: प्राणवत:। वन जनानि विल इत्यत्र: । न हि द्वारा प्रियो यौननितिभवानथे यु कुलनित्याथे। चतुर्विनोष्ठानां चतुर्विनोष्ठानां भवानि। तथा तत्स्य। तत्स्य भूपिता भवन्तुज्जसाधनसाधनाः यथौ। तत्स्य भूपिता भवन्तुज्जसाधनसाधनाः यथौ। तत्स्य भूपिता भवन्तुज्जसाधनसाधनाः यथौ। तत्स्य भूपिता भवन्तुज्जसाधनसाधनाः यथौ।

व्याख्या - श्लोक में ‘कृष्ण’ नाम कहने का भाव यह है, कि परंपरा इस स्वरूप से क्रियाओं का (कोमल हदय वाले प्रेमी जीवों का) निरोध करते हैं। यह तो शैल्प ही है, कि जब आनन्द का दर्शन हो जाता है, तब आनन्द के साधनों से आसक्त स्वतः निरंजन जाता है, उसमें भी यदि सदानन्द स्वरूप का पूर्ण दर्शन हो जाए तो, साधनों से आसक्त निरंजन मिलता है, इसके लिए तो कहने का आवश्यकता ही नहीं है। श्लोक में ‘ईश्वर’ देखकर इतना ही न कहकर जो ‘ईश्वर’ के लिए ‘निरंजन जाता है, अर्थात् ‘निरोह’ कहलाते हैं जिसका भावार्थ यह है, अन्य श्लोकों में यह आवश्यक नहीं है कि इस स्वरूप का प्राकृत हमारी जाति के उदास के लिए ही हुआ है। इस विषय (क्रियाओं के उदाराधम प्रकट के) को प्रमाणित करने के लिए। ‘विनितोत्सव चारु वेष’ वाक्य कहा है। जिस क्रिया है विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है । जिस क्रिया ने विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है। जिस क्रिया ने विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है। जिस क्रिया ने विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है। जिस क्रिया ने विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है। जिस क्रिया ने विनितोत्सव चारु वेष का कारण कहा है।
अर्थ-‘चन्द्र यौवनमिति: प्रासवल्यः’ जो स्त्रिया युवावस्था को प्रास हुई है वे ‘चन्द्रिताः’ है।

इस प्रकार अर्थ करने से यह भाव प्रकट करते हैं कि भगवान ने सुंदर वेष यौवन प्रास स्त्रियों के लिए (जिन स्त्रियों में भगवान की प्रासी की कामना उठम हो गई च्रूंह हम उनकों लिए) तथा जो पुरुषों ते हुए भी भगवान की प्रासी के लिए हदय में प्रेम उत्पन्न होने से संसार त्याग वन में जाकर निवास करते हैं उनकों लिए धारण किया है।

भगवान के इस प्रकार के सुंदर वेष धारण करने से, स्त्रियों में काम का प्रबोध होता है और पुरुषों में, श्री भाव को भावना उठम होती है, जिससे वे (पुरुष भी) श्री भाव उत्पन्न होने से, इस रस्सम के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार भगवान ने सुंदर वेष धारण किया है, वैसे ही रस्सम एवं पुरुषार्थ के अनुभव करने के लिए चन्द्रिताओं ने भी सर्व आभूषणों सहित सुंदर वेष धारण किए हैं। जिन्होंने ऐसे उत्सव के समय भी सुंदर वेष धारण नहीं किया है उन स्त्रियों का खींच विद्यालयों के समान र्यर्थ है। जैसे बाहर के अलौकिक, रस ग्रहण करने में, कारण है वैसे (ही) भीतर के भी, अतः रस की प्रासी के लिए भीतर के अलौकिकों से अन्तःकरण को भूषित करना चाहिए वे आभूषण प्रेम और ज्ञान आदि है जिस्ले बाहर की भोित भीतर भी रस का पूर्ण अनुभव होता है।

यों कहने से यह बताया, कि अस्स्रो को भगवान के पास आने के लिए जो उपाय करने चाहिए वे उन्होंने किए हैं। अब भगवान के पास तो आई किन्तु रस के अनुभव में विलम्ब न हो तदर्थ समीप आकर आलाप किये हुए विचित्र गीत का श्रवण किया। यह ‘गीत’ शब्द एक वचन में इसलिए दिया है कि क्योंकि गीत के श्रवण से अस्स्रों मूर्खित हो गई। ‘विचित्र’ शब्द का भावार्थ यह है कि सर्व रस इस में ही समाय हुए हैं, क्योंकि नाट्य शास्त्र, शृंगार रस को ही, रस मानता है, अन्य रसों को रस ही नहीं मानता है; अतः यह विचित्र गीतशृंगारसात्मक होने से सर्व रस इसमें समाय हुए हैं।

जैसे महारुप उत्सव अन्तिक आभूषण चब्बाकर शृंगारर्थ घनत्ते हैं, शृंगार में ही सर्व रस मानते हैं, अन्यथा यदि उत्सव के आभूषणों से शृंगार न कीया जाए तो रसिक पुरुषों में आन्दोलन हो उत्पत्ति नहीं होता है।

जो कि अस्स्रों देवता रूप होने से, पूजा है इसमें भी वे विमानों में बैठकर जा रही है और न वे भोग के द्योग्य हैं तथा वे दुःख को भी सहन नहीं कर सकती हैं ऐसी अस्स्रों के भी शरीर एवं इन्द्रियों से उसे बलवान मन का काम ने विचक नहीं कर दिया। पृथ्वी पर न आई, क्योंकि देवताओं भी, पैरों से न आने का कारण विमान में बैठी थी भोगा न होने से स्वतः भी नहीं आई। इस सब के हुए भी गीत से वे मूर्खित हो गई।

---

1-जागृति। 2-रस को समझने वाले।
केवल भीतर हदय प्रवेश में मोह (मूर्च्छा) हुआ, किन्तु बाहर भी सर्वत्र मोह हुआ, जिससे केश पास के पुष्प गिरने लगे, नीचे छूट गई। इसका आत्मा भावार्थ यह है, कि इस लोक तथा फलों के फलों का त्याग कर दिया है। देवता होने से मृत्यु न थी विमान में होने के कारण नीचे गिरी भी नहीं और विवेक नष्ठ हो गया था इसलिए आने में भी असमर्थ थी।

जिस वस्तु का उपयोग भगवान् के लिए नहीं होता है, उस वस्तु में रस उत्पत्ति नहीं होता है, इस सिद्धान्तानुसार अपसारों का उपयोग भगवान् के लिए नहीं हुआ, इससे यह सिद्ध हुआ, कि उनमें सस्त्रास ही उत्पत्ति हुआ न कि तत्त्व रस उत्पत्ति हुआ। वे अपसारें अपने पतियोंः को द्वृहने के लिए निकली थीं, किन्तु भगवान् के सुदर वेष तथा गीत का सुनकर, वह कार्य भूल गई और मन में यह भाव उत्पत्त हुआ कि ‘भगवान् ही हमारे पति हैं’ गोपीजन कहती हैं, कि जब वे अपसारें भी यों चाहती हैं तो, हम भगवान् की कामना करने वह तो योग्य ही है।

आभास — गवां वस्तनां च चिंत्रिमाह गाव इति,

आभासार्थ — गाँव और बछड़ों के चित्र का वर्णन इस ‘गावश्र’ श्लोक से करते हैं।

श्लोकः — गावश्र खसुखनिमात्र वेणुगीतपीयुष्मुत्सितकर्णपुत्रः। तिबन्धः।

शाबाः: स्नुतस्तनपयः कवल: स्म तस्युमात्त्रायेत: श्लोकाः। त्युशार्यतः।

श्लोकार्थ — ऊपर किए हुए कर्ण रूप दोनों से श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वेणुगीत रूपी अमृत का पान करती हुई गाँव तथा स्तनों में रखकर हुए स्तर के कवल के मुख में धारण किए हुए बछड़े अपने नेत्र आँखों से भर जाने के कारण अन्तःकरण में ही श्री गोविन्द का स्पर्श करते हुए स्थित (वहाँ ही खड़े) हो गए।

सुबोधिनी — चक्रादृश गावधिक तथा जाता।

उत्तमाध्यमंयोध्याममिलं निरुपये, अस्माध्यमादलम्मेहः
तत् हि वेणुमात्र आस्त्यतस्तथा कुर्बन्तीतितोष्कां परिहर्नी।
कृष्णमुखेति, कृष्णमुखार्बिगतं यदै वेणुगीतं, ननु।

भगवद्गात्रानां ब्रह्म के कहने से देवों से यादों में ज्ञान लिया था, किन्तु देवों ने योगियों के समान अन्य रूप से ज्ञान लिया है, अतः वे देव उस रूप में वहाँ (स्वर्ग में) हैं।
व्याख्यार्थ — स्लोक में 'च' देकर यह बताया है कि गौरों की भी धरा अपसराओं जैसी हो गई, जो कि अपसराओं उत्तम है और गायें अधिम है, तो भी, दोनों को मध्यम अभिलाषा (सायुज्य रूपी अभिलाषा) का निरुपण करते हैं, यह अभिलाषा कहनी तो, इनके लिए असभ्य सी थी, क्योंकि इनको तो मोह है और ये जो गेवल वेणू में आसक्त है इसलिए यों करती है, इस प्रकार की शान्ता को पियने के लिए ही कहा है, कि श्रीकृष्ण के खुश से निकले हुए वेणुगीत रूप अमृत को पान कर अन्तःकरण में गोविन्द का स्पर्श (आलिंग्न आदि आन्द) पाने से उसमें मन हो, एक स्थान पर ही खड़ी हो गई। यह वेणुगीत भगवान् के खुश से निकला है इसका ज्ञान इनको कैसे हुआ? इस शान्ता का निवारण करने के लिए, मूल श्लोक में 'पीयूष' पद दिया है, जिसका भावार्थ यह है, कि वह गीत जिसको कर्ण पुटें द्वारा गायें पान कर रही है, वह साधरण नहीं था, किन्तु वाणी के अधिपति रूप भगवान् के खुश से निकला हुआ और जो वेणू अन्यों का विस्मारक है उसके द्वारा कर्णपुटों में आया हुआ है तथा यह गीत एकचयादि पद्धुर सामाला है, इस प्रकार सर्व सामग्री से युक्त यह अमृत रूप गीत भगवान् का ही गाया हुआ है, गौरों को यह निक्षेप हो गया था। यदि वह वैंसा न होता, अर्थात् सर्व सामग्री युक्त पूर्ण रूप न होता, तो केवल 'कृष्ण गीत पीयूष' पद कहते। इस गीत के सिवाय अन्य गीत 'अमृत' नहीं है, यह ही अमृत है, इसलिए गायन ने अपने कर्णों को ऊँचा किया है। 'कर्णपुटे': बुधवार देकर यह बताया है, कि प्रतिकृष्ण कर्ण नए बनते हैं 'पुर' शब्द से यह कहा है कि कान इसकीलाई ही है, क्योंकि पुटे दूसरे काम के लिए नहीं 'दोनों में' दूध पिया और उनको फंका जाता है, फिर दूध आदि पीने के लिए दूसरे दोनों लाए जाते हैं, इसी प्रकार ये गाएं भी, इस गीत रूपी अमृत पान के लिए क्षण क्षण में, कर्णों को नवीन बनानी थी। इससे यह भाव निकला, कि यह गीत रस भी, क्षण क्षण में नूनन बन नूनन आनन्द देता है। यहाँ श्लोक में 'शावा:' पद दिया है, जिसका अर्थ बालक होता है। वे बालक हरिपादि अन्य जीवों के अत्यधिक गायनों के ही अत्यधिक गोकुल में जो छोटे बालक थे उनके लिए है। सनाई से उटकता हुआ कवल रूप पाय मुखमें ही रहा, वह भीतर गया, यह निश्चित नहीं है, इसलिए 'स्म' शब्द दिया है। गाएं और बालक
एक ही स्थान पर स्तंभ हो खत्म हो गए; कारण कि, उनके नेत्र आँसुओं से भर गए थे इसलिए गोविन्द भगवान् का उन्हें अनत:करण में ही दर्शन एवं स्पर्श करते थे, जिससे उनके बाहर किसी प्रकार से बदना न होती थी। अनत:करण में केवल भावना से स्पर्श आदि नहीं था, किंतु भगवान् आविर्भूति विराजमान हो गए थे यदि यों न होता तो, अपने साथ भगवान् की तुलना कैसी होती, अर्थात्, बरबरी का स्पर्श कैसा होता। बाहर दर्शन न होने का कारण नेत्रों में आँसुओं का भर जाना था। यहाँ श्रीकृष्ण के लिए ‘गोविन्द’ नाम देने का भाव यह है, कि आप गायों के इद्द है इसलिए उनके दोषों के नाश करने के लिए आप भी हत्या में प्रकट हुए है। ॥ २३ ॥

आभास—पक्षियां श्रवण सुदृढ़भावाजू ज्ञानभावाच्यासम्भावितं मत्वा सम्भावनानिरुपयनूपकमुपपादयन्ति प्राय इति,

आभासार्थ—पक्षियों के लिए वेणुगीत का श्रवण असम्भव है, क्योंकि उनका न सतस्य है और न ज्ञान है, इस श्रवण के निवारण के लिए इस श्लोक में कहते है, कि पक्षी, मुनि रूप होने से, श्रवण कर सकते हैं।

श्लोक:—प्रायो जताम् विहंगा मुनयो वनेसिसिन् कृणोक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आस्था ये दुमभुजान् रंगिस्पर्वालानूसृपवन्ति मीलितदृशः विगतायन्यवचः। ॥ १४॥

श्लोकार्थ—हे माता! इस वन में जो पक्षी है वे बहुधा मुनि हैं, क्योंकि ये पक्षी भगवान् का दर्शन करते करते वाद से आँखों को मीठकर सुंदर कोपल वाली वृक्ष की शाखा रूप भुजाओं पर बैठकर सर्व प्रकार से बोलचाल बन्द कर, भगवान् के सुंदर वेणु के गीत को मुन रहे हैं। ॥ १४ ॥

सुभोधिनी—पता निर्घर्षन् अत एव यशोदा। सह स्नेहसदृशत्रक प्रहृत यथा, यथा गावा धनस्य लक्ष्यान् सइप्रम प्रहृत।
एवमेयोमकरमकार्यानिमृपि, द्वापर गृहासा गुहे परितप्ते राज्य दानार्थ, ता यशोदान् दानंगीपुराविष्कारिका आवेद्युः।
सिद्धविनिरुपण का एता इतिसमये भवेदत: प्राय इत्यादि। प्राय: प्रायेण, ब्रह्म इति खेद वर्यस्मेतादुर्लक्षो योरं प्रायस्व देवत, हरे च वा साधु तेरसिमुग्धा: कृत्तिते, अमीरमिलेतार्थं द्वारार्थ, भक्तस्विभाविवियतिदिर्गंते, आता सांसारिक विहंगा मुनयो एव बहुचेन, ते हि मुनयो मनान्तिता जानन्त्यं भगवानाविभावित्यतैत, अत

एवमेयो वने कृणोक्षणः: कृणार्थमेवं श्रवणः कृणां एव ब्रह्मेण श्रवणः, भक्तस्विप्रमन सतारं तदुदितं कलवेणुगीत: दुमभुजानस्य श्रुतिसत्वां वादं भवतो बुधभुजानो। न श्रुतसतादु: रूपमेव परस्यत: स्थिता यदापुर्वसुतायन्त्र रत्नादभूवं यद्यु नुसतो भक्तवो बुधभुजानो। न श्रुतसतादु: रूपमेव परस्यत: स्थिता।

कत्वर्ते च ते सरसात्मसुधाविद्याति रसायनं वा प्रतिनिधियो भविष्यति नाशकांनु यथोऽक्तानामकां वनेयां वनेयाः।
स्नेहसदुः नादहकार्यं वनेयां वनेयां वनेयामधुस्तः मधुः एव धर: उपात्यांश्व इति, गीतं
वा भगवतुपासऽप्रतिमतः प्रतिपादकं तदा दुःखार्णमतिविश्वेषं
वेदःशास्त्रान्तः दुःखद्विजानासः पननारापांपीयात् भावानां
निरिहन्तः रूपान्तः मनःसनो विधितसऽस्त्राभावाय भावितं
होऽ गतं दुःखार्णमतः पननारापांमात् मीलात्तुद्दौरो जातः
विशंशयं गता अन्यविशंशया बाचो येद्धां।
भावुकस्याजः वामाचा जापानायायायायः
एतत्सार्विन्दितेन ज्ञातं अन्यथा श्रवणकालेचारत्तुत्रत्वावायमात्
सिद्ध हति तदुपस्विन्तार्यायाय मात्र, तथा च सदैवदस्तुपायाः।
हृदिति सापिदं भवति, एतेनाला नादस्यालोकितकर्मं
दूर्भल्यं चोछते, न हि मुनि:नामातः शरीरस्य आसक्तः
सम्भवति, तेषां शरीरात्माभवार्धात्म मात्स्यप्रवालानिति,
पह्लव उत्समः कोमलप्राणापांपीयात्ताः दृष्टि: शुद्धोऽस्त्राय
हेतुमन्त्रः प्रतिलोक्तरः स्यात् मुख्यात्ताः हेतुमन्त्रः तेषां
पश्चान्त्स्याय, कोलाहलः सम्भवति श्रुताभाषणमं
पदार्थनिरुपणं वा।॥ १४।॥

व्याख्या - हे माता! यशोदाजी को प्रेम पूर्वक हे अम्ब! हे माता! कहने वाली ये गोपीयाँ निरुपण है। हे माता कहने से यशोदाजी में अपना प्रेम प्रदर्शित किया है। मनुष्य जिस प्रकार पाएँ, तन्मात्र ध्यान का संघ्र बनाते हैं वैसे (ही) पूरकाल में उत्तम, कन्याओं का भी संग्रह करते थे। पैसा देकर भी कन्याएँ खरीदते थे, वे कन्याएँ इसलिए खरीदते थे, जो राजा को भी शरीर अथवा देनी पड़ती थी। यशोदा के घर की कन्याएँ वा खरीदी हुई वे निरुपण कन्याएँ यशोदाजी को कहती हैं, कि हे माता! ये पक्षी बहुत करके मुनि हैं। ‘बहुत करके’ इस पद कहने का भाव यह है, कि कोई यो कह दे कि ये कोण हैं? जो कहती हैं, कि ये पक्षी मुनि हैं इसलिए ‘बहुत करके’ ये शब्द कहे हैं। ‘वत’ शब्द कहने का भाव यह है, कि हमको दुःख है, कि ‘मुनि’ होकर, ये ‘पक्षी’ कैसे हुए हैं? अथवा 'वत' पद हर्ष का सूचक है, क्योंकि मुनियों ने यहाँ वृद्धावन में इस गीत रस के पान तथा नाद श्रवण के लिए यह पक्षी रूप धारण किया है, वह अच्छा किया है। ‘अम्ब’ यह शब्द कुमारिकाओं ने दया प्रकट करने के लिए कहा है। कितनी टीकाकारों को राय है, कि यह सम्बोधन, यशोदा से भगवान का आविष्कार हुआ है इसलिए वह माता है; तदर्थ ‘अम्ब’ कहा है, अतः इन निरुपण गोपीजन के कहने से ज्ञात होता है, कि ये पक्षी बहुत मुनि होने से मननशील हैं। मनुष्य करने वाले हैं इसी कारण से इन्होंने समझ लिया है, कि ‘यहाँ भगवान प्रकटे” उसके लिए कृष्ण के दर्शनार्थ ही जिसका क्षण है, ऐसे ये भगवान के दर्शन करते हुए, उनके लिए हुए वेणुनाद को वृक्ष रूप भुजाओं पर बैठकर सुनते हैं, जब तब वेणुनाद नहीं सुनते था, तब तब भगवान का दर्शन नहीं करते थे। जब वेणुनाद प्रारम्भ हुआ दोनों कार्य करने लगे, अर्थात नाद भी सुनते थे और दर्शन भी करते थे। जब भगवान दूर पड़ते, तो भी, वहाँ से आप, अन्यत्र नहीं जाते, क्योंकि, अन्यत्र जाने पर वेणुनाद का रस चलाता जाएगा इसलिए वहाँ ही स्थित रहे। यदि किसी को यह श्रद्धा हो, कि यह (वेणुनाद) दूसरे रस को उपास करेगा, तो दूसरे रस के उपास होने से, इस रस में प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस श्रद्धा को मिटाने के लिए कहते है कि यह वेणुनीत, साधारण गीत नहीं है, यह तो यह गीत है जिसमें हुआ सिंह मधुर रस है जो बदलता नहीं है और भगवान से उदित नाद ब्रह्म रूप वेणु भी अव्यक्त मधुर है उस नाद ब्रह्मरूप अव्यक्त मधुर वेणु से, मधुर रस और मधुर गीत ही।
प्रकट होता है, वह उद्वत मधुर गीत परमार्थ को प्रतिपादन करने वाला है। जैसे मुनिगण वेद की शाखाओं का आश्रय करने से निषिद्ध होते हैं, वैसे (ही) ये मुनि रूप पक्षी भी, इन वेदात्मक वृक्ष की भुजा रूप शाखाओं का आश्रय कर रहे हैं, जिससे वे पतन मरणदि भय से निषिद्ध हो, इस प्रकार के वेदात्मक का श्रवण कर रहे हैं। यह अब से किसी भी विषय में न जाए तथा भगवान् के दूर जाने पर, उनके दर्शन न होगे, या त ह: इन मुनि रूप पक्षियों ने अन्तःकरण में मनन और अध्यास करने के लिए आँखें मूढ़ ली है तथा वाणी से भी कोई अन्य विषय (जिससे भगवत्सम्बन्ध न हो वैसा) न बोला जाय इसलिए बोलचाल बन्द कर दी है। पक्षी रूप मुनियों की यह कृति सदैव की है। यदि सुनने के समय बोला जाय तो सुनने में प्रतिबन्ध हो और उसकी उक्ति निर्मल हो हो जाय। अतः पक्षीगण उपर्युक्त प्रकार से (मोहित नेत्र और मूक) हो गए, जिससे यह सिद्ध किया है, कि सदा इस रस को हृदय में अनुभव कर रहे हैं। इससे इस वेदनाद का अस्तिकक्षन तथा दुर्लभ होना बतलाया है। यदि वेदनाद वैसा नहो, तो मुनि रूप पक्षियों की इसमें आसन्नत होती है। उनके इन गुणों से रहित पदार्थ में, आसन्नत नहीं होती है। ‘रूचिर प्रवालानु’ पद का भावान्तकोई टीकाकार यों कहते हैं, कि इन सुन्दर भल्लाओं से इनके शरीर आच्छादित है, अतः इन्हें शरीर आदि का भय नहीं है। ये पतल दुर्धर है इनकी सुन्दरता के कारण हरप्रेरण दृष्टि इनकी देखना चाहाँगी तो भगवद्गर्भ में रूकावट होगी इसलिए नेत्र मूढ़ हो खिलाया हो। नेत्र मूढ़ने में यह भी एक कारण है तथा मुख के मूढ़ने में भी एक प्रकार से ये पतल भी कारण है क्योंकि मुख खुला होगा तो इनके भक्ति का सम्भव होगा, इसके सिवाय मुख के मूढ़ने का और यह भी कारण है कि यदि मुख खुला रखेंगे तो पक्षी स्वभाव से, शब्द निकल जाएगे कोलाहल होगा अथवा आपस में बोलचाल करने लगेंगे। ॥ १४ ॥

आपासां - भगवद्गुणनादेन नदादिकु जातमाह नदयस्तेदित,

आपासार्थाः - भगवान् के वेदनाद से दोषों में जो कुछ हुआ उसका वर्ण ‘नदयस्तेदा’ श्लोक से कहते हैं।

श्लोकः - नदयस्तेदा तदुप्याध्यय्य मुकुन्दगीतभव्यावर्तलक्षितियात्रनोभवभगवन्वेगः।
    आलिङ्गस्थितमृङ्गस्मिनश्रिवृक्षेरोगृह्यान्ति पादयुग्मलं कमलोपहराः।। १५ ॥

श्लोकार्थः - उस समय नदियों भी मुकुन्द भगवान् के गीत का श्रवण कर काम के उद्दीपन से नष्ट वेग वाली हो गई, जिससे उनमें होने वाले पानी के धंधे स्थिर हो गए। कमल रूपी उपहार को ली हुई वे (नदियों) आलिङ्ग के लिए भगवान् के दोनों
चरण जब स्थिर हो गए, तब अपनी ऋषिया रूप भुजाओं से उनको ग्रहण करती है।

\[15\]

यदि मुनि यह भगवान् ने मुनियों के ऊपर अनुभाव दिया है, तब निदयों ने समझ कि वह भी इस प्रकार कृतार्थ हो जाएँगी जो जान कर और मुनियों के ज्ञानपदेश का निध्य कर, मोक्ष देने वाले का वह प्रसिद्ध गीत सुन कर, जल के भ्रमण (भूमि) अथवा मूर्चा से प्रतीत होने वाला, यह उद्वेग काम, जिसके निदयों का वेग बन्द कर दिया है जो वेग स्वाभाविक है तो भी इससे (काम से) वह (वेग) बन्द हो गया, जिससे निदयों स्थब्ध हो गई है, तिन्तु यहाँ यह 'मनोभव' विवेक वाला\(^*\) है (अपसराओं के समान अभिवेक वाला नहीं है) चेतन प्राणियों को तो भगवान् से सम्बन्ध होने की इच्छा हो यह युक्त है अर्थात् वेबा बन सकता है, किन्तु यहाँ वह भ्रमार्थ अचेतन भ्राणियों में भी उत्पन्न हुई है यह यहाँ विशेषता है। निदयों का वेग रक्म गया, अर्थात् निदयों स्थगित हो गई यह स्थिर होना आस्थित का कारण नहीं है। क्योंकि, स्थिरता तो औपचारिक आदि से भी हो सकती है, किन्तु यहाँ की स्थिरता औपचारिक से नहीं हुई है इसकी स्थिरता में भगवान् से मिलने की इच्छा कारण है, अतः इनकी आस्थित का कारण भी भगवान् से मिलना है, अतः आलिङ्ग\(^*\) के लिए स्थिर भगवान् के चरणयुगल कमल रूप बेहतर करती हुई निदयों उनको (चरण

\[\text{स्मृति:} \text{चरणयुगल कृतार्थ: पादसुगल कमलयोपहारः} \text{सत्य अयुत्सयुपर्वेनुष्ठानः} \text{स्वह्यकर्मलं भ्रमच्छाणालिङ्गिते} \text{लवल तत्स्वयं गुह्यसिद्धि} \text{नन्दिनामिवे देवतातव्यः} \text{सह नाना लीला भवन्त्वत्यं आलिङ्गिन्यमेव स्थितिः} \text{स्वयमानान्तुरुपां भवन्त्वमृदुलान्तुरुपां} \text{विवादापुपस्वारापीविवादाविश्व चरणसम्बन्धते नदीगतामिविश्वास नाशित्वतिः} \text{।।१५।।}

\*\text{राम में नदी एक ही श्री यमुनाजी है, फिर 'नदा:' निदयों बहुवचन कहा दिया है इसका आशय यह न के केवल श्री यमुनाजी का वेग नहीं रक्म गया था। किन्तु इससे आदि भी स्थब्ध हो गई थे इसलिए 'नदा:' बहुवचन देना यह बताता है कि नदी, सरोवर, इससे आदि को भी ऐसी दशा हो गई थी।}

\*\text{यदि विवेकवाला मनोभव न होता तो निदयों भी अपसराओं के समान मिल नहीं सकती थी किन्तु वे भगवान् के समीप आ सकी।}

\[1-तत्त्व। 2-स्थिर। 3-मिलन।\]
युगल को) अपनी जर्म रूप भुजाओं से ग्रहण करती है। अपना हदय रूपी कमल भगवान के चरणारूढ़ में अर्पण कर वह (चरणारूढ़) स्वयं ग्रहण करती है। अर्थात् हदय अर्पण कर, उनमें चरणों को स्थापित करती है। नदियों भी देवता है उनसे अन्य प्रकार की लोला नहीं हो सकती है, इसलिए मिलने के लिए भगवान ने स्थिति की है, यो स्थिति होने का कारण यह है, कि आप, दूसरे दृष्टिकोण, जो जल में धारा रूप अविष्कार है, उसका श्रेय (प्रभाव कर्ता) है। इसलिए नदी से चरण साक्ष्य करके, नदी की अविष्कार का नाश किया। इसलिए मूल स्लोक में, भगवान का दूसरा नाम मुरारि कहा है, ‘मुकुन्द’ नाम से पुष्टि मार्गीय मोक्ष दाता बताया है।

आभास — मेघामाहुर्दृष्ट्येविन्ति,

आभासार्थ — इस ‘दूष्ट्वात्ये’ स्लोक में मेघों की दशा तथा उनके कार्य का वर्णन करते हैं

स्लोक:— दूष्ट्वात्ये व्रजपश्चुन सह रामगोपायः सञ्चार्यनमनवेणुमुदिर्यनम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमालविलिभः सर्ज्युर्व्यधातू स्वपुष्पाकुबुद्ध आतपत्रः।

प्रश्लोकार्थ — धूप में बलरामजी और ग्वाल साराको के साथ व्रज के पशुओं को चराते हुए एवं वेणुपीत गाते हुए अपने मित्र श्रीकृष्ण का दर्शन कर प्रेम से प्रवृद्ध हुए। मेघ ने अपने शरीर से उन पर छाया की तथा पृष्ठों की (बूढ़ रूप पुष्पों की) वर्षा की।

सुश्रूषाधिनी — आत्मस्वयं सार्तकालसभिषिताः व्रजपश्चुन सर्वदायायाभासबुल्लकान सर्वदा रामका गोपा अधिकों संख्यको राम एवं: सहायतेनार्थ सञ्चार्यन सर्वसागरसहितं देवता देवसहितं धर्मसहितं तदनु वेणुपुस्तिकार्यसहितं सर्वेचारसहितासुमुदिताः सर्वेचारसहिताः कुसुमालविलिभः समस्थिक्षिताः कुसुमालविलिभः।

कुसुमालविलिभः सूतहवाणकीकाधिकार्यम् “मेघपुष्प धनस” इतिकोशाद, पुरवान सस्यपर्यंत भवित: कुलेदानीमात्मनिवेदनं कूल्यान, प्रेमप्रवृद्ध: श्रवणमार्थ सस्यपर्वं पर्वं पर्वं पर्वं विशेषाधिकार्यम्। सर्वाधिकार्यम् कुलेदानीमात्मनिवेदनं कूल्यान धनस देवहवाणकीकाधिकार्यम्।
व्याख्यार्थ — जो पशु सदा छाया में रहने के अभ्यासी है, जिनके रक्षक गोप है तथा जिनमें प्रेम बढ़ाने वाले राम हैं, इन गोप और भगवान के साथ आप अथवा इन (गोपों) के द्वारा: शरदः क्रोधु वाली धूप में ब्रज के पशुओं को सर्व सामग्री (देवता, वेद और धर्म) सहित चरते हुए और वेणु बजाकर सर्व के आधिकारिकों को उद्दीपन करते हुए, सर्व आशीर्वाद इस आप उनसे ब्रज चरते हैं, उस समय धूप के कारण, छाया अवशय चाहिए, यह समझकर, जिस में भगवान् में स्नेह होने से, सख्त भाव की भक्ति सिद्ध कर ली है, उस में आप विशेष प्रकार से, बढ़े हुए शरीर को अपने मित्र पर छाया बना लिया, इस शरीर के मूल पाठ में ‘प्रेम प्रवृत्त उदित:’ और ‘प्रेम प्रवृत्त मुदित’ इस प्रकार दो भेद हैं, ‘प्रेम प्रवृत्त उदित’ का भावार्थ उपर दे दिया है, अर्थात् ‘प्रेम प्रवृत्त मुदित’ पाठ से इस प्रकार आचार्य श्री नेत्रो ता अर्थ बताए हैं - 1 - प्रेम से बढ़ा हुआ तथा आनन्द को प्राप्त हुआ मेघ, 2 - ज्यों ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे (ही) आप (मेघ) बढ़ता है ऐसे मेघ ने मित्र पर छाया करने के लिए छाया रूप धारण किया। मेघ ने यहाँ तक तो सख्त भक्ति की थी, इससे आप बढ़ कर अब आत्म नित्यन्दन करने लगा है, जैसे कि अपने सूक्ष्म क्रिया रूप पुष्प प्रभु की अर्पण कर आत्मनित्यन्दन किया है। धन रस (बादलों के सूक्ष्म कण) को कोष में, मेघ पुष्प कहा गया है, अतः मूल शरीर में ‘कुसमावलीबिः’ कहा है। मेघ प्रेम से बढ़ा इसका भावार्थ यह है कि मेघ श्रवण भक्ति से लेकर सख्त भक्ति तक बढ़ गया, अथवा स्नेह के कारण स्थूल हो गया। बादल काम रूपी होते हैं, अतः अपनी इच्छुनिरुप रूप बना सकते हैं। चालू प्रसाध में भगवान् में स्नेह होने के कारण, अपना वैसा इच्छित रूप बनाया, जिससे सब के (भगवान् गोप गो आदि के) ऊपर छाया हो सके। ऐसे रूप बनाने और छाया रूप बनने में, मेघ को भी कहा हुआ होगा तो कह यदि कार्य मेघ ने यह किया? इस शाक्त को मिटाने के लिए ‘मुदित:’ पद दिया है जिसका भावार्थ यह है कि उस (मेघ) को कह तो नहीं हुआ, किन्तु इससे आनन्द ही हुआ। जन्म से लेकर जो भक्ति से बढ़ता रहता है वह अन्त में आत्मनित्यन्दन कर ही देता है।
कितने ही टीकाकार कहते हैं, कि मैं भगवानों में से मित्र इसीलिए हुई है, कि मैं भगवानों से तीन गुण, (लोकोपकार करना, नीति वर्ण, जीवन) है, अतः समान शीतल गुण वालों में मित्र होते ही है। मैं ने अपने रस मय सूक्ष्म कण रूप पुरुषों द्वारा अपना सर्वस्व भगवानों को अर्पण कर दिया, जिससे यह बताया, कि भगवानों साक्षात् लक्ष्मीजी से क्रीड़ा कर रहे हैं इसी कारण से आगे पुलिन्दियों की स्थिति की जानकी (गोपीजन भीलिनियों की प्रशंसा) करेंगी।

भगवानों ने, गोपों से गौ चराई, बलभद्र से रक्षा कराई, वेशुनाद से प्रबोधन कराई, इसके अन्तर समय किया, शेष के समान, मैं भी जो मित्र हूँ, उसको भी ऐसे समय में छाया करनी योग्य ही है। ॥ १६ ॥

आभास - वनवसिश्चुद्घजातीया: पुलिन्दास्तेर्षा पत्यः पुलिन्दः

आभासार्थ - इस 'पुरुषा: पुलिन्दः' शब्द से कहते हैं कि वन में रहने वाले शुद्ध जाति वाले भील तथा उनकी सियाँ में भी भगवानों की समानता के कारण भक्ति उत्पन्न हुई।

शलोकः - पूर्णा: पुलिन्दः उसायपदाब्जराग्रीवकुक्कुत्वेन द्वितीस्तनमणिण्डेन।
तद्वर्षानिसर्जरुस्तुण्रस्यितेन लिम्पत्य आनन्दकुचेषु जहुस्तदाधिकृ। ॥ १७ ॥

शलोकार्थ - भगवान के केवल दर्शन ही काम से व्यक्त हुई पुलिन्दियों (भीलों की सियां) ने लक्ष्मीजी के स्तनों के आभरण रूप कुकुकुम भगवानों के चरण कमलों द्वारा तृणों पर लगा हुआ था उसको अपने मुख और स्तनों पर लेप करने से अपनी आधि (काम से उत्पन्न दुःख) को दूर किया अतः वे पुलिन्दियों पूर्ण हैं। ॥ १७ ॥

शुबोधिनी - भगवानेकोटवाल तासारणि भक्तिरत्नायाह पूर्णा: इति, सवानेव पेश्या पुलिन्द: एव पूर्णा:। तसाना साक्षात्कर्षरंगलिन्दास्वरक्षस्मान्ते ब्याप्तन हि, उपशिवर्गत इत्युत्साहो भगवान यथः प्रसादस्तम्य पदावर्ग चरणार्चने तत थियो र्गसतसृजिता श्रीः। महत्ता विचारण भिलभगवतन च, तवच्छर्णार्विद्वेष्ट या लक्ष्मीस्तम्य यत् कुकुकुम त्येभ निष्णादित दिब्य कुकुकुम, अर्थात् त्येभ तवच्छर्णार्विद्वेष्ट दर्शतं ततु पुनर्विदितस्मे लक्ष्मा एव दर्शनाया सदापुरुषेन प्रिया: सतन्योमणिण्डेन तथा वा स्वेहादि स्थापितं, अथ वा लक्ष्मी दत्तात्रेष्विद्वेष्कोपः शक्तिपुर श्रेणे भुवन कृत्या कुकुकुममेव मकालकप्रबंड रूपिणं तदा तवु कुकुकुमातिहार तृणं भगवदस्तरिशतं भूमिः पतितं, तृणोषु वा रूपिणं संलानं चरणार्चनेतुवा, तादृशाः ॥
स्तंभादिक जहाजसता: पूर्ण:। इत्यमौलिको ह्यमतत्वा।
उदाहरण वर्णनात्त तात्त्विको भगवानु पुरुष इता लक्ष्यते। एतद्
वनामने भवतीत्वामांक तदमाध्यदिशित्विमिति कामस्तु वस्तुते
मन:मेरावृपु: ॥ १७ ॥

व्याख्या: सर्व की अपेक्षा पुलिलिदियाँ ही पूर्ण हैं (भाग्यशाली हैं) क्योंकि उनको सदैव
साक्षात् भगवानु के चरण कमलों की रज का सम्बन्ध है। सर्व प्रमाणों से सिद्ध और सकल
गुणों से परिपूर्ण, जिनके गुणों का बहुत हक्कत गान करते हैं, वैसे सुरूहाय भगवानु के युगल चरण
कमलातुगनी लक्ष्मीजी ने जिनका महानु विचार के अनतर वरण किया है। भगवानु के
चरणार्धिन की लक्ष्मीजी ने दिया कुकुम तिष्क नर, भगवानु के चरणार्धिन में अर्पण किया।
वह ही कुकुम पुनः रसदान के समय जब विषेश हुआ तब लक्ष्मीजी के स्तनों पर सुशोभित
किया गया (होने लगा) अथवा उस (लक्ष्मीजी) ने ही अपने हस्त में स्थापितः किया। अथवा
श्री लक्ष्मीजी ने वह तुकुम आर्तियाविंक शक्तियों के स्तनों पर अलंकृत किया। उनसे वह
(तुकुम) भगवानु के चरणार्धिनों में आया। (लगा) अथवा तुणों के कारण वह तुकुम मकरः
के समान आकृति बाला हो गया और वे तुण भगवानु के हाथ में आ गए, किन्तु हाथ से भूमि
पर गिर गए। अथवा भगवानु के चरणार्धिन में लगा हुआ तुकुम पृथिवी पर पदार्पण के समय
तुणों को लग गया।

वैसे तुकुम को देखकर अथवा लक्ष्मीजी की शक्तियों से भगवानु का किया हुआ भोग देख
कर जब पुलिलिदियों विशेष काम पीड़ा होने लगी, तब उस काम से उत्पन्न पीड़ा को मिटाने
के लिए उन्होंने लघु उस तुकुम को अपने मुख तथा स्तनों पर लेप कर दिया।

उस लेप करने से इन (पुलिलिदियों)के काम पीड़ा इसलिए निवृत्त हो गई, जो इस लेप से
पुलिलिदियों में लक्ष्मी का आवेश आ गया जिससे वे, भगवानु के उपभोग की पात्र हो गई। अतः
भगवानु से उनका काम शान्त हो गया और उससे उद्धृत पीड़ा भी नष्ट हो गई। इसलिए वे
पुलिलिदियां पूर्ण हैं। यह भगवानु का चरित्र अलोकिक है। भगवानु का नाम ‘उदाहर’ देने का
यह भी ‘पराधों भी भगवानु का आवेश किया है। यह सब ‘वन’ में रहने दे होता है,
गौरियों कहती हैं, कि वह तो हम लोगों में है नहीं इसलिए हम अपूर्ण हैं। ‘काम’ वो वास्तविक
मन की पीड़ा (आधि) रूप है। वह आधि’ उपभोग से शान्त हो गई, जैसे अन्त के भोजन से
भूख की निवृत्ति होती है। ॥ १७ ॥

- प्रकट-सामने । २ - तयार । ३ - लगाया एवं दिया । ४ - धारण ।
५ - भूषण को भारी लगाया । ६ - मगर मच्छ ।
आभास — निगुणा आहूईनेति,
आभासार्थ — 'हन्तायमदिरिष्कला' यह श्लोक निगुण गोपीजन कहती है।

श्लोक: — हन्तायमदिरिष्कला हरिदासवर्यें यदू रामकृष्णाचरणस्पर्श्यूपरमोऽदः
मां तनोति सहगोणणायोऽयोऽयतृ पानीयसूचवसंकन्दकन्दकमूले: || १८ ||

श्लोकार्थ — गोपीजन अन्य गोपीजन को कहती है कि हम अबलाएँ हैं। अतः हे अबलाओ ! खेद है, कि जैसे राम कृष्ण के चरणार्थन के स्पर्श से यह गिरिजाआनन्दित हुआ है वैसे हम नहीं हुई है, यह गिरिजा गौ गण सहित श्रीराम कृष्ण का जल, घास, कन्दरा कन्द मूल आदि से सत्कार कर रहा है, इसलिए भगवद्गुरुमें श्रेष्ठ है। || १८ ||

सुखोधिणी - कथा पुलिन्द्र एताकृत्यो जाता इत्याशा वर्धितमस्य भगवद्गुरुस्माध्यममाहूईनेति तथात्वं जातमिति गोवर्धनस्य। अभयार्थन स्वाल्लभावत्वः ।

व्याख्यार्थ — पुलिन्द्रियाँ वैसी (पूर्ण) कैसे हो गईं? इस श्लोक के उत्तर में कहती है कि ये भगवद्गुरु (गोवर्धन) के साथ सहाय होते से वैसी हुई हैं। यह कहकर अनन्त, गोवर्धन का भगवद्गुरुद्वेद सिद्ध करती हैं, और 'हन्त' इस पद से अपने लिए दुःख प्रकट करती हुई कहती हैं, कि यदि हम भी गोवर्धन पर हठी तो हमारी आधि निवृत्त हो जाती किन्तु वैसा न होने से, हम अपूर्ण ही रह गई हैं। अतः खेद है। श्रेष्ठ भगवद्गुरु वह होता है जिसको 'भगवानु' के चरणार्थविन्द के स्पर्श से अत्यन्त मोर्दः

१ - काम-पीड़ा
होता है, अतः यह गोवर्धन हरिदासों (भगवान के दासों) में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसको रामकृष्ण के चरणार्थनित के स्पर्श होते ही प्रकृति मोदः हुआ है, और यह (गोवर्धन) सांतिकर्मः अथवा गुणातीत है, कारण कि निर्धन होते हुए भी गौ और देव रूप बलक (गोप) समेत इन दोनों (राम कृष्ण) का आतिथ्य सत्कार कर रहा है, निर्धन है तो फिर आतिथ्य सत्कार कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं जैसे शास्त्र में कहा है कि ‘तुरुणानि भूमि रूपं च चुरुण्यं च सूर्यता। एतान्यां सातं गेहे नोचिछ्यते कदाचन’ भक्तों के यहाँ चार पदार्थ बैठाने के लिए १ - तुरुणासन, २ - भूमि, ३ - पिलाने के लिए जल, ४ - मन प्रसार करने के लिए मधुर वाणी तथा चार पदार्थ भक्तों के पर से कभी भी नष्ट नहीं होते है चाहे अन्य पदार्थ सभी चले जाएं। इस प्रकार गोवर्धनजी के यहाँ भी चार पदार्थ विद्यमान थे जिनसे उनसे आतिथ्य किया, वे चार पदार्थ ये हैं जल, सुन्दर चास, कन्दर और कन्द मूल। इन चारों से इस (निम्न) प्रकार आतिथ्य सत्कार किया, जल से सब की तृषा निर्वृत्ति, अन्य सुन्दर चास से गौद्रों को भोजन कराया और अन्यों का छिछिला बनाया, कन्दर में बिज़कर उस समय पड़ रही वर्षा से रक्षा की कन्द तथा मूल से रामकृष्ण तथा बलकों की भोजन कराया। कन्द भूज कर खाए जाते हैं और मूल बिना भूजें भी खानें में आते हैं। कन्द और मूल में भिड़ भिड़ रहे हैं अतः कंद, अन्न के स्थान पर दिए गए और मूल, व्यंजन के स्वरुप में दिये गए बहुवचन देकर यह कहा है, कि इनके भी अनेक भेद होते हैं सारांश यह है, कि गोवर्धन ने निर्धन होते हुए भी श्राकारुन्सक प्रेम पुरावक अपना दास धर्म पालन किया है। क्योंकि भक्तों में सत्त्व विशेषता होता है, जिससे वे उस सत्त्वाभाव से सबी दशा में सत्त्व रहते हैं। गोपीजन के अपने को ‘अबला’ कह कर यह बताया है कि हम वहाँ (गोवर्धन के पास) जाने में असमर्थ हैं। इससे उन्होंने अपना चिन्तन वा गुस्सा भी दिखाय तथा यह कहा है, कि हम अपूर्ण है यह कहना योग्य ही है। जाना जाता है कि ये पुलिन्दियों वे ही हैं, जिनका वर्णन पहले किया गया है इसलिए पर्वत की प्रेमन से वे कन्द मूल लाते हैं। ॥ १८ ॥

आभाष - नन्द तथापि वयं सजातीया योग्यास्ता विहाय तस्मिन्सतासु च कथं कृपेत्याशास्त्रक्याहुर्गा गोपकैरिति,

आभाषार्थ - इस निम्न ‘गा गोपके’ श्लोक से जब हम सजातीय हैं वे विजातीय हैं तब हमको छोड़कर गिरिजा तथा उन पर कृपा क्यों ? इस श्लोक की निर्वृत्ति की गई है।

श्लोक: - गा गोपकैरुचनः नयतोद्वारावेनेक्ष्मवने: कलपदेश्तुन्भृत्तु सख्यः। अस्यन्दन गतिमतां पुलकस्तर्क्षणं नियोगपशकृतलक्षणयोविचित्रम् ॥ १९ ॥

१ - हर्ष-खुशी। २ - अत्यन्त। ३ - आग्रह। ४ - सहानुभूति। ५ - बदले में।
श्लोकार्थः — हे सखियों! गोप बालकों के साथ एक वन से दूसरे वन में गौओं को ले जाते हुए, तथा निर्याग तथा पाण्डों के चिन्ह से विभूषित उन दोनों के उदार, वेणु के नादों से और अव्यक्तं चर पदार्थं में सकारात्मक डालना अर्थात स्थिरता कर देना, और अचरं रोमाञ्च उत्पन्न करना, इत्यादि से यह देहाथारियों में विलक्षणता दिखाती है। ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः — भगवान् के चरित्र की गति लोक से विपरीत होती है, यद्यपि भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते हैं तो भी उनके (भगवान्) के साथ मात्र से ही चरं प्राणियों में जड़ता आ जाती है अर्थात् जो चेतन होने से चलते रहते हैं वे जड़ की तरह स्थिर हो जाते हैं, अर्थात् चल नहीं सकते हैं तब जाते हैं, और जो जड़ होने से क्रिया हीन है उनमें चेतनता हो जाती है जैसे कि नदियों का लेड रुक गया और वृक्षों में रोमाञ्च होने लगा। इसी प्रकार हम (गोपियाँ) जो रस लेने के योग्य थीं, वे तो अयोग्य हो गईं, जिससे हमको उस रस की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु जो पुलिन्दियाँ अयोग्य थीं, वे योग्य बन गईं जिससे रस प्राप्त होने के कारण उनकी आधि नष्ट हो गई। इस प्रकार की विपरीतता होने के तीन कारण हैं, १ — कारण यह है कि भगवान् गोप बालकों के साथ गौओं को एक वन से दूसरे वन में ले जाते हैं, २ — वेणु के स्वरों की स्थिरता से, ३ — मधुर अव्यक्त पद अर्थात अस्फूत श्री चरण। इन तीनों कारणों से सब वनों की शुद्धि हुई, जिससे वन दोष रहित हो गए हैं। सारांश यह है कि भगवान् बंधी बजाते हुए गोपों के साथ गौओं को चराते हुए प्रत्येक वन में घूमते हैं, तब गौओं का, गोपों का, भगवान् के चरणों तथा वेणु के स्वरों का वनों से सम्बन्ध होता है, जिससे वे वन निर्दोष हो जाते हैं और इनके धर्म तथा इनकी शुद्धि वनों में प्रवेश करती हैं। चर प्राणी, गौओं में क्रिया की निवृत्ति।
हुई, जिससे वे स्थिर हो गए इन (गौरों) के समबन्ध से, वन भी अपनी क्रिया (स्थिता) से निवृत्त हो गए, जिससे उनमें रोमाञ्च उत्पन्न होने लगे अर्थात् चेतनाओं में जड़ता आ गई और जड़ों में चेतना आ गई। इस प्रकार जब स्वभाव पर विजय होती है, तब रस की प्रासंगिकता होती है। गोप जो रसिकः है उनका धर्म (रसिकत्व) जब वनों में प्रविष्ट हुआ तब वन भी (रसिक) हो गए। अनन्तर उदार, जो वेणु के रचन, अथवा वेणु, उनके भोग से बाकी रही हुई, सुधा (रस) वे (वन) भोगते हैं (रस को लेते हैं) इसलिए उनको रोमाञ्च होना योग्य ही है।

जो गति वाली चेतना गौ है, वे जब देखती हैं, कि भगवान् दोहने के लिए आए हैं, तब मन (प्रसन्नता) से अपना अमृत (दृष्ट) देने के लिए वहाँ उस समय किसी प्रकार चिंतन न हो, तदर्थ कुछ नहीं बोलती है, चुपचाप खड़ी रहती है, न केवल मौन रहती है, किंतु कुछ शब्द मात्र भी न हो जाए इसलिए एक ही स्थान पर खड़ी रहती है। इसी कारण से, भगवान् भी धीरे धीरे पश्चात् करते हैं, जिससे आपके शरीर भी अव्यक्त तथा मधुर दिखते हैं, धीरे धीरे चलने का कारण दोहने का समय है, अर्थात् दोहने के समय, किसी प्रकार की ध्वनि न होकर, शांति होनी चाहिए शांति में ही अमृत की प्रासंगिकता होती है। हे सरया! इस सम्भोगन से यह बताया है कि, वहाँ जाकर जो गोपीजन भगवान् के उस समय की लीला का दर्शन कर आई थी उनकी इस विषय में सम्मान है, अतः जड़ और चेतना प्राणियों में विचित्रता दिखाई गई है।

जिन (रसिकों) से गौ के साथे बच्चे का योगः होता है उनके 'नियोगपात' कहते हैं वह नियोगपात भगवान् के हाथ में है, जिनसे भगवान् चेतन (गौरों) को बान्धते हैं, यह देखकर सब जड़ने डरते लगे कि हमको भी बाँधिए। व्यक्तियों से तो भय के कारण स्वतः (बान्धने के बिना ही) ही मधु धारा बहने लग गई।

आभास — उपसंहर्ष्येवविधेः इति,

आभासार्थ — निम्न 'एवं विधा' श्लोक से श्री शुकदेवजी इस 'प्रमेय प्रकरण' का उपसंहार करते हैं।

श्लोक: — एवंविधा भगवतो या वृद्धावनचारिणः।
वर्णयन्त्रयो मिथो गोप्य: क्रीडास्तमयतां ययुः।

— २० —

---

१ — रसबाले अथवा रस को जानने वाले। २ — मिलाप का बन्धन। ३ — चेतन प्राणी।
४ — दृष्टों। ५ — समासी।
श्लोकार्थ – वृद्धि में स्वच्छन्द विहार करने वाले भगवान् की इस प्रकार की क्रीड़ा का पर्स्पर गान करती हुई गोपीजन तनमय बन गई। ॥ २० ॥

श्लोकार्थ – श्री सुबोधिनी का अनुमेक्प्रकार उद्धव एवंविधा: कोटिश: सत्नी लीलाः, तत हेतुभरगत इति, गुणानां भवताक निम्नवणेव कोटिश: प्रसतान् भवति, किम् मर्यादाय परिपति अष्टि भवति या पुनर्वन्दनचार्या: स्वेच्छागतत्ति मे भगवानोऽव मर्यादाभवावादसहस्रायताः एव, अत् एवं वर्णयन्त्रो गोप्यसत्तमवताः यथ: क्रीडामय एव जात जागृतत्वपेशु क्रीडामेव पश्चात् आसक्तिमुखन्यवेन, बनुतिति न पुनर्लेख्या संसरोऽसमागमनम्।

व्याख्यार्थ – श्री शुक्लदेवजी उपसंहार करते हुए कहते हैं कि, यहाँ तो अब लीला का एक ही प्रकार कहां है, यो तो छड़ ऐश्वर्यादि गुणों वाले धर्मी स्वरूप भगवान् की वैसी कोटिश: लीलाएँ है, और मर्यादा मार्ग में तो लीलाओं की सीमा हो सकती है, किन्तु स्वच्छन्द गति वाले वृद्धि विहारी भगवान् में, किसी प्रकार मर्यादा न होने से, उनकी अगणित लीलाएँ हैं। इसीलिए श्लोक में कहा है, कि ‘वर्णयन्त्रो मिथियो गोप्य: क्रीडासत्तमताः यथ:,’ वे गोपीजन इन लीलाओं का पर्स्पर वर्णन करती हुई तनमय हो सकते हैं। वर्णन करती हुई जागृत अवस्था में तथा स्वच्छन्द अवस्था में ‘आसक्ति भ्रम न्याय से* क्रीडाओं का ही दर्शन करती थीं जिससे उनमें ऐसी लीला हो गई जैसे उनसे फिर बाहर न निकल सकी अर्थात् पुनः संसर में जन्मी नहीं।

एवं सत्यार्थमेयो निर्यो निरूपित: पद्धपंवाविदानिष्ठपुर्वककन्तर्भर्गात्प्रातिरूपः। ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवत्तमुबोधिनियां श्रीमद्भद्धशक्तिविध्यविचार्यां दशमस्कर्षविवरणेऽश्रादशाध्यायिविवरणम्।

इस प्रकार मध्यम निरोध वाला यह प्रमेय प्रकरण सत्त अथायों से पूर्ण किया है जिससे अविद्यानिवृत्त पूर्वक अन्तःकरण में भवगत्वृत्र प्राप्त रूप निरोध का वर्णन है। ॥ २० ॥

*‘आसक्ति भ्रम न्याय’ का तात्पर्य यह है कि जिसको जिस पदर्थ ने ‘आसक्ति’ लगाि होती है उसको दिन रत अर्थात् जागते सोटे वही पदर्थ याद आता है एवं दिखता है जिससे वह आसक्ति बाला उस पदर्थ का रूप बन जाता है अतः गोपीजन का मन भी भगवान् में तथा उनकी लीलाओं में आसक्ति हो गया था, जिससे उनको दिन रत भगवान् तथा उनकी लीलाओं के बिना कुछ भी न याद आता था न निकुल दिखता था, बस भगवान् और उनकी लीलाओं के दर्शन तथा वर्णन में ही वे लोग मन रहती थी जिससे वे तनमय बन गई।

१ – लीला रूप। २ – लीलाओं। ३ – मन फैस जाता है। ४ – फैस गया।
तामस प्रमेय प्रकरण सम्पूर्णम्

इति श्रीमद्भाग्वतम् महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वाध्याय के १८वें अध्याय की श्रीमद्भाष्यन्तर चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रमेय अवांतर प्रकरण के 'धर्मी' निरूपण सातवें अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग-सारंग

बेनु खोयो कर गोविंद गुन निधान ।
जाति हुति वन काज सखिनि संग रही उगी सुनत कान ।
मोहत सहज सकल मूर्ख खग पसु बहु निधि सतक सुर बंधान ।
'चतुभुज' दास गिरिघर तनु मनु चौरि लियो करि मधुर गान ॥

राग-केदारे

मधुर मोहन मुख हि मुरली बाजे ।
मनुदि, तितु, रूपा, नै समपु-ललू नगरी—
राग केदारे, चर्ची ताल साजे ॥
सस सुर-रेड बंधान तुम नांद लै
कल्य गुन-गान मिलि, तुम हित काजे ।
'छीत-स्वामी' नवलल गिरिघर को
वेग मिलि भेटि, ममथ-दाह दाजे ॥

राग-गौरी

चंचल चारु कमल-दल-नैन ।
अद्धुत अधरिवब कर मुरली तान सवन कृत ऐन ॥
ललित त्रिमंगल त्रिलोकी-मोहन भू विलास जीते मैन ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिघर देखत ब्रज बनौक सुख चैन ॥